

m-36

51

265
291.5

विशेष्यान्वयी विशेष्यान्वयी त्रिजान्वयी च पूर्वकार्थः तत्रान्वयो गच्छवहे
दको विशेष्यान्वयी यथापार्थव्युत्पन्नः पार्थसद्विशेषान्वयो पुनर्पदस्य विशेषित्वा
र्थवद्विशेषपुनर्पदस्य विशेष्यो गच्छवहेदको विशेष्यान्वयी यथाप्रोक्तः केनैव
हेतुना भावाः प्रोक्ते कदाचित्तास्मिन्निभावः अस्मिन्नाथो गच्छवहेदकः त्रिजान्वयी यथा
दृष्टाः सर्वत्र संसेवयत्र क्रतुश्च न स मुदा ये दृष्टानामप्यल्पवद्वेदकः स भावनास्येव न दृष्टा
नामन्तनाभाव इति भावः ॥ विशेष्यगुणवादः स्यादर्थवादेव पात्रिनेभ्यसाथवाद्दृष्टि
यानादर्थवाद इति भासतेः १ यथा हि तेषामाणवैक्यमिति अनुमितिर्हि सत्यमेव ज्ञप्तिरिति
संवेपयन्नदवाभस्या इति

॥ श्रीः ॥
मनुस्मृतिः ।

श्रीमत्कुल्लूकभट्टविरचितमन्वर्थमुक्तावल्यानुकूलवे-
रीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्त-
शास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकया भाषा-
भूषितया टीकया समेता ।

सुमेरुपुरनिवास्यावसथियाज्युपाह्वश्रीपण्डितहरिवंशशर्मणा
संशोधिता ।

इयं च

मुम्बय्याख्यराजधान्याम्

गौडवंशोद्भवभगीरथात्मजहरिप्रसादोपनामकेन
निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालये मुद्रयित्वा
प्राकाश्यं नीता ।

सन १८६७ का आक्ट २५ प्रमाणें सरकारमे रजिस्टर करके इस
पुस्तकका हक हरिप्रसाद भगीरथजीनें आपना रखाहै.

शकाब्दाः १८११ सनाब्दाः १८९० संवत् १९४६.

श्रीः उपोद्धात कहते हैं.

परम आनंदरूप लक्ष्मीजीको आनंद देनेवाला मनुष्योंको मान देताहुआ ऐसा ईश्वर मनुजीकेद्वारा आनंद देनेवाले धर्मको कहताभया ?

यहां निश्चय भीमांसा—वेद—पुराण—व्याकरण—न्याय—योग—सांख्य—वेदांत आदि दर्शन-शास्त्र मनुष्योंको इसलोकमें और परलोकमें सुख देनेवाले कर्मके बोधक है तिन्होंके बीच-में स्वायंभुव मनुजीकरके कहाहुआ धर्मशास्त्रही धर्म और अधर्मके निर्णयकी विधि-विधैं प्रथम प्रधानतासे अतिशयकरके वर्तता है जिस्से वर्त्तमानसमयके अंग्रेजी राजाकी सभामेंभी न्याय और अन्यायको निश्चय करनेमें हाकिम और बालिष्ठर वकील कौशली आदि परम प्रमाणकरके मनुशास्त्रको अंगीकारकर तिसके अनुसार धर्म और अधर्मके निर्णयको करते हैं तिस मनुजीकी उत्पत्ति वंशकी प्रवृत्ति धार्मिकपना धर्मोपदेशकपनाको कलुष कहते हैं—

इस वाराहकल्पमें एकसमय रचना और वृद्धिविषयक विचारको करतेहुये ब्रह्माजीकी इच्छाकरके वह शरीर स्त्रीपुरुषरूपकरके दो प्रकारसे भिन्न हुआ तिन्होंमें जो पुरुष हुआ वह स्वायंभुव मनु हुआ जो स्त्री हुई वह इस मनुकी शतरूपा नामवाली पत्नी होती भई पीछे तिन दोनोंसे मैथुन धर्मकरके प्रजाकी वृद्धि हुई वह वृद्धि इसप्रकार है मनुजीकी शतरूपा पत्नीमें प्रियव्रत—उत्तानपाद—ऐसे नामोंवाले दो पुत्र और आकूति—देवहूति—प्रसूति ऐसे नामोंवाली तीन पुत्री ऐसे पांच संतान हुई तिन्होंमें १ विष्णुजीका उत्तम भक्त और उत्तम विरक्तभी प्रियव्रत भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञाकरके धर्मसे पृथिवीको ग्यारह अर्ब वर्ष पर्यंत शिक्षित करताभया तिसके वंशमें अतुल्यवीर्य शूरवीरता आत्माका साक्षात्कार इन आदि गुणोंसे संपन्न और जीवन्मुक्तभी निश्चय आश्रित होनेवालोंको मुक्तिमार्ग विषयक उपदेश करनेवाले ऐसे ऋषभ और भरत आदि होतेभये २ उत्तानपादसेभी ध्रुव अंग पृथु प्राचीनवर्हि इन आदि नामवाले और अपने द्रव्यको तथा सर्वस्वको संपादित करनेवाले और दूसरोंपर दया करनेवाले और पृथिवीको शोभित करनेवाले ऐसे राजे होतेभये ३ आकूति स्त्रीमें रुचि नामवाला पुरुष यज्ञावतार विष्णुको और दक्षिणानामवाली लक्ष्मी-पुत्रीको उत्पन्न करताभया तिन दोनोंसे तुषितनामवाले देवताओंके वंशकी वृद्धि हुई ४ देवहूतिमें कर्दम प्रजापतिसे संतानरूपकरके कपिल भगवान् उत्पन्न हुये जिसने यहां

संसारमें सांख्यशास्त्रमयी दृढरूप जहाज संपूर्ण जगत्को तारनेकेवास्ते प्रवृत्त करी जागती है—अन्यभी देवहूतिकी पुत्रियां मरीचि अत्रि—भृगु—वसिष्ठ—अंगिरा—आदि ऋषि पतियोंकी संतान उत्पन्न करनेवाली होके कृतकृत्यताको प्राप्त भई ९ प्रसूतिमेंभी दक्षप्रजापति त्रिलोकीमें अत्यंत विस्तारवाली संतानको उत्पन्न करताभया इसप्रकार संसारव्यापक वंशोंका आदिकारणरूप मनुजी सरस्वती नदीके तीरपर ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें बहिष्मती अर्थात् विदुरनगरीमें मन्वंतरके अंतपर्यंत वसताहुआ सात द्वीपोंवाली पृथिवीकी रक्षा करताहुआ और बहुत दक्षिणावाले यज्ञोंसे यज्ञपुरुषकी पूजा करताहुआ योगसिद्धिमें निष्णात हुआ विषय और तृष्णासेरहित हुआ एकांतमें विष्णुके चरणोंका ध्यान करता हुआ पूछनेवाले भृगु आदि मुनियोंके अर्थ धर्मतत्त्वको प्रतिपादन करनेवाला इस मनुस्मृतिरूप गुप्त धर्मशास्त्रको कहताभया—कहाहै—मुनियोंसे पूछाहुआ मनुजी वर्ण और आश्रमके शुभ धर्मोंको सब प्राणियोंके सब कालमें हित करनेवाला होके कहताभया—वह यह संहितारूप मनुशास्त्र सुननेवाले मुनियोंके अर्थ भृगुजीने कहा है इसविषे आदिसे आरंभकर ब्रह्मा आदि देवतोंकी और पंचमहाभूत आदिकी उत्पत्ति और वर्णाश्रमवालोंके अनुलोमज और प्रतिलोमज आदिकोंके आपद और अनापदके विषयकरके सामान्य और विशेष वेदप्रतिपादित ऐसा आवश्यक धर्म देशकाल आदिके अनुसारसे प्रकाशित है राजधर्ममें तो न्यायासनपर आरूढ़ हुये राजाकरके सूक्ष्म विचारसे नीतिधर्मका अनुष्ठान करना वह विस्तारसे प्रपंचित किया है पातकवालोंको तिसतिस पाप कर्मके अनुरूप कर्मविपाक गति प्रायश्चित्तका अनुष्ठान करनेवालोंको तिसतिस आश्रमकी दूर करनेके द्वारा स्वर्ग और मुक्तिकी प्राप्ति कही है आशा है कि विचारपूर्वक शोधित कियेभी इस ग्रंथमें कहीं कहीं अज्ञानसे अथवा दृष्टिदोषसे अशुद्ध होवै वह अनेक शास्त्रके सार और असारको जाननेवाले पंडितोंकरके दयादृष्टिसे समानकरके शोधित करना उचित है—

पंडित रविदत्तशास्त्रि राजवैद्य.

वेरी जिल्हा रोहतक.

मनुस्मृतिको सूचीपत्र.

अध्याय पहिला.

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
मनुजीसे महर्षियोंको धर्म पूछना	१	१	पशु पक्षीआदिकोंकी सृष्टि....	८	३९
वैमहर्षियोंसे मनुजीको बोलना	१	४	छोटे बड़े कीटोंकी उत्पत्ति	८	४०
पहिला जगतकी उत्पत्ति कहना	२	९	मनुष्यआदि जरायुजोंकी उत्पत्ति	९	४३
जलकी उत्पत्ति....	२	८	पक्षी सर्पआदि अण्डजोंकी		
ब्रह्माकी उत्पत्ति....	२	९	उत्पत्ति....	९	४४
नारायण शब्दका अर्थ.	३	१०	स्वेदज खटमलआदिकोंकी		
ब्रह्मका स्वरूप कहना....	३	११	उत्पत्ति....	९	४९
स्वर्गभूमिआदिकोंकी सृष्टि कहना	३	१३	उद्भिज वृक्षआदिकोंकी उत्पत्ति	९	४६
महत तत्वादि क्रमसे जगतकी			वनस्पति और वृक्षोंके लक्षण	९	४७
उत्पत्ति....	३	१४	गुच्छ गुल्म आदिकोंके लक्षण	१०	४८
देवगणआदिकी सृष्टि	५	२२	इस प्रकार सृष्टि करके ब्रह्माजी		
तीन वेद अर्थात् ऋग्वेद यजुर्वेद			अन्तर्ध्यान भये....	१०	५१
सामवेदकी उत्पत्ति....	५	२३	महाप्रलय....	११	५४
कालआदिकी उत्पत्ति....	५	२४	जीवको देहसे निकलना	११	५५
तप वाणी रति कामक्रोधोंकी			जीव देहांतरसे कैसे जाता है	११	५६
उत्पत्ति....	६	२५	जाग्रत और स्वप्नावस्थाकरके		
धर्म अधर्मको विवेक....	६	२६	ब्रह्माजी सबको उत्पन्न		
स्थूल सूक्ष्मादि मात्रावोंकी			करते है....	१२	५७
उत्पत्ति....	६	२७	इस शास्त्रको प्रचार कहना	१२	५८
अपेक्षायुक्त कर्मकी सृष्टि....	६	२८	भृगुजी ए शास्त्रको तुम लोगोंसे		
ब्राह्मणआदि वर्णोंकी उत्पत्ति	७	३१	कहेंगे....	१२	५९
स्त्रीपुरुषकी सृष्टि....	७	३२	भृगुजीने वैमहर्षियोंसे कहा	१२	६०
मनुजीकी उत्पत्ति....	७	३३	मन्वन्तरोंको कहना....	१२	६१
मरीचिआदि १० महर्षियोंकी			रात्रिदिनकी प्रमाण....	१३	६४
उत्पत्ति....	७	३४	पितरोंको रात्रिदिन....	१३	६६
यक्ष गंधर्वआदिकोंकी सृष्टि	८	३७	देवोंको रात्रिदिन....	१३	६७
मेघआदिकोंकी सृष्टि....	८	३८	चारोंयुगोंकी प्रमाण....	१४	६९

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
देवोंके युगकी प्रमाण....	१४	७१	धर्मके प्रमाण कहते हैं....	२४	६
ब्रह्माजीके रात्रिदिनकी प्रमाण	१४	७२	धर्मको मूल वेदही है....	२४	७
ब्रह्माजीको जागके सृष्टिमें			श्रुतिस्मृतियोंको कहा धर्म		
मन लगाना....	१४	७४	करना चाहिये....	२५	९
मनसे आकाश हुवा....	१५	७५	श्रुतिस्मृतिको परिचय	२५	१०
आकाशसे वायुको होना....	१५	७६	नास्तिककी निंदा....	२५	११
वायुसे तेजको होना....	१५	७७	धर्मकी प्रमाण चार ४		
तेजसे जल जलसे पृथ्वीको होना	१५	७८	प्रकारकी है....	२५	१२
मन्वंतरकी प्रमाण....	१५	७९	श्रुति और स्मृतिके विरोधमें		
सतयुगमें धर्मके चार ४ पांव			श्रुति बलवती है....	२५	१३
रहते है....	१६	८१	और श्रुति दो प्रकारकी हो तौ		
अन्ययुगोंमें धर्मके पाद पादकी			दोनों माननीय है....	२६	१४
हानि होती है....	१६	८२	श्रुति दो प्रकारकी माननीय है		
युगयुगमें उमरकी प्रमाण....	१६	८३	इसमें दृष्टांत कहते है....	२६	१५
युगयुगमें धर्मोंकी विलक्षणता	१७	८५	वेदोक्त संस्कारयुक्तको इस ग्रंथमें		
ब्राह्मणको कर्म....	१७	८८	अधिकार है....	२६	१६
क्षत्रियको कर्म....	१७	८९	धर्म करने योग्य देशोंको....		
वैश्योंको कर्म....	१७	९०	कहना....	२६	१७
शूद्रोंको कर्म....	१८	९१	ब्रह्मावर्त देशको सदाचार....	२६	१८
ब्राह्मणकी श्रेष्ठत्व....	१८	९२	कुरुक्षेत्र आदि ब्रह्मर्षि देश		
ब्राह्मणोंमें ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण			कहते हैं....	२७	१९
श्रेष्ठ होते हैं....	१९	९७	ब्रह्मर्षिदेश निवासी ब्राह्मणसे		
ब्राह्मणहीको यह शास्त्र पढनेको			आचार सीखना....	२७	२०
अधिकार....	२०	१०३	मध्यदेशकी प्रमाण....	२७	२१
मुख्य धर्म आचार....	२१	१०८	आर्यावर्तदेशकी प्रमाण....	२७	२२
ग्रंथको अनुक्रम....	२१	१११	यज्ञ करनेके योग्य देशके		
			लक्षण....	२७	२३
अथ दूसरा अध्याय २.			वर्णोंके धर्म आदिको कथन	२८	२५
धर्मको सामान्य लक्षण....	२३	१	द्विजोंको वैदिकमंत्रोंसे गर्भाधाना		
कामात्मता नहीं करना....	२३	२	दि कहते है....	२८	२६
व्रतआदि संकल्पसे है....	२३	३	गर्भाधानादि संस्कारोंसे बीज		
कामनारहितको कोई क्रिया			संबंधी पाप छूटता है	२८	२७
नहीं है....	२४	४			

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
वेदाध्ययन आदिकर्मोंसे मोक्ष होता है.....	२८	२८	सव्यअपसव्यको लक्षण	३५	६३
जातकर्म अन्न प्राशन	२८	२९	पहिला दंड नष्ट होगया हो तब दुसरा दण्ड लेना....	३५	६४
नामकरण.....	२९	३०	समावर्तन कर्मको काल....	३५	६५
स्त्रियोंको नामकरण.....	२९	३३	स्त्रियोंको संस्कार विनामंत्रसे होता है.....	३५	६६
शिशुको घरसे बाहर निकालना तथा अन्न प्राशन करना.	२९	३४	स्त्रियोंको विवाह वेदमंत्रोंसे होता है.....	३५	६७
अथ चूडा कर्म.....	२९	३५	उपनीतको कर्म.....	३६	६९
यज्ञोपवीति कर्म.....	३०	३६	वेद पढनेकी विधि.....	३६	७०
यज्ञोपवीत करनेके समयको विचार.....	३०	३८	गुरुके पद वंदनकी विधि....	३६	७२
त्राय संज्ञा ...	३०	३९	गुरुकी आज्ञासे पढनेमें प्रारंभ तथा विश्राम....	३६	७३
काला मृग छाला आदिको धारण करना....	३१	४१	वेदाध्ययनमें आदि और अंतमें ओंकार बोलना.	३६	७४
मूंजीमेखलादिधारण.....	३१	४२	अथ प्राणायाम	३७	७५
मूंज नहीं मिलै तौ कुशादिकोंकी मेखला बनाना.....	३१	४३	ओम् तथा तीन व्याहृतियोंकी उत्पत्ति.....	३७	७६
यज्ञोपवीत बनानेकी विधि....	३१	४४	गायत्रीकी उत्पत्ति.....	३७	७७
दण्डोंको कहते है.....	३१	४५	गायत्रीके जपको फल....	३७	७८
अथ भिक्षा	३२	४९	गायत्रीको जप न करनेमें पाप होता है.....	३७	८०
पूर्वआदि मुख होके भोजन करनेको फल	३३	५२	ओंकार तथा व्याहृती तथा गायत्रीकी प्रशंसा....	३८	८१
भोजनके आदि अंतमें आचमन करना....	३३	५३	ओंकारकी प्रशंसा....	३८	८४
श्रद्धासे अन्न भोजन करना	३३	५४	मानसिक जपको अधिक फल	३८	८५
अश्रद्धासे भोजन न करना	३३	५५	इंद्रियोंको संयम करना....	३९	८८
भोजनमें नियम.....	३३	५६	एकादश इंद्रिय.....	३९	८९
अति भोजन नहीं करना....	३३	५७	इंद्रियोंके संयमसे सिद्धि होती है (भोगोंसे नहीं)	४०	९३
ब्राह्मण आदि वर्ण ब्राह्मतीर्थ आदिकोंसे आचमन करें पितृ तीर्थसे नहीं.	३४	५८	विषयोंसे विरक्त पुरुष श्रेष्ठ है	४०	९५
ब्राह्मआदि तीर्थ कहते है....	३४	५९	इंद्रिय संयमको उपाय....	४०	९६
आचमनकी विधि.....	३४	६०	दुष्ट भाववालेको यज्ञादिकोंको		

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
फल नहीं मिलता है....	४०	९७	यज्ञकी दीक्षावालेका नाम		
जितेंद्रियको स्वरूप.....	४१	९८	न लेना चाहिये....	४६	१२८
स्वतंत्र एकभी इंद्रिय न रखना	४१	९९	परस्त्रीको नाम न लेना....	४६	१२९
जितेन्द्रिय होनेमें पुरुषार्थ हेतु है	४१	१००	छोटे मामाआदिकोंको पांव		
संध्याका काल....	४१	१०१	नहीं छूना....	४६	१३०
संध्याहीन द्विज शूद्रकीतुल्य है	४१	१०३	मौसीआदि गुरुकी स्त्रीकीतुल्य		
वेदोंके पाठ करनेमें असमर्थ होवै			पूजनीय है....	४६	१३१
तौ गायत्री मात्रको जप			भौजाई आदिकोंके पांव छूनेकी		
करना....	४२	१०४	विधि....	४७	१३२
नित्य कर्मादिमें अनध्याय			बड़ी बहैन आदिकोंके पांव		
नहीं है....	४२	१०५	छूनेकी विधि....	४७	१३३
जप यज्ञको फल....	४२	१०७	एक गांववालेनमें मित्रताकी		
समावर्तनके अंततक होम			विधि....	४७	१३४
आदि करना....	४२	१०८	क्षत्रिय आदिकोंको १० दशवर्ष-		
कैसे शिष्यको पढ़ाना....	४२	१०९	कोभी ब्राह्मण पिताकी		
विना पूछे वेदको नहीं कहै	४३	११०	तुल्य मानना चाहिये	४७	१३५
निषेधके उल्लंघनसे दोष है	४३	१११	धन आदि मानके स्थान	४७	१३६
असत् शिष्यकेवास्ते विद्या न			रथपर सवार तथा वृद्ध आदि-		
कहनी....	४३	११२	कोंको रास्ता देना	४८	१३८
विना अध्ययन वेद नहीं ग्रहण			स्नातकको रास्ता राजाभी देवै	४८	१३९
करना....	४४	११६	आचार्यको लक्षण....	४८	१४०
अध्यापकको प्रथम पाद छूना	४४	११७	उपाध्यायको लक्षण....	४८	१४१
शास्त्रोक्त रहित आचरण निन्दा	४४	११८	गुरुको लक्षण....	४८	१४२
गुरुको पांव किस समयमें			ऋत्विक्को लक्षण.	४९	१४३
छूना....	४४	११९	पढ़ानेवालेकी प्रशंसा....	४९	१४४
वृद्धोंके पांव छूनेकी विधि....	४४	१२०	माता सबसे अधिक है....	४९	१४५
पांव छूनेका फल....	४५	१२१	आचार्य श्रेष्ठ है....	४९	१४६
पांव छूनेकी विधि....	४५	१२२	बालकभी पढ़ानेवाला पिताकी		
आशीर्वाद देनेकी विधि....	४५	१२५	तुल्य है....	५०	१५०
यथोक्त आशीर्वाद न जानने			इसमें बृहस्पतिजीका दृष्टांत	५०	१५१
वालेको दोष है....	४६	१२६	वर्णक्रमसे ज्ञानआदिसे बड़ापन	५१	१५५
कुशल प्रश्न पूछनेकी विधि	४६	१२७	मूर्खकी निन्दा....	५१	१५७

प्रकरण.	पृ० श्लो०
शिष्यकेवास्ते मधुर वाणी बोलना.....	११ १९९
पुरुषके मन वाणीके संयमनको फल कहना.....	१२ १६०
दूसरेसे द्रोह आदिको निषेध दूसरा अपमान करै तौभी क्षमा करना.....	१२ १६१
अपमान कर्ताको नाश होता है इसविधिसे वेद पढ़ना.....	१२ १६२
वेदाभ्यास श्रेष्ठ है.....	१२ १६३
वेदपाठीकी स्तुति.....	१२ १६४
वेदविद्याको छोड़ अन्यत्र श्रम करनेमें दोष.....	१२ १६५
द्विजको निरूपण.....	१२ १६६
विना यज्ञोपवीतके कोई कर्मको अधिकार नहीं है.....	१४ १७१
यज्ञोपवीत होगये पीछे वेद पढ़ना.....	१४ १७२
गोदानादि व्रतोंमें नवीन दंडादि ग्रहण करना.....	१४ १७३
इतने नियमोंको सेवन करना नित्य स्नान होम तर्पण आदि करना.....	१४ १७४
ब्रह्मचारीके नियम.....	१४ १७५
इच्छासे वीर्यपातको निषेध स्वप्नमें वीर्यपात होवै तिसको प्रायश्चित्त.....	१४ १७६
आचार्यके लिये जल कुश आदिकोंको लाना.....	१४ १७७
वेद और यज्ञोंसेयुक्त घरोंसे भिक्षा करनी.....	१४ १७८
गुरुकुलआदिमें कैसी भिक्षा करनी.....	१४ १७९

प्रकरण.	पृ० श्लो०
महापातकी आदिकोंकी भिक्षा नहीं लेना.....	१६ १८९
समिधोंकरके सायंप्रातःकाल हवन करै.....	१६ १९०
होम आदि न करनेमें प्रायश्चित्त एकके अन्नको नित्य भक्षण नहीं करै.....	१६ १९१
निमंत्रणमें एकको अन्न खाना क्षत्रिय वैश्य कभीभी एकके अन्नको नहीं भक्षण करै गुरुके हितमें तथा पढ़नेमें यत्न करना.....	१७ १८८
गुरुकी आज्ञा करनी.....	१७ १८९
गुरुके सोये पीछे शयनादि करना.....	१७ १९०
गुरुकी आज्ञा करनेको प्रकार गुरुके समीप नीचे आसनमें बैठना.....	१७ १९१
गुरुके नामआदिको ग्रहण नहीं करना.....	१७ १९२
गुरुकी निंदा नहीं सुननी गुरुको अपमानआदि करनेको फल.....	१७ १९३
गुरुके समीप जाके पूजन करना.....	१७ १९४
गुरुके परोक्षमें कुछ वार्ता नहीं करना.....	१७ १९५
शवारीआदिमें गुरुके साथ शिष्य बैठै.....	१७ १९६
गुरुके गुरुको गुरुकी तुल्य मानना.....	१७ १९७
विद्यागुरुसे लेकै अन्य गुरुनको गुरुके तुल्य सत्कार करना	१७ १९८

प्रकरण.	पृ० श्लो०	प्रकरण.	पृ० श्लो०
गुरूके पुत्रआदिकोंमेंभी गुरूके		जीवनपर्यंत गुरूके कुलकी	
समान भाव रखै	६० २०७	सेवाको फल....	६७ २९०
गुरूकी स्त्री गुरूकेतुल्य पूजनीय		अथ अध्याय तीसरा ३.	
है	६१ २१०	अथ ब्रह्मचर्यव्रतकी विधि....	६८ १
स्त्रीस्वभाव कथन	६१ २१३	गृहस्थाश्रमको वास....	६८ २
माता आदिकोंकेभी साथ एकान्तमें		अधीतवेदवालेको पिताआदिकोंसे	
वासही नहीं करना....	६१ २१५	प्रथम पूजन....	६८ २
जवान गुरूकी स्त्रीके पांव छूनेके		समावर्त्तन करके विवाह करै	६८ ४
विधि....	६१ २१६	असपिंडाकन्याका विवाह	
गुरूकी सेवाको फल....	६२ २१८	करना....	६९ ५
ब्रह्मचारीके तीन प्रकार....	६२ २१९	विवाहमें वर्जित कुल एहैं	६९ ६
सूर्यके उदय तथा अस्तमें		कन्याके दोष कहते हैं....	६९ ८
सोना नहीं....	६२ २२०	कन्याके लक्षण....	६९ १०
संध्योपासन अवश्य करना		पिताभ्रातासेहीन कन्याको	
चाहिये	६३ २२२	विवाह नहीं करना....	७० ११
स्त्रीआदिकोंके श्रेय करनेमें....	६३ २२३	विवाहमें आपने वर्णकी कन्या	
त्रिवर्ग कहते हैं....	६३ २२४	श्रेष्ठ है....	७० १२
पिता आचार्यआदि अपमानके		चारोंवर्णोंकी कन्याओंका क्रम	७० १३
योग्य नहीं....	६३ २२५	ब्राह्मण क्षत्रियको शूद्रास्त्रीको	
तिनकी सेवाको फल....	६४ २२८	निषेध....	७० १४
तिनके अनादरकी निन्दा....	६५ २३४	नीच जातिकी स्त्रियोंको विवाह-	
माताआदिकी सेवा मुख्य है....	६५ २३५	नेको निषेध....	७० १५
नीचसेभी विद्या ग्रहण करना	६६ २३८	शूद्रकी कन्याको विवाह करनेसे	
आपत्कालमें क्षत्रियादिकोंसेभी		ब्राह्मण पतित हो जाता	
पढ़ना परंतु पादप्राक्षालना-		है....	७१ १६
दि नहीं करना....	६६ २४१	विवाह आठप्रकारके है....	७१ २०
क्षत्रियआदिगुरूके यहां जीवन-		वर्णोंके धर्म्य विवाह....	७२ २१
पर्यंत नहीं रहै....	६६ २४२	पैशाच और आसुर विवाहोंकी-	
और जीवनपर्यंत ब्राह्मणगुरूके		निन्दा....	७२ २५
कुलमें वास करै....	६६ २४३	ब्राह्मविवाहको लक्षण....	७३ २७
गुरुदक्षिणादिकोंको देना	६७ २४५	दैव विवाहको लक्षण....	७३ २८
गुरू मरजावे तौ गुरूके पुत्र		आर्षविवाहको लक्षण....	७३ २९
आदिकोंकी सेवा करनी	६७ २४७	प्राजापत्य विवाहको लक्षण....	७३ ३०

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
आसुर विवाहको लक्षण....	७३	३१	स्त्रीपुरुषमें परस्पर प्रसन्नताको		
गांधर्व विवाहको लक्षण....	७४	३२	फल....	७९	६०
राक्षस विवाहको लक्षण....	७४	३३	पतिकी अप्रसन्नतासे संतान		
पैशाच विवाहको लक्षण....	७४	३४	नहीं होती....	७९	६१
ब्राह्मणोंको जल हाथमें लेके			ऐसे कर्मकरनेसे अच्छेभी कुल		
कन्यादान श्रेष्ठ है	७४	३५	दूषित हो जाते हैं....	७९	६३
ब्राह्मआदि विवाहोंके फल....	७४	३७	कुलकी उन्नति करनेके कर्म	८०	६६
ब्राह्मआदि चार विवाहोंमें सुन्दर			पञ्चमहायज्ञको विधान	८०	६७
प्रजा होती है....	७५	३९	पञ्चसूना अर्थात् गृहस्थके पांच		
निन्दित विवाहोंमें निन्दित संतति			हिंसाके स्थान है....	८०	६८
होती है....	७५	४१	पञ्चमहायज्ञ नित्य करना चाहिये	८०	६९
अपने वर्णकी कन्याके विवाहकी			पञ्चमहायज्ञोंको कथन	८०	७०
विधि....	७५	४३	पञ्चमहायज्ञोंके न करनेवालेकी		
अन्यवर्णकी कन्याके विवाहकी			निंदा....	८१	७२
विधि....	७६	४४	पञ्चमहायज्ञोंके नामांतर कहते हैं	८१	७३
स्त्रीप्रसंगकी विधि....	७६	४५	अशक्त होवै तौ वेदको		
ऋतुकालकी अवधि....	७६	४६	अध्ययन तथा हवन करै	८१	७५
स्त्रीप्रसंगमें निन्दित तिथी....	७६	४७	हवनसे वृष्टिआदिकी उत्पात्ति	८१	७६
युग्म तिथियोंमें पुत्र होता है	७६	४८	गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा....	८२	७७
कन्यापुत्र नपुंसकोंके होनेमें			ऋषिआदिकोंको पूजन अवश्य		
कारण....	७७	४९	करना चाहिये....	८२	८०
अनिन्दित तिथियोंमें मैथुन कर्त्ता			नित्य श्राद्ध करना....	८२	८२
हुआ जिसकीसी आश्रमवाला			एकोद्दिष्टश्राद्धमें ब्राह्मणभोजन		
ब्रह्मचारी है....	७७	५०	करानेकी विधि....	८३	८३
कन्याके बेंचनेमें दोष....	७७	५१	बलि विश्वेदेवकर्म कहते हैं		
स्त्रीके धन ग्रहणमें दोष	७७	५२	बलि विश्वेदेवकर्मको फल	८४	९३
वरसे अल्पभी न लेना.....	७७	५३	भिक्षा दान....	८५	९४
कन्याके लिये धन देना....	७७	५४	भिक्षादानको फल....	८५	९५
गहन कपडाआदिसे कन्याको			भिक्षाआदि सत्कारसे देना	८५	९६
भूषित करना....	७८	५५	कुपात्रमें दान देना निर्फल है	८५	९७
स्त्रियोंके आदर और अनादरको			सुपात्रमें दानको फल....	८५	९८
फल....	७८	५६	अतिधिको सत्कारसे आसन		
उत्सवोंमें स्त्रीविशेषसे पूजनीय है	७८	५९	आदि देना....	८५	९९

प्रकरण.	पृ० श्लो०	प्रकरण.	पृ० श्लो०
अतिथिको न पूजनेमें निंदा	८६ १००	विश्वेदेव करना चाहिये....	८९ १२१
अन्नके अभावमें अतिथिको जल		अमावास्याको श्राद्ध करना....	८९ १२२
आदि देना....	८६ १०१	मांससे श्राद्ध करना....	९० १२३
अतिथिको लक्षण कहते हैं	८६ १०२	श्राद्धमें भोजनके योग्य ब्राह्मणों-	
पराये भोजनको निषेध....	८६ १०४	की संख्या....	९० १२५
अतिथिको लौटाना नहीं....	८६ १०५	श्राद्धमें ब्राह्मणोंका विस्तार	
अतिथिको बिना भोजन करवा-		नहीं करना....	९० १२६
ये आप भोजन नहीं करै	८७ १०६	अमावास्यामें श्राद्ध करनेको	
बहुत अतिथियोंमें यथायोग्य		विशेष फल है....	९० १२७
सेवा करनी....	८७ १०७	देवोंके तथा पितरोंके अन्न	
अतिथिकेवास्ते फिर पाक बनावे		श्रोत्रियको देना....	९० १२८
और फिर बलि वैश्वदेव न		विद्वानकी प्रशंसा....	९१ १२९
करै....	८७ १०८	मूर्ख ब्राह्मणको श्राद्धमें निषेध	
भोजनकेवास्ते ब्राह्मण आपनै		है....	९१ १३३
कुलको गोत्रको वर्णन न करै	८७ १०९	ज्ञानीआदि ब्राह्मणोंमें हव्यकव्य	
ब्राह्मणके क्षत्रिय आदि अतिथि		देना....	९२ १३५
नहीं है....	८७ ११०	पिता पुत्र दोनों वेदपाठीहोंसो	
क्षत्रियआदिकोंकोभी भोजन		श्रेष्ठ है....	९२ १३७
कराना	८७ १११	श्राद्धमें शत्रु मित्रको भोजन	
मित्रआदिकोंकोभी सत्कारपूर्वक		नहीं करवावे....	९२ १३८
भोजन करवावे....	८८ ११३	मूर्खमें दान निर्फल है.....	९३ १४२
पहले गर्भिणी आदिकोंको		विद्वानमें दक्षिणादानको फल	
भोजन कराना....	८८ ११४	है....	९३ १४३
गृहस्थको प्रथम भोजनको		विद्वान ब्राह्मण नही मिलै तौ	
निषेध....	८८ ११५	मित्रको भोजन करवावे	
सबके पीछे स्त्रीपुरुषको भोजन		शत्रुको नहीं....	९३ १४४
करना चाहिये....	८८ ११६	श्राद्धमे वेदपाठीआदि ब्राह्मणों	
आपनैहीवास्ते पाक बनानेको		को यत्नसे भोजन करावे	९४ १४५
निषेध....	८९ ११८	मामा नाना आदिकोंकोभी	
घरमेंआयेराजाआदि पूजनीय है	८९ ११९	श्राद्धमें भोजन कराना ...	९४ १४८
राजा और श्रोत्रियके पूजनमें		ब्राह्मणकी परीक्षाको विषय	९४ १४९
संकोच....	८९ १२०	चोरआदिकोंको निषेध है....	९५ १५०
स्त्रीको बिना मंत्रसेही बलि		ये ब्राह्मण श्राद्धमें वर्जित हैं	९५ १५१

प्रकरण.	पृ० श्लो०	प्रकरण.	पृ० श्लो०
विना पढे ब्राह्मणकी निन्दा....	९८ १६८	देवकार्यसे पितृकार्य विशेष है.	१०४ २०३
विना यांतिवाले ब्राह्मणमें दान		देवकार्य पितृकार्यको अंग है.	१०४ २०४
निर्फल है....	९८ १६९	श्राद्धको दैवाद्यन्त करै....	१०४ २०५
परिवेत्ता और परिवित्तिको		श्राद्धके योग्य देश कहते हैं.	१०४ २०६
लक्षण....	९८ १७१	निमंत्रित ब्राह्मणोंको आसन	
परिवेत्ता आदि पांचो नरकमें		आदि देना....	१०५ २०८
जाते हैं....	९८ १७२	चंदन पुष्पआदिसे तिन पित-	
दिधिषूपतिको लक्षण....	९९ १७३	रोंकी पूजा....	१०५ २०९
कुण्ड और गोलककी उत्पत्ति		ब्राह्मणोंकी आज्ञासे हवन करना.	१०५ २१०
कहते हैं....	९९ १७४	अग्निके अभावमें ब्राह्मणके	
ए दोनोंको दान नहीं देना.	९९ १७५	हाथमें हवन करना....	१०५ २१२
चोरआदि जैसे भोजन करते		अपसव्य होके अग्नौकरणादि	
हुये ब्राह्मणोंको न देखै		हवन करै....	१०६ २१४
तैसा करै....	९९ १७६	पिण्डदानआदिकी विधि....	१०६ २१५
अन्धेआदि पुरुष श्राद्धके समीप		कुशोंके मूलमें हाथ पोंछै....	१०६ २१६
न चाहिये....	९९ १७७	छहौ ऋतुवोंको नमस्कार....	१०६ २१७
श्राद्धमें शूद्रके पुरोहितको निषे-		प्रत्यवनेजनआदि करै....	१०६ २१८
ध है ...	९९ १७८	पिताआदि ब्राह्मणोंके भोजन	
शूद्रसे दान नहीं लेना....	१०० १७९	करावे....	१०७ २१९
सोमलताआदि बेचनेवालेको		पिताके जीते पितामहआदिकी	
दान देनेमें निषेध है....	१०० १८०	पार्वण करना....	१०७ २२०
पंक्तिपावन ब्राह्मण कहते हैं.	१०० १८३	पिता मरगया हो और पिता-	
निमंत्रणकी विधि....	१०१ १८७	मह जीवता हो तब पार्वण	
निमंत्रण कियेहुयेके नियम.	१०१ १८८	श्राद्धविधि....	१०७ २२१
निमंत्रणको स्वीकार करके फिर		पिताआदि ब्राह्मणोंके भोजन-	
भोजन न करनेमें दोष है.	१०२ १९०	की विधि....	१०७ २२३
निमंत्रितको मैथुन करनेमें		अन्नपरुसनेकी विधि....	१०८ २२४
दोष है....	१०२ १९१	व्यंजनोंके देनेकी विधि....	१०८ २२६
दाता तथा भोक्ता दोनों क्रोध		भोजनके समयमें रोदन क्रोध-	
आदिसे रहित होने चाहिये.	१०२ १९२	आदि नहीं करना....	१०८ २२९
पितृगणकी उत्पत्ति....	१०२ १९३	जो व्यंजनआदि ब्राह्मणोंको	
पितृकर्ममें चांदीको पात्र		रुचै सो देना....	१०९ २३१
उत्तम है....	१०४ २०२		

प्रकरण.	पृ० श्लो०	प्रकरण.	पृ० श्लो०
वेदआदि श्राद्धमें ब्राह्मणोंको		शेष अन्नको ब्राह्मण जैसा	
सुनावै....	१०९ २३२	कहै वैसा करै....	११३ २९३
ब्राह्मणोंको प्रसन्न करै....	१०९ २३३	एकोद्दिष्टआदि श्राद्धोंकी विधि	
कन्याके पुत्रको श्राद्धमें यत्नसे		कहते हैं....	११३ २९४
भोजन करवावै....	१०९ २३४	अपराह्णकालआदि श्राद्धमें प-	
कन्याको पुत्र तिलकम्बल ए ती-		वित्र हैं....	११३ २९५
न श्राद्धमें पवित्र है....	११० २३५	श्राद्धमें पवित्र अन्न....	११३ २९७
मौन होके भोजन करना....	११० २३६	ब्राह्मणोंको विसर्जन करके	
भोजन करनेमें पगडीआदिको		वरदान मांगना....	११३ २९८
निषेध....	११० २३८	पिण्डोंको गौआदिको देना	११४ २६०
भोजनकर्ते ब्राह्मणोंको चांडाल-		सुतार्थिनी स्त्री पितामहेका पिंड	
आदि न देखें....	११० २३९	खावै....	११४ २६२
कुत्ताआदिकोंकी दृष्टिआदिको		पीछे नातोंको जातवालोंको....	
निषेध है....	१११ २४१	भोजन करवावै....	११४ २६४
श्राद्धके समयमें लंगडेआदि		बाकी अन्नसे गृहबलि करनी.	११५ २६५
मनुष्योंको निकालदेना.	१११ २४२	तिलआदिकोंसे पितरोंको एक	
भिक्षुकोंकोभी भोजन देना....	१११ २४३	मासकी तृप्ति होती है....	११५ २६७
कुशोंके ऊपर अलग अलग		मांसआदिसे विशेष तृप्ति होती है.	११५ २६८
अन्न डालै....	१११ २४४	खीरसे एकवरसकी तृप्ति होती है.	११६ २७१
श्राद्धमें उच्छिष्ट अन्न दासोंका		मघानक्षत्रयुक्त त्रयोदशीमें श्रा-	
भाग है....	१११ २४६	द्धको फल....	११६ २७३
सपिण्डीतक विश्वेदेवसे रहित		कुंजरयोगमें श्राद्धको फल....	११६ २७४
श्राद्ध होती है....	११२ २४७	श्रद्धापूर्वक दान देना.	११६ २७५
जिसकी सपिण्डी हो चुकी हो		पितृपक्षमें श्रेष्ठ तिथि.	११६ २७६
उसकी पार्वण श्राद्ध करना.	११२ २४८	युगमतिथि नक्षत्रआदि श्राद्धमें	
श्राद्धमें उच्छिष्टभोजन शूद्रको		श्रेष्ठ है....	११७ २७७
नहीं देना....	११२ २४९	कृष्णपक्ष तथा अपराह्णकाल	
श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मण-		श्राद्धमें श्रेष्ठ है....	११७ २७८
को मैथुन नहीं करना चा-		अपसव्य हो कुशधारणकर पि-	
हिये....	११२ २५०	तृकर्म करना....	११७ २७९
ब्राह्मणोंको आचमन करना चा-		रात्रिमें श्राद्धको निषेध है....	११७ २८०
हिये....	११२ २५१	प्रतिमास श्राद्ध न हो सके तिसकी	
स्वधा अस्तु ऐसे ब्राह्मण बोलै.	११२ २५२	विधि....	११७ २८१

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
अग्नौकरणका निर्णय.	११८	२८२
तर्पणको फल.	११८	२८३
पितरोंकी प्रशंसा....	११८	२८४
ब्राह्मणोंसे बचे अन्नको नित्य भोजन करै.	११८	२८५
अध्याय चौथा ४.		
ब्रह्मचारी तथा गृहस्थको समय कहते हैं.	११९	१
शिलोच्छ आदिसे जीविका करै.	११९	२
उचित कर्मसे धनको संचय करै.	११९	३
अनापदिकालमें इस कर्मसे जीविका करै....	११९	४
ऋतआदिको अर्थकथन.	११९	५
कितना धन जोरना तिसमे कहते हैं....	११९	७
अश्वास्तनिककी प्रशंसा.	१२०	८
यज्ञ कराना पढानेआदिसे जीविका....	१२०	९
शिलोच्छआदिसे जीविका करै.	१२०	१०
निंदित जीविका न करै....	१२०	११
संतोषकी प्रशंसा....	१२०	१२
व्रत करनेकी विधि....	१२०	१३
वेदोक्त कर्म करना....	१२०	१४
गीतआदिसे धन जोरनेका निषेध है....	१२१	१५
इन्द्रियोंके अर्थोंमें आसक्त नहीं होना....	१२१	१६
वेदके विरोधी कर्मोंको त्यागना.	१२१	१७
उमर और कुलके सदृश आचरण करै....	१२१	१८
नित्य शास्त्रोंको देखना.	१२१	१९
शक्तिके अनुसार पञ्चमहायज्ञोंको नहीं छोड़ै....	१२२	२१

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
कोई पञ्चमहायज्ञोंको पांच ज्ञानेंद्रियोंमेंही हवन करते हैं.	१२२	२२
कोई वाणीमें प्राणोंको तथा प्राणोंमें वाणीको होम करते हैं....	१२२	२३
कोई ज्ञानसे यजन करते हैं.	१२२	२४
दिनके आदिअंतमें तथा अमावास्या पूर्णिमाको हवनकी विधि....	१२२	२५
सोमयागआदि....	१२२	२६
नवान्न कियेविना नवीन अन्न भक्षण न करै....	१२२	२७
यथाशक्ति अतिथिको पूजन करै....	१२३	२९
पाषंडी आदिकोंके पूजनको निषेध....	१२३	३०
श्रोत्रियआदिकोंको पूजन करै.	१२३	३१
ब्रह्मचारी आदिकोंको अन्नदान देना....	१२३	३२
क्षत्रिय आदिसे धन मांगना.	१२३	३३
धनी होके मलीन नहीं रहै.	१२३	३४
पवित्र तथा वेदआदिसे युक्त रहै.	१२४	३५
दंडकमंडलुआदि धारण करना.	१२४	३६
उदयअस्तमें सूर्यदर्शनको निषेध है....	१२४	३७
बछराके बंधन कीरस्सीको नहीं नांघना....	१२४	३८
मार्गमें गौआदिको दाहिने तरफ करै....	१२४	३९
रजस्वला स्त्रीगमन आदिको निषेध....	१२४	४०
स्त्रीकेसाथ भोजनआदिको निषेध है....	१२५	४३

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
विशेषकालमें स्त्रीके दर्शनको निषेध.....	१२९	४४	अंजलीसे पानीआदि नहीं पीवै	१२७	६३
नग्न स्नान आदिको निषेध	१२९	४५	नाचने आदिको निषेध....	१२७	६४
खेतआदिमें विष्टा मूत्र करनेको निषेध.....	१२९	४६	कांसके पात्रमें भोजन नहीं करै		
मूत्र आदि करनेमें सूर्य आदिके दर्शनको निषेध.....	१२९	४८	फूटे पात्रमें भोजन नहीं करै.	१२८	६५
मूत्रआदि करनेमें उत्तरमुख आदि होना....	१२९	५०	यज्ञोपवीतआदि दूसरेके धारण कियेहुये नहीं पहिरै....	१२८	६६
अंधकार आदिमें इच्छापूर्वक मूत्र आदि करना.	१२६	५१	अंगभंगी बैल आदिकी शवारी नहीं करै....	१२८	६७
अग्निआदिके सामने मूत्रआदि करनेको निषेध....	१२६	५२	अच्छे बैलोंकी शवारी करै.	१२८	६८
अग्निमें पांव तपाने आदिको निषेध.....	१२६	५३	मुर्देके धुवेंआदिको नहीं देखै तथा दांतोसे नख नहीं उखाड़ें.	१२८	६९
अग्निको नाघै नहीं....	१२६	५४	तृणछेदनआदिको निषेध....	१२८	७०
संध्यासमयमें भोजन तथा पृथ्वी-पर लिखनेआदिको निषेध	१२६	५५	मट्टीके डलेआदि फोडनेवालेको मंद फल है.	१२८	७१
जलमें मल मूत्र धूक इनको नहीं डालै.	१२६	५६	मालाधारण बाहर तथा बैल आदिकी पीठपर शवारीआदिको निषेध....	१२८	७२
शून्य घरमें सोना सोतेको जगाना आदि नहीं करै	१२६	५७	विना द्वारसे मकानमें गमन आदि नहीं करै....	१२९	७३
भोजनआदिमें दक्षिणहाथको बाहर रखना.	१२६	५८	आंखोंसे इसारा आदिको निषेध	१२९	७४
दूध पिलातीहुई तथा प्यासी गौको रोके नहीं और इन्द्रधनुष दूसरेको नहीं दिखावै....	१२७	५९	रात्रिको तिलभोजन तथा नग्न शयनादि नहीं करै.	१२९	७५
अधर्मियोंके ग्राममें वास न करै अकेला मार्गमें नहीं चलै.	१२७	६०	गीले पांव होके भोजन क०	१२९	७६
शूद्रकी राज्यआदिमें वास नहीं करै....	१२७	६१	दुर्गम जगामें नहीं जाना विष्टा मूत्र नहीं देखना बाहुवोंसे नदी नहीं तरै....	१२९	७७
अत्यंत भोजन आदिको निषेध.	१२७	६२	केश भस्म हड्डी आदिकोंपर नहीं बैठे....	१२९	७८
			पतितआदिकोंके साथ नहीं रहै	१२९	७९
			शूद्रके अर्थ धर्मकथनआदिको निषेध....	१३०	८०
			दोनों हाथोंसे शिरको कंडूयन आदिको निषेध....	१३०	८२

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
क्रोधसे केश पकड़के मारने		
आदिको निषेध.	१३०	८३
तेल लगाके स्नान कियेपीछे		
तेल नहीं छूना.	१३०	८३
क्षत्रियरहित राजाको दान कभी		
न लेवै....	१३०	८४
तेली आदिसे दान लेनेको नि-		
षेध है....	१३०	८५
बदनीति राजाआदिके दानको		
फल....	१३१	८७
तामिश्रआदि इक्कीस नरकोंको		
कथन....	१३१	८८
ब्राह्ममुहूर्तमें उठना चाहिये....	१३१	९२
प्रातःकालकी क्रिया.	१३१	९३
प्रातःकालकी क्रियाको फल.	१३२	९४
श्रावणकी अथवा भाद्रपदकी		
पूर्णिमाको ब्राह्मण उपाकर्म		
करै.	१३२	९५
पुष्यनक्षत्रमें अथवा माघशुक्ल		
प्रतिपदाको वेदका उत्सर्ज-		
नाख्य कर्म करै.	१३२	९६
उत्सर्जनकरके फिर डेढ़दिनतक		
वेद नहीं पढ़ै....	१३२	९७
फिर शुक्लपक्षमें वेद कृष्णपक्षमें		
वेदांग पढ़ै.	१३२	९८
वेदको पढ़के सोवनेआदिके		
निषेध हैं.	१३२	९९
नित्य गायत्रीआदिको पढ़ै....	१३२	१००
ए अनध्यायोंको पठनपाठन		
वर्जित करै.	१३३	१०१
वर्षाके अनध्याय कहते हैं....	१३३	१०२
अकालमें अनध्याय....	१३३	१०३
सब कालमें ए अनध्याय हैं.	१३३	१०५

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
गर्जने विजली कड़कने आ-		
दिमें अनध्याय....	१३३	१०६
नगरआदिमें नित्य अनध्याय.	१३४	१०७
श्राद्धमें भोजनकरके तीन दिन		
नहीं पढ़ै....	१३४	११०
गंधलेपयुक्त वेद नहीं पढ़ै....	१३४	१११
शयनआदिमें नहीं पढ़ै.	१३४	११२
अमावास्याआदि तिथियोंमें प-		
ढ़नेको निषेध है....	१३४	११४
सामवेदकी ध्वनिमें दूसरे वेद		
नहीं पढ़ै....	१३६	१२३
तीनों वेदोंके देवताओंको कथन.	१३६	१२४
गायत्रीके जपके अनंतर वेद		
पढ़ना....	१३६	१२५
गुरुशिष्यके मध्यमें गौआदि		
जानवर निकलजावे तौ		
अनध्याय....	१३६	१२६
पवित्र जगामें पवित्र होके पढ़ना.	१३६	२२७
अमावास्याआदि तिथियोंमें गृ-		
हस्थ पुरुष ऋतुकालमेंभी		
स्त्रीप्रसंग नहीं करै.	१३६	१२८
भोजनकेपीछे तथा रात्रिआदिमें		
स्नान नहीं करै....	१३७	१२९
गुरुआदिकी छाया नहीं नांघनी.	१३७	१३०
श्राद्धमें भोजनकरके चौरास्तामें		
नहीं जावै....	१३७	१३१
रक्त धूक आदिमें नहीं बैठै.	१३७	१३२
शत्रु चोर परस्त्री इन्होंकी सेवा		
नहीं करनी....	१३७	१३३
परस्त्रीसेवनकी निन्दा.	१३७	१३४
क्षत्रिय ब्राह्मण सर्प इन्होंको		
अपमान नहीं करना....	१३७	१३५
आत्माको अपमान नहीं करना.	१३८	१३७

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
सत्य प्रिय बोलना चाहिये....	१३८	१३८	दूसरेके मारनेआदिको निषेध.	१४१	१६४
वृथा वैर झगडा किसीसे नहीं			ब्राह्मणके मारनेको दंड उठा-		
करै....	१३८	१३९	नेसे सौ १०० बरस नरकमें		
बहुत सवेरेआदि कालमें विना			रहता है.	१४२	१६५
जान पहिंचानवालेकेसाथ			ब्राह्मणके मारनेको फल....	१४२	१६६
रास्ता नहीं चलै....	१३८	१४०	ब्राह्मणके खून निकालनेको फल.	१४२	१६७
हीन अंगवालेआदि पुरुषोंकी			अधर्मी आदिकोंको सुख नहीं		
निंदा नहीं करै....	१३८	१४१	होता....	१४२	१७०
उच्छिष्ट पुरुष सूर्यआदिकोंको			अधर्ममें बुद्धि नहीं करै.	१४२	१७१
नहीं देखै.	१३८	१४२	अधर्मको फल धीरे धीरे होता है.	१४२	१७२
वेप्रयोजन आपनी इन्द्रियोंको			शिष्योंकी शिक्षा....	१४३	१७५
नहीं छुवै....	१३८	१४४	धर्मरहित अर्थकामको त्याग		
मंगलाचारयुक्त होना चाहिये.	१३९	१४५	देना....	१४३	१७६
वेदआदि पढनेको फल.	१३९	१४७	हाथपैरोंकी चपलताको निषेध.	१४३	१७७
अष्टकाश्राद्धआदि अवश्य क-			आपने कुलकी मार्ग चलना		
रना चाहिये...	१३९	१५०	चाहिये....	१४३	१७८
अग्निगृहसे दूर मूत्र आदिको			ऋत्विक् आदिकोंसे विवाद नहीं		
त्यागना....	१४०	१५१	करै....	१४४	१७९
पूर्वाह्नमें स्नान पूजन आदि			ए विवाद त्यागनेको फल....	१४४	१८१
करना चाहिये....	१४०	१५२	दान लेनेकी निंदा....	१४५	१८६
पर्वोंमें मूर्तिआदिकोंको दर्शन			विना विधि जाने दान नहीं		
करै....	१४०	१५३	लेवै....	१४५	१८७
घरमें आयेहुये वृद्धोंको सत्कार			मूर्खको सुवर्णआदि दान लेनेमें		
करना चाहिये....	१४०	१५४	दोष है....	१४५	१८८
श्रुतिस्मृतिसे कहेहुये आचारको			विडालवृत्तिवाले आदि ब्राह्म-		
करना चाहिये....	१४०	१५५	णोंको पानीभी नहीं देवै.	१४५	१९२
आचारको फल.	१४०	१५६	विडालवृत्तिके लक्षण.	१४६	१९५
दुष्ट आचरणकी निंदा.	१४०	१५७	वकवृत्तिके लक्षण....	१४६	१९६
आचारकी प्रशंसा....	१४०	१५८	ये दोनोंकी निन्दा....	१४६	१९७
पराधीन कर्म नहीं करना....	१४१	१५९	धर्मको मिसकरके पाप नहीं		
प्रसन्नतासे कर्म करना.	१४१	१६१	करना....	१४६	१९८
आचार्यआदिकी हिंसा नहीं करै.	१४१	१६२	कपटकरके व्रत नहीं करना....	१४६	१९९
नास्तिकपनेआदि नहीं करै....	१४१	१६३	कपटसे दंडआदि धारणमें दोष.	१४७	२००

प्रकरण.	पृ० श्लो०
दूसरेके जलाशयमें स्नानको निषेध.....	१४७ २०१
विना दीहुई शवारीआदिको निषेध.....	१४७ २०२
नदीआदिमें स्नान करना....	१४७ २०३
संयमनियम नित्य करना....	१४७ २०४
अश्रोत्रिय आदिकोंकी यज्ञमें भोजनको निषेध.....	१४७ २०५
मदोन्मत्त आदिके अन्नको कभी- भी भोजन नहीं करै....	१४८ २०७
रजस्वलाआदिसे छुये अन्नको भोजन नहीं करै.	१४८ २०८
गौसे संध्या वेस्याआदिके अन्न- को निषेध.	१४८ २०९
चोरआदिकोंके अन्नको निषेध.	१४८ २१०
राजाके अन्नआदिको निषेध.	१४९ २१८
तिनके अन्न भोजनमें प्रायश्चित्त.	१५० २२२
शूद्रके पक्वान्नको निषेध.	१५० २२३
कृपणआदिके अन्न समान हैं.	१५० २२४
व्याजवालेका अन्न श्रद्धासे दिया पवित्र है....	१५० २२५
श्रद्धासे यज्ञआदि करै.	१५१ २२६
श्रद्धासे दानको फल....	१५१ २२७
जल भूमि आदिके दानको फल....	१५१ २२८
वेदके दानकी प्रशंसा.	१५२ २३३
कामनासे दानको फल.	१५२ २३४
विधिसे लेनेदेनेको फल.	१५२ २३५
ब्राह्मणकी निन्दा आदिको नि- षेध....	१५२ २३६
झूठ बोलने आदिको फल....	१५२ २३७
धीरेधीरे धर्मको जोरै.	१५२ २३८
धर्मकी प्रशंसा....	१५३ २३९

प्रकरण.	पृ० श्लो०
उत्तम पुरुषोंसे संयोग करै ही- नोंसे नहीं....	१५३ २४४
फल मूल आदि सबसे लैलेना चाहिये....	१५४ २४७
भिक्षाग्रहणकी विधि	१५४ २४८
भिक्षा न लेनेको निषेध....	१५४ २४९
विना मांगेसे मिलै उसको लौ- टावै नहीं....	१५४ २५०
कुटुम्बार्थ भिक्षा....	१५४ २५१
आपने लिये अच्छी भिक्षा करनी.	१५४ २५२
भोजनके योग्य शूद्र....	१५५ २५३
शूद्र आपना सब हाल कहै....	१५५ २५४
झूठ बोलनेमें निन्दा....	१५५ २५५
योग्य पुत्रको कुटुम्बको भार देना....	१५५ २५७
ब्रह्मको चिंतन....	१५५ २५८
इस गृहस्थकी वृत्तिको फल.	१५६ २६०
अध्याय पांचवा ५.	
मनुष्योंकी अल्पकालमें मृत्यु क्यों होजाती है....	१५६ २
मृत्यु होनेके हेतु कहते हैं....	१५६ ३
लहशुनआदि अभक्ष्य पदार्थ कहते हैं....	१५७ ५
वृथा मांस आदिको निषेध....	१५७ ७
इतने दूध अभक्ष्य हैं.	१५७ ८
शूक्तआदिसे युक्त दधिभक्ष्य हैं.	१५७ १०
अभक्ष्यपक्षियोंको कहते हैं....	१५८ ११
सूखे मांस आदिको निषेध....	१५८ १३
गांवके शूकरआदि मछली न- हीं खावे....	१५८ १४
मछली खानेकी निन्दा.	१५८ १५
खानेके लायक मछलियोंको कहते हैं....	१५८ १६

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
सांप बन्दरआदि नहीं खावे.	१९९	१७	गुरूके मरनेमें अशौच.	१६६	६९
खानेके लायक पांच नखवाले			गर्भपातमें रजस्वलामें शुद्ध हो-		
जानवरोंको कहते हैं....	१९९	१८	नेकी विधि....	१६६	६६
लहशुनआदिके भक्षणसें द्विज			बालकआदिको अशौच.	१६६	६७
पतित होजाता है.	१९९	१९	दोवर्षके अंदरके बालकको ज-		
यज्ञके अर्थ पशुहिंसा करनी चा-			मीनमें खोदके गाडदेना.	१६६	६८
हिये....	१९९	२२	इस बालकको अग्निसंस्कारआदि		
मोदकआदि बाशीभी खावे....	१९९	२४	नहीं करना चाहिये....	१६६	६९
मांस खानेकी विधि....	१६०	२७	तीन वर्षके बालकको जलआदि		
यज्ञके निमित्त मांसको खावै.	१६१	३१	देनेकी विधि....	१६६	७०
वृथा मांस खानेको निषेध है.	१६१	३३	सहपाठीके मरनेमें अशौच....	१६६	७१
विधियुक्त मधुपर्कआदिमें मांस			वाग्दानके पीछे मरनेमें अशौच.	१६७	७२
खावै....	१६१	३५	हविष्य भक्षणआदि कहते हैं.	१६७	७३
मंत्रोंके संस्काररहित मांसको			परदेशीको अशौच....	१६७	७५
नहीं खावै....	१६१	३६	आचार्य तथा आचार्यके स्त्रीपु-		
यज्ञके अर्थ पशु मारनेकी प्रशंसा.	१६२	३९	त्रके मरनेमें अशौच....	१६८	८०
पशु मारनेके समयोंको नियम.	१६२	४१	वेदपात्र तथा मामाआदिके म-		
वेदमें नहीं कहीहुई ऐसी हिंसा			रनेमें अशौच....	१६८	८१
नहीं करनी....	१६२	४३	राजा अध्यापकआदिकोंके म-		
आपने सुखकी इच्छासे जीव-			रनेमें अशौच....	१६८	८२
हिंसाको निषेध....	१६३	४५	चारौ वर्णोंके अशौचके दिनों-		
जो जीवोंको वध तथा बंधन			की संख्या....	१६८	८३
नहीं करता उसकी प्रशंसा.	१६३	४६	अग्निहोत्रके अर्थ स्नानमात्रसेंही		
मांसको वर्जित करै....	१६३	४८	शुद्ध होता है....	१६८	८४
पशुवोंके घातक कहते हैं....	१६४	५१	चांडालआदिके छूनेमें अशौच.	१६९	८५
मांस न खानेवालेको फल....	१६४	५३	अशौचके देखनेकी शुद्धि....	१६९	८६
अव सूतकविधि कहते हैं....	१६४	५८	मनुष्यकी हड्डी छूनेमें अशौच.	१६९	८७
सातवीं पीढ़ीमें सर्पिडधर्म छूट-			ब्रह्मचारीव्रत समाप्त कियेविना		
जाता है....	१६५	६०	कुछ प्रेतकर्म न करै....	१६९	८८
जन्ममें अस्पृश्य अशौच माता-			पतितआदिकोंको जलदानभी		
को है....	१६५	६२	न देवै....	१६९	८९
वीर्य निकलनेमें अशौच....	१६५	६३	जारिणी स्त्रीआदिकोंको जल-		
मुर्दाके छूनेमें अशौच....	१६५	६४	दानभी नहीं देवै,	१६९	९०

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
पिताआदिकोंकी क्रिया करनेसे			घृत तेल शय्या काष्ठ इन्होंकी		
ब्रह्मचारीके व्रतको नाश			शुद्धि कहते हैं....	१७३	११९
नहीं होता है....	१७०	९१	यज्ञके पात्रोंकी शुद्धि....	१७३	११६
ब्राह्मणआदिके मुर्दोंको पूर्वआदि			धान्य और वस्त्रोंकी शुद्धि....	१७४	११८
द्वारसे निकाले....	१७०	९२	चमड़ा चटाई शाक मूल फल		
राजाआदिकोंको सूतक नहीं			इन्होंकी शुद्धि....	१७४	११९
लागता....	१७०	९३	कम्बलआदि पटवस्त्रोंकी शुद्धि		
राजा तत्काल शुद्ध होजाता है	१७०	९४	कहते हैं....	१७४	१२०
विजलीआदिसे मरेहुवेनको			शंख शींग हाथीदांत इन्होंकी		
सूतक नहीं लागता....	१७०	९५	शुद्धि....	१७४	१२१
राजाको सूतक नहीं लागता			टण काष्ठ घर मट्टीके वर्तन		
तथा स्तुति....	१७०	९६	इन्होंकी शुद्धि....	१७४	१२२
क्षात्रधर्मसे मरेहुवेकी तत्काल			मदिराआदिकोंसे अशुद्ध मट्टीको		
शुद्धि है....	१७१	९८	वर्तन नहीं शुद्ध होता है.	१७५	१२३
अशौचके अंतकी कृत्य	१७१	९९	जमीनकी शुद्धि	१७५	१२४
असपिंडोंको अशौच....	१७१	१००	पक्षीआदिकोंसे खायाहुवा अन्न-		
असपिंड पुरुषकी क्रिया करनी			की शुद्धि....	१७५	१२५
चाहिये....	१७१	१०१	दुर्गंधलेपयुक्त द्रव्यकी शुद्धि.	१७५	१२६
अशौचवालेके अन्न भक्षणमें	१७१	१०२	ब्राह्मणोंको ए तीन पवित्र कहे हैं.	१७५	१२७
मुर्देकेसाथ जानेमें अशौच....	१७२	१०३	जलोंकी शुद्धि....	१७५	१२८
ब्राह्मणके मुर्देको शूद्रोंसे नहीं			नित्य शुद्धोंको कहते हैं.	१७५	१२९
उठवावे....	१७२	१०४	स्पर्शमें ए नित्य शुद्ध हैं.	१७६	१३२
ज्ञानआदि शुद्धिके साधन हैं	१७२	१०५	मल मूत्र आदि त्यागनेमें शुद्धि.	१७६	१३४
द्रव्यके शौचकी प्रशंसा.	१७२	१०६	अब बारा प्रकारके मलोंको		
क्षमा दान जप तपस्या ए शुद्ध			कहते हैं.	१७६	१३५
करनेवाले हैं....	१७२	१०७	मट्टी जलके ग्रहणको नियम.	१७६	१३६
मलआदिसे दूषित वस्तु नदी			गृहस्थोंसे ब्रह्मचारी आदिकोंकी		
स्त्री इन्होंकी शुद्धि.	१७२	१०८	दूनीआदि शुद्धियां हैं....	१७७	१३७
अंग मन आत्मा बुद्धि इन्होंकी			आचमनकी विधि....	१७७	१३९
शुद्धि कहते हैं....	१७३	१०९	शूद्रोंको एक महीनेमें मुंडन		
द्रव्योंकी शुद्धि कहते हैं.	१७३	११०	ब्राह्मणोंके उच्छिष्टको भो-		
सुवर्णआदि धातु तथा मणियों-			जन करै....	१७७	१४०
की शुद्धि....	१७३	१११			

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
मुखमें मोछा आदि गये अशुद्ध नहीं.	१७७	१४१	चर्म चीर जटाआदिको धारण करै.	१८२	६
पावोंमें पड़ेभी आचमनके बिंदु पवित्र हैं....	१७७	१४२	अतिथिकोभी मूलफलादिकोंसे मानै....	१८३	७
उच्छिष्ट द्रव्योंसे स्पर्श कियेहुवे गहनाकी शुद्धि कहते हैं	१७८	१४३	वानप्रस्थके नियम....	१८३	८
वमन मैथुन करनेपर शुद्धि....	१७८	१४४	मधुमांस आदिको वर्जित करै.	१८३	१४
निद्रा छीकनें भोजन आदिकर- के शुद्धि....	१७८	१४५	आश्विनमहिनेमें संचित नीवार आदिको त्यागना.	१८४	१५
अब स्त्रियोंके धर्म कहते हैं....	१७८	१४६	जोतेहुये खेतोंके अन्नआदिको त्यागदेवै....	१८४	१६
स्त्री आपनी मर्जीसे कुछ नहीं करै....	१७८	१४७	अश्मकुट्टआदि कहे हैं....	१८४	१७
स्त्री किसके वसमें रहती है इसमें कहते हैं....	१७८	१४८	नीवारआदिके संचयको नियम.	१८४	१८
स्त्रीको सदा प्रसन्न रहना चाहिये	१७९	१५०	भोजनके समयके नियम....	१८४	१९
पतिकी सेवा करनी....	१७९	१५१	भूमिमें लोटनेआदि....	१८५	२२
पतिकी स्वामित्व होनेका कारण कहते हैं....	१७९	१५२	ग्रीष्मआदि ऋतुओंमें पञ्चाग्नि- आदि कृत्य करै....	१८५	२३
पतिकी प्रशंसा....	१७९	१५३	आपनी देह सुखादेवै.	१८५	२४
स्त्री न्यायी यज्ञआदि नहीं करै	१७९	१५५	अग्निहोत्रकी समाप्तीआदि कर्म.	१८५	२५
पतिको अप्रिय न करै.	१७९	१५६	वृक्षोंके मूलमें जमीनमें सोने- आदि....	१८५	२६
विधवा स्त्रीको धर्म.	१८०	१५७	भिक्षा लेनेके नियम....	१८६	२७
परपुरुषगमनकी निंदा.	१८०	१६१	उपनिषदोंकी पाठ करै.	१८६	२९
पतिव्रताके धर्मको फल.	१८१	१६५	महाप्रस्थान....	१८६	३१
पतिव्रता स्त्रीको दाह वेदकी विधिसे करै.	१८१	१६७	संन्यास लेनेको काल.	१८७	३३
दूसरा विवाह करनेकी विधि.	१८१	१६८	आश्रमसे आश्रममें जाना....	१८७	३४
गृहस्थके समयकी अवधि....	१८१	१६९	तीनों ऋणोंको दूरकरके सं- न्यास लेवै....	१८७	३५
अध्याय छठवां ६.			विना पुत्र उत्पन्न किये संन्यास नहीं लेवै....	१८७	३६
अब वानप्रस्थ आश्रमको कहते हैं.	१८२	१	प्राजापत्य यज्ञकरके संन्यास धारण करै....	१८७	३८
सपत्नीक वनमें वसै....	१८२	३	अभयदानको फल....	१८७	३९
फलमूलोंसे पञ्चमहायज्ञको क- रना....	१८२	५			

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
निरपेक्ष होके संन्यास धारण			संन्यासधारणको फल....	१९९	८९
करै.....	१८८	४१	वेदसंन्यासियोंके कर्म....	१९९	८६
मोक्षकेलिये अकेलाही विचरै.	१८८	४२	चार आश्रम....	१९९	८७
परित्राजकके नियम....	१८८	४३	सब आश्रमोंके फल....	१९९	८८
जीवन्मुक्त पुरुषको लक्षण....	१८८	४४	गृहस्थकी श्रेष्ठता....	१९९	८९
जीवनकीभी इच्छा नहीं रखे.	१८८	४५	दशप्रकारको धर्म सेवनकी		
संन्यासीको आचार.	१८८	४६	योग्य है....	१९९	९१
ऐसे उद्योगोंसे भिक्षा नहीं लेनी.	१८९	५०	दशप्रकारके धर्म कहते हैं....	१९९	९२
दंडकमंडलुआदि चिन्ह.	१८९	५२	दशप्रकारके धर्मको फल....	१९६	९३
भिक्षा मांगनेके पात्र....	१८९	५३	वेदहीको अभ्यास करना....	१९६	९५
एकवार भिक्षा लेना.	१९०	५५	वेदसंन्यासको फल....	१९६	९६
भिक्षाको काल....	१९०	५६	अध्याय सातवां ७.		
भिक्षाके मिलनेमें आनन्द न			अब राजधर्म कहते हैं....	१९७	१
मिलनेमें दुःख नहीं करने.	१९०	५७	कृतसंस्कार राजाको प्रजावोंको		
पूजनपूर्वक भिक्षाको निषेध है.	१९०	५८	रक्षण करना चाहिये....	१९७	२
इन्द्रियोंको रोंके....	१९०	५९	रक्षाकेवास्ते इन्द्रादिकोंके अं-		
संसारकी गतियोंको कथन....	१९१	६१	शसे राजाकी उत्पत्ति....	१९७	३
सुखदुःखके धर्मअधर्म हेतु हैं.	१९१	६४	राजाकी प्रशंसा....	१९७	६
वेषमात्रहीधर्मको कारण नहीं है.	१९१	६६	राजाकी शत्रुता करनेवालेकी		
जमीनको देखके चलना....	१९२	६८	निन्दा....	१९८	१२
अज्ञानसे जीवहिंसाको प्राय-			राजाके स्थापित किये धर्मको		
श्चित्त....	१९२	६९	न छोड़ै....	१९८	१३
प्राणायामकी प्रशंसा....	१९२	७०	दंडकी उत्पत्ति....	१९८	१४
ध्यानसे आत्माको देखै.	१९३	७३	यथायोग्य दंड देना....	१९९	१६
ब्रह्मको साक्षात्करके मोक्ष			दंडकी प्रशंसा.	१९९	१७
होता है....	१९३	७४	बेविचारसे दंड देनेमें निषेध है.	१९९	१९
मोक्षके साधनके कर्म.	१९३	७५	दंड देनें योग्योंमें दंड न कर-		
देहको स्वरूप....	१९३	७६	नेमें निन्दा....	१९९	२०
देहके त्यागनेमें दृष्टान्त....	१९३	७८	फिर दंडकी प्रशंसा.	२००	२२
प्रिय और अप्रियोंमें पुण्यपापको			दंड करनेवाला कैसा होना.	२००	२६
त्यागना....	१९४	७९	अधर्मसे किया दंड राजाको		
विषयोंकी इच्छा नहीं करनी.	१९४	८०	नाश करता है....	२०१	२८
आत्माको ध्यान करना.	१९४	८२			

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
मूर्खआदि राजाओंसे धर्म नहीं			ब्राह्मणमंत्रीसे सलाह लेना चा-		
चलशक्ता.....	२०१	३०	हिये.....	२०९	९८
सत्यसंधआदि राजा दंड कर-			औरभी मंत्री करै.....	२०९	९०
नेकी योग्य है.....	२०१	३१	रनवासआदिके स्वामी.....	२०६	६२
शत्रु मित्र ब्राह्मण आदिकोंमें			दूतको लक्षण.....	२०६	६३
दंडकी विधि.....	२०१	३२	सेनापतिआदिकोंके काम.....	२०६	६५
न्यायी राजाकी प्रशंसा.....	२०१	३३	दूतकी प्रशंसा.....	२०६	६६
अन्यायी राजाकी निन्दा.....	२०१	३४	दूसरे राजाको कर्म दूतसे जानै.	२०७	६८
राजाको विद्वान् ब्राह्मणआदि-			जांगलदेशमें वास करै.....	२०७	६९
कोंकी सेवा.....	२०२	३७	दुर्गोंके प्रकार.....	२०७	७०
राजा नम्रताको धारण करै.....	२०२	३९	अन्नअस्त्रादिकोंसे पूरित दुर्ग		
कठोर राजाकी निन्दा.....	२०२	४०	बनावै.....	२०८	७५
यहांपर दृष्टांत कहते हैं.....	२०३	४१	सुन्दरी भार्याको विवाह करै.....	२०८	७७
नम्रतासे राज्यआदि मिलनेको			पुरोहितादि बनावै.....	२०८	७८
दृष्टांत.....	२०३	४२	यज्ञआदिको करना.....	२०९	७९
राजाको विद्या पढनी चाहिये.	२०३	४३	कर लेनेकी विधि.....	२०९	८०
इन्द्रियनको जीते.....	२०३	४४	अफसरोंको करै.....	२०९	८१
कामक्रोधसे उठे व्यसनोंको			ब्राह्मणोंको जीविकादान देना		
त्याग.....	२०३	४५	चाहिये.....	२०९	८२
कामसे उत्पन्न दश १० व्यस-			ब्राह्मणोंको जीविका दान दे-		
नोंको कहते हैं.....	२०३	४७	नेकी प्रशंसा.....	२०९	८३
क्रोधसे उत्पन्न हुवे आठ व्य-			पात्रमें दान देनेको फल.....	२०९	८५
सनोंको कहते हैं.....	२०४	४८	संग्राममें बुलायाहुवा लौटे नहीं.	२१०	८७
कामक्रोधको मूल लोभ है ति-			युद्धमें सन्मुख मरणसे स्वर्ग		
सको जीतना.....	२०४	४९	होता है.....	२१०	८९
अत्यंत दुःख देनेवाले व्यस-			कूट अस्त्रोंको निषेध.....	२१०	९०
नोंको कहते हैं.....	२०४	५०	संग्राममें इनको नहीं मारै.....	२१०	९१
व्यसनकी निन्दा.....	२०४	५३	डरेआदिकोंके मारनेमें दोष है.	२११	९४
मंत्रियोंको कहते हैं.....	२०४	५४	संग्राममें भगेके मारनेमें दोष है.	२११	९५
संधिविग्रहआदिकी चिंता.....	२०५	५६	जिसनें जो धन जीता सो उ-		
मंत्रियोंसे विचारकरकै हित			सीका है.....	२११	९६
करना.....	२०५	५७	राजाको श्रेष्ठ वस्तु देना चाहिये.	२११	९७
			धनको बढ़ावै.....	२१२	९९

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
नहीं जीती वस्तुको जीतनेकी		
इच्छा करै....	२१२	१०१
नित्य हाथी घोड़े पैदरोंको		
शिखावै....	२१२	१०२
राजा नित्य उद्यत दंड होवै.	२१२	१०३
मंत्रियोंसे छल कभीभी न करै.	२१२	१०४
राजा आपने छिद्रोंको छिपावै.	२१३	१०५
प्रयोजनआदिकोंकी चिंता....	२१३	१०६
विजयके विरोधियोंको आपने		
बसमें करै....	२१३	१०७
साम दंडकी प्रशंसा....	२१३	१०९
राज्यकी रक्षा....	२१३	११०
प्रजावोंको कष्ट देनेमें दोष....	२१४	१११
प्रजावोंके रक्षणमें सुख....	२१४	११३
थाना तहसीलआदि स्थापन		
करै....	२१४	११४
ग्रामके दोष कहने....	२१४	११६
ग्रामाधीशकी वृत्ति....	२१४	११८
ग्रामके कार्योंको अन्य मंत्री देखै.	२१५	१२०
नगरनगरमें अर्थचित्त करै.	२१५	१२१
तिनको चरित राजा आपही		
दूतद्वारा जाने....	२१५	१२२
राजा लांच खानेवाले नौकरोंसे		
प्रजावोंको रक्षण करै....	२१५	१२३
दूतआदिकोंकी जीविका अर्थात्		
रोजीना करै....	२१६	१२५
बनियासे कर लेना....	२१६	१२७
थोडा थोडा कर लेना चाहिये.	२१६	१२९
धान्यआदिमें कर लेनेको नियम.	२१६	१३०
वेदपाठी ब्राह्मणसे कर नहीं		
लेवै....	२१७	१३३
वेदपाठीको जीविका देनी चा-		
हिये....	२१७	१३४

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
शाकआदि बेंचनेवालोंसे थोडा		
कर लेवै....	२१७	१३७
बढई लोहारआदिकोंसे राजा		
काम करवा लेवै....	२१८	१३८
कर नहीं लेने तथा बहुत लेने-		
को निषेध....	२१८	१३९
राजा काम देखके तेज और		
मुलायम होवैं....	२१८	१४०
आप अस्वस्थ होवै तौ मंत्री		
राजकाज करै....	२१८	१४१
चोरोंको पकडना चाहिये....	२१८	१४३
प्रजावोंका पालन करना यही		
राजाका परमधर्म है....	२१८	१४४
कचहरीमें जानेका समय....	२१९	१४५
सलाह एकान्तमें करनी....	२१९	१४७
सलाहके समयमें स्त्रीआदिकों-		
को हटवादेवै....	२१९	१४९
धर्म अर्थ कामोंको विचार करै.	२२०	१५१
दूतके पठावनेआदिको विचार.	२२०	१५३
प्रकृति बारह प्रकारकी कही है.	२२०	१५६
शत्रुकी प्रकृतिकों जानै.	२२१	१५८
सामदानआदि छे गुण.	२२१	१६०
संधिआदिकोंके प्रकार.	२२१	१६२
संधिविग्रहआदिकोंको काल....	२२३	१६९
आपनेसे बलवान् राजाकी सेवा		
करै....	२२३	१७५
आत्माको अधिक करै.	२२४	१७७
आवते गुणदोषोंकी चिंता....	२२४	१७८
राजाकी संक्षेपनीति....	२२४	१८०
शत्रुके देशमें चढाईकी विधि.	२२४	१८१
शत्रुकी सेवा करता मित्रसे		
होसियार रहना....	२२५	१८६
व्यूहोंकी रचना....	२२५	१८७

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
जलआदिमें लडनेकी रीति.	२२६	१९२	अठारह प्रकारके विवाद कह-		
युद्धमें आगे करनेलायक मनुष्य.	२२६	१९३	ते हैं....	२३२	४
फौजकी परीक्षा....	२२६	१९४	धर्मको आश्रय करके निर्णय		
शत्रुके देशको पीडा देना चाहिये.	२२७	१९५	करै....	२३२	८
शत्रुके मंत्रीआदिकोंको मारना.	२२७	१९७	अपाना अशक्त होवै तौ विद्वा-		
कोई उपाय नहीं होवै तब			नको नियुक्त करै....	२३३	९
युद्ध करै....	२२७	२००	वह ब्राह्मण और तीन ब्रा-		
राजा जीतके ब्राह्मणोंको पूजन			ह्मणोंसे युक्त हो राजाको		
करै रैयतको अभय देदेवै.	२२७	२०१	कार्य देखै....	२३३	१०
तिसके वंशवालेको तिसकी रा-			तिस सभाकी प्रशंसा....	२३३	११
ज्य देना चाहिये....	२२७	२०२	अधर्ममे सभासदोंको दोष....	२३३	१२
करग्रहणआदि....	२२८	२०६	सभामे सत्यही बोलै....	२३३	१३
मित्रकी प्रशंसा....	२२८	२०७	झूठसे सभासद नष्ट हो जाते		
शत्रुके गुण....	२२९	२१०	हैं....	२३३	१४
उदाशीनके गुण....	२२९	२११	धर्मको नाश नहीं करै.	२३४	१५
आपनी रक्षाके लिये भूमि-			दुष्ट व्यवहारसे राजाआदिकोंको		
आदिको त्याग देवै.	२२९	२१२	अधर्म होता है....	२३४	१८
विपत्तिकालमे उपायोंको चि-			मुद्ई मुदाइलोंको पाप.	२३४	१९
तमन करै	२२९	२१४	शूद्रको इन्साफ करनेवाला क-		
राजाके भोजनको काल	२३०	२१६	भीभी नहीं करै....	२३४	२०
अन्नआदिकी परीक्षा	२३०	२१७	देशमें नास्तिकआदि बढ़ने		
विहारको समय....	२३०	२२१	नहीं पावैं....	२३५	२२
हथियार आदिको देखै	२३१	२२२	लोकपालोंको प्रणामकरके राजा		
संध्योपासन करके दूतके किये-			मुकदमा करै....	२३५	२३
हुवेको सुनै....	२३१	२२३	ब्राह्मणआदि क्रमसे मुकदमा		
रात्रिमें भोजन आदि	२३१	२२४	देखैं....	२३५	२४
अस्वस्थ राजा मंत्रीको राजका-			राजा बाहरके चिन्होंसे मनुष्यों-		
ज सौंपै....	२३१	२२६	को मतलब जानै.	२३५	२५
आध्याय आठवां ८.			नाबालकके धनको राजा र-		
व्यवहार देखनेको सभामे प्रवे-			क्षण करै....	२३६	२७
श करै....	२३२	१	विधवाआदि स्त्रियोंके धनको		
कुलशास्त्र आदिकोंसे कामको			राजा रक्षा करै....	२३६	२८
देखै....	२३२	३	बिना पुत्रवाली स्त्रियोंके धन-		

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
को लेनेवालोंको राजा शि- क्षा देवै....	२३६	२९	मुद्दई मुद्दाइलोंको झूठ बोलनेमें दंड....	२४०	५९
बिना मालिकके धनके रक्षणको काल....	२३६	३०	ऋणी जो झूठ बोलै तौ धनी साक्षी देके सच्चा करै....	२४०	६०
यह मेरा धन है ऐसे बोलनेवा- लेसे धनकी संख्याआदि लक्षण पूछै....	२३६	३१	गवाहोंके लक्षण....	२४१	६१
ना बोलै तौ दंड देवै.	२३६	३२	ऐसे गवाह नहीं देने.	२४१	६४
नष्ट धनसे राजा छठा हिस्सा आदि लेवै....	२३७	३३	स्त्रीआदिकोंके स्त्रीआदि गवाह होने चाहिये....	२४२	६८
चोरको हाथीके नीचे दबवा- के मारडालै....	२३७	३४	फौदारीके मुकदमोंमें झगडनेवा- लोंहीकी साक्षी लेवै....	२४२	६९
निधिआदिमें राजा छठवां तथा बारहवां भाग लेलेवै....	२३७	३५	बालकआदिकोंकी साक्षी.	२४२	७०
पराये धनको अपना बताने- वालेको दंड देनेकी विधि. २३७	३६		सहसा कर्ममें गवाहोंकी परीक्षा नहीं लेना....	२४२	७२
ब्राह्मण खजाना पायके राजा- को कुछ नहीं देवै.	२३७	३७	गवाह दो तरके बयान करै तौ बहुमतको लेना.	२४३	७३
राजा गडेहुवे धनको पायके आधा ब्राह्मणको देवै....	२३७	३८	साक्षीके सत्य बोलनेको फल. २४३	७४	
चोरीको धन राजा चोरोंसे छीनके धनके मालिकको देदेवै....	२३८	४०	झूठी गवाही देनेमें दोष....	२४३	७५
जाति देश कुल धर्मआदि देख- के राजा राजधर्म चलावै. २३८	४१		अकृत साक्षीको लक्षण.	२४३	७६
राजा आपसे झगडा उत्पन्न नहीं करावै....	२३८	४३	धर्मात्मा एकभी साक्षी होता है. २४३	७७	
राजा सत्यआदिको देखै....	२३८	४५	आपने स्वभावसे कहेहुवे साक्षी- के वचन लेने....	२४३	७८
सदाचारको लेके निर्णय करै. २३८	४६		गवाहोंसे पूछनेकी विधि....	२४४	७९
ऋणी धनीको व्यवहार.	२३९	४७	गवाहोंको सत्य बोलना चाहिये. २४४	८१	
मुकदमा हारनेके लक्षण....	२४०	५३	एकांतमें किये कर्मको आत्मा- ही जानता है....	२४४	८४
अर्जी देके फिर हाजीर न होवै तौ दंडके योग्य है.	२४०	५८	ब्राह्मणआदि गवाहोंसे पूछनेकी रीत....	२४५	८७
			झूठ बोलनेमें दोष....	२४५	८९
			गंगादि तीर्थोंसे पाप दूर होते हैं तथा सत्यकी प्रशंसा....	२४५	९२
			झूठ बोलनेको नियम फल....	२४६	९३
			फिर सत्य बोलनेको फल....	२४६	९६
			झूठ बोलनेवालेकी निंदा....	२४६	९७

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
निन्दित ब्राह्मणोंसे शूद्रके पूँछ- नेकी तरह पूँछै....	२४७	१०२
दयासे झूठ बोलनेमें दोष नहीं.	२४७	१०३
झूठ बोलनेमें प्रायश्चित्त है....	२४८	१०५
डेढ महीनेतक साक्षी न देवै तौ हारजावै....	२४८	१०७
साक्षीके भंग होनेमें....	२४८	१०८
बिनासाक्षीके मुकदमेमें कसम लेके इन्साफ करै....	२४८	१०९
झूठी कसममें दोष है.	२४८	१११
झूठी कसममें दोष नहीं है....	२४८	११२
ब्राह्मणआदिकोंसे सत्यआदिकी कसम करावै....	२४९	११३
शूद्रसे कसम लेनेकी रीत....	२४९	११४
कसममें सच्चा जाननेकी रीत.	२४९	११५
झूठी गवाहीमें फिर सही करै.	२४९	११७
लोभआदिसे झूठी गवाहीमें विशेष दंड....	२४९	११८
दंडके हाथआदि दश स्थान हैं.	२५०	१२४
अपराधको देखके दंड करना.	२५१	१२६
अधर्मसे दंड करनेमें निंदा होती है....	२५१	१२७
दंड देने लायकके छोड़नेमें निन्दा है....	२५१	१२८
बागदंडआदि देवै....	२५१	१२९
त्रसरेणुआदि परिमाणोंको क- हते हैं....	२५१	१३१
प्रथम मध्य उत्तम साहसोंको कहते हैं....	२५२	१३८
कर्जदारको दंड देनेको नियम.	२५३	१३९
व्याज लेनेकी रीत....	२५३	१४०
गिरौं रखनेमें व्याज लेनेकी रीत....	२५३	१४३

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
कपडेआदि गिरौंकी चीजको नहीं बापरै....	२५३	१४४
पृथ्वीआदि गिरौंकी चीजकी मियाद नहीं जब चाहै तब छुटालेवै....	२५४	१४५
गौआदि गिरौंके जानवरोंको भोगनेसेभी मालिककी मा- लिकी नहीं जाती.	२५४	१४६
दशवर्षमें गहनको लहन हो- जाता है....	२५४	१४७
बालकआदिको धन भोगनेसे- भी नष्ट नहीं होता.	२५४	१४९
बलसे गिरौंकी वस्तुको भोगने- से आधी व्याज लेना....	२५४	१५०
दूनेसे ज्यादा व्याज नहीं बाढती.	२५५	१५१
व्याज लेनेके प्रकार....	२५५	१५२
कागद बदलनेकी रीत.	२५५	१५४
व्याजकी व्याज लेनेकी रीत.	२५५	१५६
जामीनदारसे रुपये लेना....	२५६	१५८
जामिनआदिको रुपया लडके नहीं देवैं....	२५६	१६९
जामिनदारके मरेपीछे धनी कि- स्से रुपये लेवै....	२५६	१६२
उन्मत्तआदिकोंकी बातकी प्र- माण नहीं....	२५७	१६३
कुटुम्बकेवास्ते लिये कर्जाको पुत्रआदि देवैं....	२५७	१६६
जवरदस्तीसे लिखाया इष्टाम गलित है....	२५७	१६८
किसीकी जामिन न कहनी....	२५७	१६९
न लेनेकी योग्य वस्तुको रा- जा कभी न लेवै.	२५७	१७०

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
लेनेकी योग्यको छोडनेमें दो-		
ष है....	२९८	१७१
निर्वर्लोंकी रक्षा करनी.	२९८	१७२
अधर्मसे कार्य करनेमें दोष.	२९८	१७४
धर्मकरके कार्य करना.	२९८	१७५
राजा ऋणी धनीमें किसीको		
पक्ष न करै....	२९८	१७६
ऋणी रुपया न देसके तौ		
काम कराके उसूल करना.	२९९	१७७
धरोहर रखनेको प्रकार....	२९९	१७९
धरोहरको साक्षी न होवै ति-		
सको निर्णय....	२९९	१८२
धरोहर देनेकी रीत....	२६०	१८५
आपसे धरोहर देनेमें राजाका		
जोर नहीं....	२६०	१८६
धरोहर लेनेकी यत्न....	२६०	१८८
चोरीआदिमें गई धरोहरको		
निर्णय....	२६०	१८९
धरोहरके मुकदमेमें कसम लेना.	२६१	१९०
धरोहरमें झूठको चोरकीतुल्य दंड		
देना....	२६१	१९१
छलसे धन हरनेमें....	२६१	१९३
धरोहरमें झूठ कहनेवालेको दंड.	२६१	१९४
धरोहरके लेनेदेनेकी रीत.	२६१	१९५
बिना मालिककी चीज बेचने-		
वालेको....	२६२	१९७
फायदेकी चीज खरीदनेकी		
प्रमाण....	२६२	२००
चोरीमें गई वस्तु बिक गई हो		
तिसके लेनेको कायदा....	२६२	२०२
और कन्याको दिखाके दूसरी-		
को विवाह देवे तिसमें		
निर्णय....	२६३	२०४

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
उन्मत्तआदि कन्या विवाह दे-		
वे तौ दंडको योग्य है....	२६३	२०५
पुरोहितको दक्षिणा देनेमें....	२६३	२०६
अध्वर्युआदिकी दक्षिणा.	२६४	२०९
कईक हिस्सेदार होवैं तौभी		
हिस्सेके हिसाबसे यज्ञकी		
दक्षिणा देवैं....	२६४	२११
कह्याहुवाभी धन नहीं देवै....	२६४	२१२
नौकरको हुकुम अडूली कर-		
नेमें दंड....	२६४	२१५
जानके निषिद्ध कर्म करने-		
वालोंकी व्यवस्था.	२६५	२१८
बेचने खरीदनेवालोंको माललौ-		
टानेमें दिनोंको नियम....	२६५	२२२
बिनाकहे दोषवती कन्याके		
देनेमें....	२६६	२२४
झूठा कन्यामें दोष लगानेमें.	२६६	२२५
दोषवती कन्याकी निंदा....	२६६	२२६
बिना सातवी भांवर फिरे भा-		
र्या नहीं होती....	२६६	२२७
अब स्वामी और पालको वि-		
वाद कहते हैं....	२६७	२२९
दूधकी तनखाह....	२६७	२३१
पशुपालके दोषसे पशूके नष्ट		
होनेमें....	२६७	२३२
चोर पशुवोंको लेजावे तिसमें.	२६७	२३३
जो अपने मौतसे पशु मरजावे		
तौ पशुपाल स्वामीको प-		
शुके शींगआदि दिखावै.	२६७	२३४
भेंडियाआदिके मारनेमें.	२६८	२३५
पशु अनाजको खाजावे तिसमें		
दंडको निर्णय....	२६८	२३८
डांड मेडके झगरेमें....	२६९	२४५

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
सीमामें वृक्षआदिको लगाना चाहिये....	२६९	२४६	कानेआदिको कानाआदि क-		
सीमाके निश्चयके लिये अन्य			हनेमें दोष....	२७३	२७४
गुप्त चिह्न बनावै....	२७०	२४९	माताआदिको कुवचन बोलनेमें		
पहिलेके भोगनेसे सीमाको			दंड....	२७४	२७५
निर्णय करै....	२७०	२५२	परस्पर कुवचन बोलनेमें दंड.	२७४	२७६
सीमाके साक्षी कहते हैं....	२७०	२५३	अब ताडनाआदिका निर्णय क-		
गवाहोंके बोलनेपरमानें सी-			हते हैं.	२७४	२७८
माको बांधै....	२७१	२५५	जो शूद्र जिसअंगसे ब्राह्मणआ-		
साक्षी लेनेकी विधि....	२७१	२५६	दिकोंको मारै तौ वहीवही अंग		
विपरीत बोलनेवाले गवाहोंको			काटना	२७४	२७९
दंड देना....	२७१	२५७	पादआदिसे मारनेमें	२७४	२८०
साक्षियोंके अभावमें चारों तर-			जो शूद्र ब्राह्मणके बैठनेकी इ-		
फके ग्रामोंके ज़मींदारोंकी			च्छा करै तौ उस शूद्रको		
साक्षी लेना....	२७१	२५८	दंड करना....	२७४	२८१
ए साक्षी झूठ बोलै तौ दंड			जो शूद्र धूकने आदिसे ब्राह्म-	२७५	३८२
करना....	२७२	२६३	णको अपमान करै तौ रा-		
घरआदिको हरलेवे तौ दंड			जा उसके ओष्ठआदि क-		
करना....	२७२	२६४	टालेवे....	२७५	२८२
राजा स्वयं सीमाको निर्णय करै.	२७२	२६५	जो शूद्र मारनेकेवास्ते ब्राह्मणके		
कठोर वचन बोलनेमें दंड			केशआदि पकड़े तौ हाथ		
कहते हैं....	२७२	२६६	कटालेने....	२७५	२८३
क्षत्रिय होके ब्राह्मणको कठोर			चमड़ा हड्डी आदि फोडनेमें	२७५	२८४
वचन कहै तिसमें दंड है.	२७२	२६७	वृक्षोंके काटनेमें	२७५	२८५
समवर्णवाले आपसमें खोटे			मनुष्योंको दुःखके अनुसार		
वचन बोलैं तौ उनको दंड.	२७३	२६९	दंड देना....	२७५	२८६
जो शूद्र होके द्विजको कठोर			घावआदि लगजानेमें....	२७५	२८७
बोलै तौ जिह्वा काटलेना.	२७३	२७०	वरतन आदिके नाश करनेमें	२७५	२८८
धर्मके उपदेश करनेवाले शूद्र-			चर्मआदिके वर्तन फोडनेमें....	२७६	२८९
को दंड....	२७३	२७२	शवारीआदिके दश नियमोंके		
और जो कोई उत्तम जातिवा-			उलंघनेमें....	२७६	२९०
लेको बेजाति बतलावे ति-			रथके स्वामीको दंड....	२७६	२९३
सको दंड....	२७३	२७३	भार्या आदिकोंकी ताडनकी		
			विधि....	२७७	२९९

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
इस्से अन्यथा मारनेमें दंड....	२७७	३००
अब चोरको दंडनिर्णय कह-		
ते हैं....	२७८	३०१
अभयदानको फल....	२७८	३०३
प्रजाओंके धर्मअधर्ममें छठा भाग		
राजाको मिलता है	२७८	३०४
बिना रक्षा किये कर लेनेकी		
निन्दा....	२७८	२०७
पापियोंके पकड़नेमें....	२७९	३१०
बालक वृद्ध आदिकोंमें क्षमा		
करनी....	२७९	३१२
ब्राह्मणके सोनाको चुरानेमें	२७९	३१४
शिक्षा न देनेमें राजाको दोष	२८०	३१६
दूसरेको पाप दूसरेको लागता है	२८०	३१७
राजाके दंडसे पाप छूटजाता है	२८०	३१८
रस्सीकी चोरी आदिमें	२८०	३१९
अन्नआदिकी चोरीमें....	२८०	३२०
सुवर्णआदिकी चोरीमें....	२८१	३२१
स्त्रीपुरुषआदिके हरनेमें	२८१	३२३
बड़े पशुओंके हरनेमें....	२८१	३२४
सूत कपासीआदिके हरनेमें....	२८१	३२६
हरेअन्नआदिके हरनेमें.....	२८२	३३०
बेहक खेतसे अन्नआदि हरनेमें	२८२	३३१
चोरीमें साहसको लक्षण....	२८२	३३२
अग्निके चोरीमें....	२८२	३३३
चोरके हाथआदि अंग काटने	२८२	३३४
पिताआदिकोंको दंड....	२८३	३३५
राजाको दंड....	२८३	३३६
जाननेवाले शूद्रआदिको अठ-		
गुणाआदि दंड....	२८३	३३७
इन्होंके हरनेमें चोरी नहीं है....	२८३	३३९
चोरको पुरोहित और चोर ए		
दोनो सदृशहैं....	२८३	३४०

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
मुसाफिर ब्राह्मण पराये खेतसे		
दोऊंखआदि ले लेवै कुछ		
दंड नहीं....	२८३	३४१
दास घोड़े आदिके हरनेमें ...	२८३	३४२
साहसको कहते हैं	२८४	३४४
साहसीको क्षमा करनेमें राजा		
शीघ्रही नाश होजाता है	२८४	३४६
द्विजातिको हथियार लेनेको		
काल....	२८४	३४८
सामने आतेहुवे मारनेवालेको		
बिना विचारसे मारना....	२८५	३५०
परस्त्रीके प्रसंग करनेवाले पुरुष		
के ओष्ठ नाक कान काट-		
के देशसे निकालदेवे....	२८५	३५२
पराई स्त्रीके संग एकांत बात		
करनेमें....	२८५	३५४
परस्त्री संग्रहण.	२८६	३५८
भिखारीआदि स्त्रियोंसे बात करै	२८६	३६०
जिसकों रोंकदिया हो वह नहीं		
बोलै....	२८६	३६१
नटआदिकोंकी स्त्रियोंसे बोलने-		
में दोष नहीं है.	२८६	३६२
कन्याको दूषित करनेवाला व-		
धकी योग्य है.....	२८७	३६४
जो पुरुष कन्याकी योनिमें		
अंगुली डालके दूषित करै		
उसकी दोनों अंगुली का-		
टना और दंड देना	२८७	३६७
अपने पतिके हुकुम न मान-		
नेवाली स्त्रीको कुत्तोंसे ख-		
वाना....	२८८	३७१
जार पुरुषको भस्मकर देना		
चाहिये....	२८८	३७२

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
वारा महीने परस्त्रीप्रसंग कर- नेवालेको दूना दंड देना	२८८	३७३	विदेशमे बेंचनेमे	२९३	४०१
शूद्र जो जारकर्म करै तौ उस- को लिंग कटाना....	२८८	३७४	मूल्य स्थापन करै	२९३	४०२
ब्राह्मणीके संग क्षत्रिय वैश्य गमन करै तौ भस्म करा देना....	२८९	३७८	कांटा बांटोकी परीक्षा राजा छठे छठे महीनेमे करै	२९३	४०३
ब्राह्मणको वध दंड नहीं करना	२८९	३८०	अत्र पुलको कर कहते हैं	२९३	४०४
क्षत्रिय वैश्योंको परस्पर परस्त्री गमनमे....	२९०	३८२	गर्भिणी आदिकोंसे उतराई नहीं लेवै....	२९४	४०७
त्रिनारक्षा कीयी हुई क्षत्रियकी स्त्रीके गमनमे....	२९०	३८४	मल्लाहके दोषसे वस्तुके नाश होनेमे....	२९४	४०८
जिसके ग्राममें चोरआदि कुक- र्मी नहीं हैं वह राजा इ- न्द्रलोकमें जाताहै.	२९०	३८६	वैश्यआदि व्यापार आदिको न करैं तौ राजा दंड देवै....	२९४	४१०
परस्पर पुरोहित यजमान इ- न्होंके त्यागनेमे दंड	२९१	३८८	जीविकारहित क्षत्रिय वैश्यको ब्राह्मण पालन करै	२९४	४११
माताआदिके त्यागनेमे	२९१	३८९	शूद्रको दास बनावै....	२९५	४१३
ब्राह्मणोंके धर्मविवादमे राजा धर्मको नहीं कहै....	२९१	३९०	शूद्रदास कर्मसे नहीं छूटश- शक्ता है....	२९५	४१४
यथोचित पूजन करना	२९१	३९१	दास सात प्रकारके हैं	२९५	४१५
कर न लेनेकी योग्य पुरुषोंको कहते हैं....	२९१	३९४	भार्यादास पुत्र ए तीन निर्धन होतेहैं	२९५	४१६
धोबीको कपड़े धोनेकी रीत क- हते हैं....	२९२	३९६	राजा वैश्य तथा शूद्रसे आपना कर्म करवावै	२९५	४१८
कपड़े बिननेवाले ज्वलाहेआदि सूतकी चोरी करैं तौ दंड देनेयोग्यहैं	२९२	३९७	राजा दररोज लाभ खरचको देखता रहै	२९५	४१९
बेंचनेकी चीजमे कर देना चाहिये....	२९२	३९८	अच्छी प्रकार व्यवहार देखने- को फल....	२९५	४२०
जिस चीजको राजा रोंके उसीको अन्य देशमें ले जानेमे दंड	२९२	३९९	अध्याय नवमां ९.		
अकालमे बेंचनेमे	२९२	४००	अत्र स्त्रीपुरुषोंके धर्म कहते हैं	२९६	१
			स्त्रियोंकी रक्षा यत्नसे करनी चाहिये....	२९६	२
			जायाशब्दको अर्थ कहना	२९७	८
			स्त्री रक्षणके उपायोंको कहना	२९७	११
			स्त्रियोंके दोष कहना	२९८	१३
			स्त्रियोंको स्वभाव कहते हैं	२९८	१४

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
स्त्रियोंकी जातकर्म आदि क्रि- या मंत्रोंसे नहीं होती	२९८	१८
व्यभिचारमे प्रायश्चित्तको कहना	२९८	१९
स्त्रीको पतिके गुणवाली होनी चाहिये....	२९९	२२
स्त्रियोंकी प्रशंसा	२९९	२६
व्यभिचार न करनेको फल कहते हैं....	३००	२९
व्यभिचार करनेको फल	३००	३०
वीर्य तथा क्षेत्रके बलअबलमे.	३००	३२
पराई स्त्रीमे बीज बोनेका निषे- ध है....	३०२	४१
स्त्री पुरुषकी एकत्व कहते हैं.	३०२	४५
कन्यादान आदि एकी बखत होते हैं.	३०३	४७
खेत प्रधान है.	३०३	४८
अब स्त्रियोंके धर्म कहते हैं....	३०४	५६
भाईकी स्त्रीके गमन करनेमे पतितहो जाता है	३०४	५७
अब नियोग कहते हैं.	३०४	५९
नियोगसे दूसरा लडका नहीं पैदा करना....	३०४	६०
कामसे गमनको निषेध है....	३०५	६३
नियोगकी निन्दा....	३०५	६४
नियोग कबसे चला....	३०५	६६
वाग्दानके विषयमे	३०६	६९
कन्याको फिर दान देनेको नि- षेध है....	३०६	७१
सप्तपदी भांवरके पहलेतक दोष- वाली कन्याको त्यागदेवै	३०६	७२
दोषवालीके देनेमे....	३०६	७३
स्त्रीके भोजन आच्छादनको वं- दोवस्तकरके परदेशको		

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
जावै....	३०६	७४
परदेशीकी स्त्रीके नियम	३०७	७५
दुष्टास्त्रीको १ वरस परखै....	३०७	७७
रोगी पतिके छोड़नेमें	३०७	७८
नपुंसकआदि स्त्रीको नहीं छोड़ै	३०७	७९
दूसरे विवाह करनेमे	३०७	८०
स्त्रीको मद्यपान करनेमे	३०८	८४
धर्मकार्य सजातीय स्त्रीको क- रना चाहिये....	३०८	८६
कन्यादान अपनेसे श्रेष्ठहीको देना चाहिये....	३०९	८८
स्वयंवरको काल....	३०९	९०
स्वयंवरमे कन्या पिताके दिये अलंकारआदि न लेवै....	३०९	९२
रजस्वला कन्याके विवाहमें शुल्क न देवै....	३१०	९३
कन्या और वरकी उमरका नियम....	३१०	९४
विवाह अवश्य करना चाहिये	३१०	९५
शुल्क दिये पीछे वरके मर- जानेमे....	३१०	९७
शुल्क लेनेको निषेध है	३१०	९८
एकको कहके दूसरेको न देवै	३१०	९९
स्त्री पुरुषको मेल होना चाहिये	३११	१०१
अब हिस्सा बांटकोकहते हैं....	३११	१०३
विभागको काल....	३११	१०४
एकमे रहनेमे बड़ा भाई सब धनका मालिकहै....	३११	१०५
ज्येष्ठकी प्रशंसा....	३११	१०६
ज्येष्ठ अपने धर्मको न चलै तौ सब भाईयोंकी समान है....	३१२	११०
न्यारे होनेमे हेतु कहते हैं	३१२	१११
ज्येष्ठआदिकोंकी हिस्सा करने-		

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
की रीत.....	३१२	११२	सजातीय वेमांत्र भाइयोंके हि-		
श्रेष्ठ वस्तुको बड़ाभाई लेवै....	३१३	११४	स्सावोंकी विधि.....	३१९	१९६
समभाग विषमभाग कहते हैं....	३१३	११६	शूद्रके लडकेसमान भाग करें	३१९	१९७
अपनेअपने हिस्सोंसे न्यारान्या-			बारा १२ प्रकारके पुत्रोंमें छेड़		
रा चौथाचौथा भाग वहिनो-			धनके भागी हैं छेड़ नहीं हैं	३१९	१९८
को देवें....	३१३	११८	कुपुत्रकी निन्दा....	३२०	१६१
हिस्सोंमें जो पशु बटै सो बड़ा			औरस पुत्र सब धनका मा-		
भाई लेवै	३१३	११९	लिक है....	३२०	१६३
क्षेत्रज तथा चाचाको समभाग	३१३	१२०	दत्तकआदि गोत्रके भागी हैं....	३२१	१६५
अनेक मातावोंमें विवाहसे ज्ये-			बारा १२ पुत्रोंके लक्षण	३२१	१६६
ष्ठपना....	३१४	१२२	दासीपुत्र समान भागी हैं	३२३	१७९
जन्मसे ज्येष्ठपना	३१४	१२५	क्षेत्रजआदि पुत्रके सदृश हैं....	३२३	१८०
पुत्रिकाधर्मकी विधि	३१५	१२७	जिसका बीज तिसीका पुत्र है	३२३	१८१
कन्या पिताके धनको ग्रहण			सब भाइयोंमें एककेभी पुत्र हो-		
करै....	३१५	१३०	वै तो सब पुत्रवान हैं....	३२३	१८२
माताके धनको कन्या लेवै....	३१५	१३१	बारा पुत्रोंमें पहले पहलेको श्रे-		
बिना पुत्रवाले नानाके संपूर्ण			ष्ठहै....	३२३	१८४
धनको दौहित्रही लेवै....	३१५	१३२	क्षेत्रजआदि पितृधनके भा-		
कानीन औरसके विभागमें....	३१६	१३४	गी है....	३२४	१८५
बिना पुत्रकी पुत्रिकाके धनको			सपिण्डआदि धनके भागी हैं	३२४	१८७
पति लेवै....	३१६	१३५	सबके अभावमें ब्राह्मणलेवै....	३२४	१८८
पुत्रनातीको फल	३१६	१३७	तीन वर्णकी द्रव्य राजा न		
पुत्र शब्दको अर्थ	३१६	१३८	जूल करै	३२४	१८९
पुत्रिकाके पुत्रको श्राद्ध करनेकी			नियुक्तापुत्रको अधिकार	३२४	१९०
विधि....	३१६	१४०	औरस तथा पौनर्भव पुत्रोंके		
दत्तक धनको भागी होता है	३१७	१४१	विभागको निर्णय	३२५	१९१
कामजआदि पुत्र धनके भागी			माताके धनको विभाग क-		
नहीं है....	३१७	१४३	हतेहैं....	३२५	१९२
क्षेत्रजपुत्र धनको भागी है....	३१७	१४५	स्त्री धन छ प्रकारको कहाहै	३२५	१९४
अनेक मातावोंके पुत्रोंको वि-			पुत्रवतीके धनको पुत्र लेवै	३२५	१९५
भाग....	३१८	१४९	बिना पुत्रवाली स्त्रीके धनको		
शूद्राको पुत्र धनका भागी न-			पति लेवै....	३२५	१९६
हीं हैं....	३१९	१५५	स्त्री चोरीसे धन इकट्ठा नहीं		

प्रकरण.	पृ० श्लो०	प्रकरण.	पृ० श्लो०
करै.....	३२६ १९९	दंड देनेकी शक्ति न होवे ति-	
स्त्रियोंके गहन दगीनेको वि-		समें कहे हैं.....	३३१ २२९
भाग नहीं करना.....	३२६ २००	स्त्रीवालक आदिकोंको दंड	३३१ २३०
अब बेहकवालोंको कहतेहैं.....	३२६ २०१	अमलदार जो लांच खावै तौ	
नपुंसकके धनके भागी कहतेहैं	३२७ २०३	राजा उसको सर्वस लैलेवे	३३१ २३१
सामलातिके धमनें सब भाइ-		झूठी राजाके नामकी मोहर क-	
योंको समान हिस्साहै.....	३२७ २०५	रनेवाले आदिको फांसी	
विद्याआदिसे हुवे धनमें किसी-		देना चाहिये.....	३३१ २३२
का हक नहींहै.....	३२७ २०६	धर्मसे हुवे मुकदमेको लौटावै	
जो समर्थहै हिस्सा नहीं लेता		नहीं.....	३३१ २३३
तौभी किंचित धन देके		अधर्मसे हुवे मुकदमेको राजा	
न्याराकर देना.....	३२७ २०७	फेरसे करै.....	३३१ २३४
अपने कमायेहुवे धनमें अपनी		महापातकी ए हैं.....	३३२ २३५
इच्छा.....	३२७ २०८	महापातकियोंको चिन्हित क-	
नष्ट धनके उद्धारमें.....	३२८ २०९	रना.....	३३२ २३७
दूसरे विभागमें.....	३२८ २१०	प्रायश्चित्त करनेवालोंको नहीं	३३२ २४०
संन्यासी आदिको हिस्सा ना-		महापातकी ब्राह्मणकोभी दंड	
श नहीं होता.....	३२८ २११	देना.....	३३३ २४१
ज्येष्ठ भाई ठग होवे तौ समा-		क्षत्रियादि महापातकियोंको दंड	३३३ २४२
न भागी है.....	३२८ २१३	राजा महापातकियोंके धनको	
कुकर्मीको हक नहीं है.....	३२८ २१४	नहीं लेवै.....	२३३ २४३
पिताके जीतेमें विभागकी रीत	३२८ २१५	ब्राह्मणोंको पीडा देनेवाले शू-	
विभागके पीछे पुत्र उत्पन्न हो-		द्रको राजा मरवा डालै.....	३३४ २४८
नेमें.....	३२९ २१६	पापीको दंड न देनेमे दोष है	३३४ २४९
अपुत्रके धनको माता लेवै.....	३२९ २१७	राजा चोररूपकण्टकोंको यत्न-	
ऋण धनमे समान भाग करना	३२९ २१८	से निकालै.....	३३४ २५२
इनको विभाग नहीं करना.....	३२९ २१९	श्रेष्ठोंकी रक्षाको फल.....	३३४ २५४
अथ द्यूत समीक्षा.....	३२९ २२०	चोरोंको छोडनेमे दोष है.....	३३४ २५४
द्यूतको निषेध है.....	३२९ २२१	निर्भयसे राज्य वाढती है.....	३३५ २५५
द्यूतसमाह्वयको अर्थ.....	३३० २२३	राजा दो प्रकारके चोरोंके	
द्यूतआदि करनेवालोंको दंड.	३३० २२४	जानै.....	३३५ २५६
राजा पापंडियोंको देशसे नि-		दोनों प्रकारके चोरोंके लक्षण	३३५ २५७
काल देवै.....	३३० २२५	तिन चोरोंको शासन.....	३३६ २६२

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
चोरोंको अवश्य दंड देना....	३३६	२६३
चोरोंको दूँढनेके उपाय कहते हैं	३३६	२६४
बराबर साबूत लेके चोरोंको दंड देवै....	३३७	२७०
चोरोंके पालकोंको जानसे मारना....	३३७	२७१
अपने धर्मसे भ्रष्टोंको दंड देवै	३३८	२७३
डाकापडने आदिमे रक्षा न करनेवाले निकटवासियोंको दंड....	३३८	२७४
खजाना लूटनेवाले आदिकोंके नाक कान आदि काटके बध करै....	३३८	२७५
सैधिया चोरोंके हाथोंको कटवाके शूलीदे देवै....	३३८	२७६
गांठि काटनेवाले आदिकोंको चोरकी तरह दंड देवै....	३३८	२७७
चोरीके धनके धरनेवालोंको दंड....	३३८	२७८
जलाशयके तोड़नेवालोंको दंड.	३३८	२७९
राजमार्गमें मलत्यागनेमे दंड देना....	३३९	२८२
खराब इलाज करनेवाले वैद्यको दंड देना....	३३९	२८४
प्रतिमा आदिके फोड़नेवालोंको दंड देना....	३३९	२८५
उत्तम चीजमें खराब चीज मिलानेवालोंको दंड देना.	३३९	२८६
विषम व्यवहारोंमे दंड	३४०	२८७
जेहलखाना रास्तामें बनवावै.	३४०	२८८
प्राकारआदिके फोड़नेवालेको देशसे निकाल देवै....	३४०	२८९
अभिचार करनेवालोंकी खूनकी		

प्रकरण.	पृ०	श्लो०
तरह दंड देवै....	३४०	२९०
अबीज बेचनेवाले आदिकोंको दंड....	३४०	२९१
सोनार चोरी करे तौ तिलतिल अंग काट डाले....	३४०	२९२
हल आदिको चुरानेवालोंको दंड देना....	३४१	२९३
राजाकी सात प्रकृतियोंको कहते हैं....	३४१	२९४
राजा अपनी तथा शत्रुकी सामर्थ्यको जानै....	३४१	२९८
कर्मके आरंभमें....	३४२	२९९
राजाही युग कहाता है....	३४२	३०१
इन्द्रआदिकोंकी तरह राजा कर्म करै....	३४२	३०३
ए तथा अन्य उपायोंसे राजा चोरोंको पकडै....	३४३	३१२
ब्राह्मणोंको कुपित नहीं करै.	३४४	३१३
ब्राह्मणोंकी प्रशंसा....	३४४	३१४
अविद्वान हो वाविद्वान हो ब्राह्मण परम देव है....	३४४	३१७
ब्राह्मण क्षत्रिय परस्पर सहायतासे बाढते है....	३४५	३२२
राजा पुत्रको राज्य देके युद्धमें प्राणत्याग करै....	३४५	३२३
अब बनियाके धर्मोंको कहतेहैं	३४६	३२६
शूद्रके धर्मोंको कहते हैं....	३४७	३३४
अध्याय दशवां १०		
पढाना ब्राह्मणर्हीका है....	३४८	१
सब वर्णोंका ईश्वर ब्राह्मण है.	३४८	३
अब द्विजवर्णको कहते हैं....	३४८	४
सजातीय कहते हैं....	३४८	५
पिताकी जातिसे जाति होती है	३४८	६

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
अब वर्णसंकरोंको कहते हैं. ३४९	८		पराये धर्मसे जीवनको निषेध		
अब ब्राह्मणोंको कहते हैं. ३५०	२०		है.... ३६२	९७	
अब ब्राह्मणोंसे उत्पन्न संकीर्ण			वैश्य शूद्रोंको आपत्कालको		
झलमलआदि अनेक जा-			धर्म.... ३६२	९८	
ती कहते हैं.... ... ३५१	२१		आपत्कालमे ब्राह्मण हीन या-		
सजाति विजाति पुत्र कहते हैं ३५४	४१		चना आदि करै.... ३६३	१०२	
अच्छे कर्मसे उत्कर्षको प्राप्त			दान लेनेकी निन्दा.... ३६४	१०९	
होते हैं.... ३५४	४२		यज्ञ कराना तथा पढ़ाना द्वि-		
और क्रियाके लोपसे शूद्र हो-			जातियोंकाही है.... ३६४	११०	
जाते हैं.... ३५४	४३		दान आदि लेनेसे पाप होवे		
दस्युसंज्ञक कहते हैं.... ३५४	४४		तिसके दूर होनेका यत्न.... ३६४	१११	
वर्णसंकरोंके धर्म कहते हैं.... ३५५	४७		शिलोज्छ वृत्ति कहते हैं.... ३६४	११२	
चाण्डाल आदिकोंके कर्म क-			धनकी याचनाके विषयमे.... ३६५	११३	
हते हैं.... ३५५	५१		धनके आगमके सात प्रकार		
कर्मसे जातिको पहिचानना. ३५६	५७		कहे हैं.... ३६५	११५	
वर्णसंकरकी निन्दा.... ३५६	५९		ए दश जीविकाके हेतु हैं.... ३६५	११६	
ए लोगोंको ब्राह्मण आदिकोंके			आपत्कालमेंभी व्याजसे जीवि-		
अर्थ प्राण त्यागना श्रेष्ठ है. ३५७	६२		का नहीं करै.... ३६५	११७	
साधारण धर्म कहते हैं.... ३५७	६३		राजावोंको आपत्कालको धर्म. ३६५	११८	
सात जन्मसे ब्राह्मण शूद्र हो-			शूद्रको आपत्कालको धर्म.... ३६६	१२१	
ता है शूद्र ब्राह्मण होजाता है. ३५७	६४		ब्राह्मणकी सेवा करना शूद्रको		
वर्णसंकरोंमेंभी श्रेष्ठ कहे हैं. ३५८	६७		श्रेष्ठ धर्म है.... ३६६	१२२	
बीज तथा क्षेत्रको बलअबल			शूद्रकी जीविका.... ३६६	१२४	
कहते हैं.... ३५८	७०		शूद्रके संस्कार आदि नहीं हो-		
ब्राह्मणके छह कर्म.... ३५९	७५		ते हैं.... ३६७	१२६	
ब्राह्मणकी जीविका.... ३५९	७६		शूद्रको कर्म विनामंत्रसे होता		
क्षत्रिय वैश्यके कर्म.... ३५९	७७		है.... ३६७	१२७	
द्विजोंके श्रेष्ठ कर्म ३६०	८०		शूद्रको धनसंचय करनेको		
आपत्कालके धर्म.... ३६०	८१		निषेध है.... ३६७	१२९	
इनको नहीं बेंचै.... ३६१	८६		अध्याय ग्यारवां. ११		
दूध आदि बेंचनेको फल.... ३६१	९२		स्नातकके प्रकार.... ३६८	१	
आपनेसे बड़ेकी जीविका नहीं			न देना.... ३६८	३	
करना.... ३६२	९५				

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
वेद पात्रोंको अनेक दान देवै. ३६८	४		क्षत्रिय आदि भुजावोंके जोर		
भिक्षासे दूसरे विवाहको नि. ३६९	५		आदिसे शत्रुवोंको जीतैं.... ३७३	३४	
कुटुम्बवाले ब्राह्मणको दान दे- ना चाहिये.... ३६९	६		ब्राह्मणको खोटा वचन नहीं बोलना.... ३७३	३५	
सोमयागके अधिकारी.... ३६९	७		स्त्री मूर्ख आदिकोंको हवनको निषेध.... ३७३	३६	
कुटुम्बके न पालनेमे दोष.... ३६९	९		अश्वकी दक्षिणा न देनेको निषेध है.... ३७४	३८	
यज्ञ रही जाती हो तौ वैश्य आ- दिकोंको धन लेलेना.... ३७०	११		कमदक्षिणावाली यज्ञकी नि- न्दा.... ३७४	३९	
छहदिनके उपवासमें आहार- ग्रहणकी रीत.... ३७०	१६		अग्निहोत्री हवन न करै तौ चान्द्रायणव्रत करनेसे प- वित्र होता है.... ३७४	४१	
ब्राह्मणके द्रव्य लेनेको निषेध है.... ३७०	१८		शूद्रोंके ऋत्विजोंकी निन्दा.... ३७४	४२	
असाधुवोंसे धन लेके साधुवों- को देनेवालेको फल.... ३७१	१९		नित्यनैमित्तिक कर्मोंको नहीं करतेहुवेको प्रायश्चित्त कर- ना चाहिये.... ३७४	४४	
यज्ञशीलके धनकी प्रशंसा.... ३७१	२०		ज्ञानसे अज्ञानसे किये पापको प्रायश्चित्त है.... ३७५	४५	
यज्ञकेवास्ते धनकी चोरी क- रनेवाले ब्राह्मणको दंड नहीं.... ३७१	२१		पापीके संसर्गको निषेध है.... ३७५	४७	
क्षुधार्त ब्राह्मणकी जीविकाको बंदोवस्त करदेना. ३७१	२२		पूर्वजन्मके पापोंसे कुष्ठ आदि- रोग होते हैं.... ३७५	४८	
यज्ञकेलिये शूद्रसेभी भिक्षा मां- गनी.... ३७१	२४		प्रायश्चित्त अवश्यकरना चाहिये. ३७६	५३	
यज्ञके निमित्त भिक्षा मांगके रखना नहीं.... ३७२	२५		पांच महापातकोंको कहते हैं. ३७६	५४	
देव तथा ब्राह्मणकी द्रव्य हर- नेमे दोष है.... ३७२	२६		ब्रह्महत्याकी समान पातक ए हैं.... ३७६	५५	
जो सोमयाग करनेको असमर्थ होवै तौ वैश्वानरीयाग करै.... ३७२	२७		उपपातक कहते हैं.... ३७७	५९	
समर्थको आपत्कालको धर्म न करना चाहिये.... ३७२	२८		गुदामे मैथुन आदि कर्म करनेसे जातिसे भ्रष्ट होजाते हैं. ३७८	६८	
ब्राह्मण स्वशक्तिसे शत्रुवोंको जीतैं.... ३७३	३१		अपात्रीकरण ए हैं.... ३७८	६९	
			मलिनीकरण ए हैं.... ३७८	७०	
			अब ब्रह्महत्याको प्रायश्चित्त कहते हैं.... ३७८	७२	

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
गर्भहत्या आदिको प्रायश्चित्त.	३८१	८७	मद्यके पात्रमें पानी पीनेको		
स्त्रीमित्रके वध आदिको प्राय-			प्रायश्चित्त....	३९०	१४७
श्चित्त....	३८१	८८	शूद्रका उच्छिष्ट जल पीनेमें		
मद्यपानको प्रायश्चित्त.	३८१	९०	प्रायश्चित्त....	३९०	१४८
मद्यके प्रकार....	३८२	९४	मद्यके गंध लेनेमें प्रायश्चित्त.	३९०	१४९
सुवर्णकी चोरीको प्रायश्चित्त.	३८२	९९	मूत्र आदिसे स्पर्श कियेहुवे		
गुरुकी स्त्रीसे गमन करनेवाले-			रस आदिके खानेमें प्राय-		
को प्रायश्चित्त....	३८३	१०३	श्चित्त....	३९०	१५०
गोवध आदि उपपातकोंका			पुनःसंस्कार कर्ममें दंड आदि		
प्रायश्चित्त....	३८४	१०८	निवृत्त होजाते हैं.	३९०	१५१
अवकीर्णोंको प्रायश्चित्त.	३८५	११८	अभोज्य अन्न आदिके भक्षणमें		
जातिभ्रंश कर्म करनेवालेको			प्रायश्चित्त....	३९०	१५२
प्रायश्चित्त....	३८६	१२४	सिरका आदिके भक्षणसे तब-		
उच्चाटन आदिके करनेवालों-			तक अशुचि रहता है ज-		
को प्रायश्चित्त....	३८६	१२५	बतक वह पचै नहीं.	३९०	१५३
क्षत्रिय आदिके वधको प्राय-			शूकर आदिके विष्टा मूत्रके		
श्चित्त....	३८६	१२६	भक्षणमे प्रायश्चित्त.	३९०	१५४
बिलाड आदिके वधको प्राय-			सूखे मांस वा अज्ञात मांस वा		
श्चित्त....	३८७	१३१	कुकुर्मुत्ताके भक्षणमे प्राय-		
घोडाके वधको प्रायश्चित्त....	३८८	१३६	श्चित्त....	३९१	१५५
जारपनेसे बिगडीहुई स्त्रीके व-			मुरगा सूकर आदिके मांसके		
धको प्रायश्चित्त....	३८८	१३८	भक्षणमे प्रायश्चित्त.	३९१	१५६
सर्प आदिके वधको प्रायश्चित्त.	३८८	१३९	मासिकश्राद्धमें अन्नभोजनको		
छोटे जीवोंके हजार वध हो-			प्रायश्चित्त....	३९१	१५७
नेमें प्रायश्चित्त....	३८८	१४०	मधुमांस आदिके भक्षणमे ब्र-		
वृक्ष आदिके काटनेको प्राय-				३९१	१५९
श्चित्त....	३८९	१४२	बिडाल आदिके उच्छिष्ट भो-		
अन्नज आदि जीवोंके वधको			जनमे प्रायश्चित्त....	३९१	१५९
प्रायश्चित्त....	३८९	१४३	अभोज्य अन्नको भक्षण करके		
धान्य औषधि आदिके छेदन-			वमन करना चाहिये.	३९१	१६०
को प्रायश्चित्त....	३८९	१४४	आपनी जातिमे धान्य आदिकी		
मद्यपानमें दोप्रकारको प्राय-			चोरीमे प्रायश्चित्त.	३९२	१६२
श्चित्त....	३८९	१४६	स्त्री आदिके चुरानेमे प्रायश्चित्त.	३९२	१६३

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
थोडे मूल्यवाले द्रव्योंकी चोरी- को प्रायश्चित्त....	३९२	१६४	कुदानको प्रायश्चित्त....	३९६	१९४
लड्डु खीर शवारी शय्या आ- शन पुष्प मूल फल इन्हों- की चोरीको प्रायश्चित्त....	३९२	१६५	प्रायश्चित्त कियेहुवेसे पूछना कि फिर ऐसा करोगे....	३९६	१९५
तृण आदिके हरनेमे प्रायश्चित्त.	३९२	१६६	गौवोको घास देना....	३९७	१९६
माणि मोती मूंगा तांबा चांदी लोहा कांसा पत्थर इन्होंके चुरानेवालेको प्रायश्चित्त....	३९२	१६७	ब्राह्म्य आदिकोंकी पुरोहिता आदिमे प्रायश्चित्त....	३९७	१९७
कपास आदिके हरनेमे प्राय- श्चित्त....	३९२	१६८	शरणागतके त्यागनेमे प्राय- श्चित्त....	३९७	१९८
भौजाई आदिके गमनको प्राय- श्चित्त....	३९३	१७०	कुत्ता आदिकोंसे काटनेमे प्रा- यश्चित्त....	३९७	१९९
घोड़ी आदिमे मैथुनको प्राय- श्चित्त....	३९३	१७३	पतित आदिकोंके अन्न भो- जनको प्रायश्चित्त....	३९७	२००
दिन आदिमे मैथुनको प्राय- श्चित्त....	३९३	१७४	ऊंट आदिकी शवारीको प्रा- यश्चित्त....	३९७	२०१
चाण्डालीके गमनमे प्रायश्चित्त.	३९३	१७५	जलके बिना वा जलमे मूत्र आदिके त्यागनेमे प्रायश्चित्त.	३९७	२०२
जारिणी स्त्रियोंको प्रायश्चित्त.	३९३	१७६	वेदसे कहेहुवे कर्मोंके त्याग- नेमे प्रायश्चित्त....	३९८	२०३
पतितोंके संसर्गियोंको प्रायश्चित्त.	३९४	१७९	ब्राह्मणको तुकारके बोलनेमे प्रायश्चित्त....	३९८	२०४
पतितोंकी जीवतेहीमे प्रेत- क्रिया करनी चाहिये....	३९४	१८२	ब्राह्मणके मारनेको लाठी उ- ठानेसे पापको फल.	३९८	२०६
पतितको हिस्सा डूबजाता है.	३९५	१८५	जिसको प्रायश्चित्त नहीं कहा तिसमे अनुमानसे करै....	३९९	२०९
प्रायश्चित्त कियेहुवेको संसर्ग.	३९५	१८६	अब प्राजापत्य आदिब्रतोंको निर्णय कहते हैं....	३९९	२११
पतित स्त्रियोंको अन्न आदि- देने....	३९५	१८८	ब्रतोंके अंग....	४०१	२२२
पतितोंको संसर्ग आदिको नि- षेध....	३९६	१८९	पापको छिपाना नहीं चाहिये.	४०१	२२७
बालकोंके मारनेवाले आदिकों- को त्याग करदेना.	३९६	१९०	पापकरके पीछे पछतानेसे म- नुष्य तिस पापसे छूटजाता है....	४०२	२३०
ब्राह्म्योंको प्रायश्चित्त....	३९६	१९१	पापकोकरके फिर न करै क्यों-		
निन्दित कर्मसे जोरेहुवे धन- को त्यागदेना....	३९६	१९३			

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
कि फिर दूना प्रायश्चित्त होता है....	४०२	२३२	सत्त्वगुण आदिकोंके लक्षण कहते हैं....	४११	२६
मनके संतोषपर्यन्त प्रायश्चित्त करै....	४०२	२३३	सतोगुणीको लक्षण....	४१२	३१
तपकी प्रशंसा....	४०२	२३४	रजोगुणका लक्षण....	४१२	३२
वेदके पढ़नेकी प्रशंसा....	४०४	२४५	तमोगुणका लक्षण....	४१२	३३
ब्रह्महत्यादि महापापोंको प्रायश्चित्त....	४०६	२५७	संक्षेपसे तमोगुणी आदिकोंके लक्षण....	४१२	३५
अध्याय बारहवां १२.			तीनों गुणोंसे तीन प्रकारकी गति होती है....	४१३	४०
अब शुभ अशुभ कर्मको फल.	४०८	३	तीन गतिके प्रकार है....	४१३	४१
इस कर्मको प्रवर्तक मनहींको जानों....	४०८	४	पापोंसे अधमगतिको पाते हैं.	४१५	५२
मानसकर्म तीन प्रकारका होता है....	४०८	५	जिस जिस पापसे जो जो योनि होती है सो सुनो.	४१५	५३
वाचिककर्म चार प्रकारका होता है....	४०८	६	विषयीपुरुष नरक आदिमे जाते हैं....	४१८	७३
शारीरकर्म तीन प्रकारका होता है....	४०८	७	मोक्षके साधनभूत छहकर्म कहते हैं....	४१९	८३
जिस इन्द्रियसे जो कर्म किया जाता है वह उसीसे भोगा जाता है....	४०८	८	आत्मज्ञान परम श्रेष्ठ है.	४२०	८५
त्रिदंडीको लक्षण....	४०९	१०	वेदसे कछा कर्म श्रेष्ठ है....	४२०	८६
क्षेत्रज्ञ और भूतात्माको कथन.	४०९	१२	वैदिक कर्म दोप्रकारका कहा है....	४२०	८८
जीवात्माको लक्षण....	४०९	१३	प्रवृत्त तथा निवृत्तकर्मको फल.	४२०	९०
परमात्माकी असंख्य मूर्तियां हैं.	४१०	१५	समदर्शी पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है....	४२०	९१
परलोकमेभी पांच तत्त्वोंसेही शरीर होता है....	४१०	१६	वेदाभ्यासादि करै....	४२०	९२
कर्मके भोगकेबाद स्थूल शरीरका नाश होता है....	४१०	१७	वेदसे विरुद्ध स्मृतियोंकी निन्दा....	४२१	९५
धर्म अधर्मके अनुसार भोग होता है....	४१०	२०	वेदकी प्रशंसा....	४२१	९७
तीनप्रकारके गुणोंको कथन.	४११	२४	वेद और शास्त्रोंको जाननेवाला सेनापति आदि होनेको योग्य है....	४२२	१००
देही अधिक गुणप्रधान है....	४११	२४	वेदपात्रकी प्रशंसा....	४२२	१०१
			अत्यन्त निश्चय करनेवाला श्रे-		

प्रकरण.	पृ०	श्लो०	प्रकरण.	पृ०	श्लो०
ष्ठ है.... ४२२ १०३	अत्र परिषत् कहते हैं. ४२३ ११०	
तप और विद्यासे मोक्ष होता है.... ४२२ १०४	मूर्खोंको परिषत्त्व नहीं है ...	४२४ ११४	
प्रत्यक्ष और अनुमानसे प्रमाण.	४२२ १०५		आत्मज्ञानीके अधर्म नहीं लग-		
धर्मज्ञको लक्षण.... ४२२ १०६		ता है.... ४२४ ११८	
जिसके धर्मको नहीं कहे वहां श्रेष्ठ ब्राह्मण जो कहें सो प्रमाण है.... ४२३ १०८		पञ्चतत्त्वोंकी लीनता.... ४२५ १२०	
अत्र शिष्ट ब्राह्मणोंको कहते हैं	४२३ १०९		आत्माको स्वरूप कहते हैं....	४२५ १२२	
			आत्मज्ञानी परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है.... ४२६ १२५	
			इस मनुशास्त्रके पाठको फल.	४२६ १२६	

श्रीपण्डितहरिवंशशर्मा सुमेरुपुरनिवासी.

श्रीः
श्रीगणेशाय नमः
अथ मनुस्मृतिः ।

(51)
Sharma
18/7/2011

मनुमेकाग्रामासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥
अथ मनुस्मृतिकी भाषाटीका ॥

श्लोकः

श्रीमदुरुन्नमस्कृत्य वदरीपुरवासिना । क्रियते रविदत्तेन भाषामन्वर्थदीपिका ॥

अर्थ—एक समय स्वस्थचित्तसे बैठेहुए मनुजीके समीप भृगुआदि महर्षिसन्मुख जाके मनुजीसे पूजितहुए महर्षि यथार्थविधिसे मनुजीका पूजन कर इस वचनको बोलतेभये ॥ १ ॥

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अंतरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

अर्थ—हे भगवन् आप सब वर्णोंके अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और वर्ण-संकरोंके धर्मको यथार्थ क्रमसे हमारेवास्ते कहनेको योग्य हो ॥ २ ॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याऽप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

अर्थ—स्वयंभुव अर्थात् अपौरुष किसी पुरुषका नहीं कियाहुआ स्वयंसिद्ध और बहुतसी शाखा होनेसे चिंतवन नहीं किया जावे, और जिसका प्रमाण न किया जावे ऐसे वेदका कार्यतत्त्वको धर्माधर्मकी व्यवस्थाको जाननेवाले तुमही हो अर्थात् स्वल्प बुद्धिमान् पुरुष नहीं जानसकते ॥ ३ ॥

सतैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्य्य तान्सर्वान्महर्षींश्छूयतामिति ॥ ४ ॥

अर्थ—वह महान् सामर्थ्य वाला, तिन भृगुआदि महर्षियोंसे पूर्वोक्त श्रद्धा

भक्ति आदि प्रकारसे पूछाहुवा मनु तिन सबोंको सराहके बोला कि तुम सबलोग सुनो ॥ ४ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

अर्थ—यह जगत् प्रलयकालमें सूक्ष्मतासे प्रकृतिमें लीन होनेसे दीखता नहीं था और लक्षणोंसे रहित था और बुद्धिसे तर्क करनेको, जाननेको, योग्य न था सब तर्कसे सोताहुवाकी तरह था अर्थात् अपने कार्यमें समर्थ नहीं था ॥ ५ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।

महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर प्रलयकालके अनंतर इच्छासे शरीरको धारण करनेवाले परमात्मा अव्यक्त अर्थात् अप्रकट और अप्रतिहत सामर्थ्यवाले और प्रलयअवस्थाके अंधकारको दूर करनेवाले भगवान् आकाश आदि महाभूतोंको प्रकट करतेहुए आप प्रकट होतेभये ॥ ६ ॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।

सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥

अर्थ—जो इंद्रियोंको उलंघके वर्तनेवाले मनसे ग्रहण करनेको योग्य और सूक्ष्म अर्थात् बाह्येन्द्रिय अगोचर सनातन और सबजीवोंके आत्मा चिंतवन करनेको अयोग्य ऐसे भगवान् हैं वे आपही महदादि कार्यरूपसे प्रकट होतेभये ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासुबीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

अर्थ—अपने शरीरसे अनेक प्रकारकी प्रजाओंकी रचना करनेवाले वे भगवान् पहले ध्यानमात्रसे जलोंको रचतेभये फिर तिन्होंमें अपनी शक्तिरूप बीजको रोपतेभये ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्वैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।

तस्मिञ्ज्ञेस्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

अर्थ—फिर वह परमेश्वरका बीज परमेश्वरकी इच्छा करके सुवर्णके समान और सूर्यकी किरणोंके समान कांतिवाला अंड होता भया फिर तिस अंडमें सब लोकोंको रचनेवाले ब्रह्मारूपसे वह परमात्मा अपाही उत्पन्न होतेभये ॥ ९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणःस्मृतः ॥ १० ॥

अर्थ— जलको नारा ऐसा कहते हैं क्योंकि नर नामवाले परमात्मासे उत्पन्न हुआ संतानरूप जल है इसवास्ते नारा ऐसा कहा और वे जल पहले तिस भगवान्‌के अयन अर्थात् स्थान हुये इसवास्ते शास्त्रमें भगवान्‌को नारायण कहते हैं ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

अर्थ— जो सब वस्तुओंका कारण और बाह्यइंद्रियोंसे प्राप्त न होनेवाला और नित्य तथा सत् असत् वस्तुका आत्मारूप भगवान् है तिससे रचा हुआ वह पुरुष संसारमें ब्रह्मा कहा जाता है ॥ ११ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।

स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्विधा ॥ १२ ॥

अर्थ— वह भगवान् ब्रह्मा तिस अंडमें वर्षपर्यंत वास करताभया पीछे अपने ध्यानमात्रसे तिस अंडके दो टुकड़े करताभया ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।

मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

अर्थ—तिन दो खंडोंसे स्वर्गको और पृथ्वीको रचता भया अर्थात् ऊपरके टुकड़ेसे स्वर्गलोक और नीचेकेसे भूलोकको रचताभया तिन्होंके मध्यमें आकाश आठ दिशा जलोंके स्थान समुद्र इन्होंको स्थिर रचता भया ॥ १३ ॥

उद्वबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।

मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर वह ब्रह्मा परमात्माके शकाशसे सत् और असत्‌रूप अपने मनको धारण करता भया तिस मनसे मैं ईश्वर हूं ऐसे अभिमान करनेवाला अहंकार उत्पन्न हुवा ॥ १४ ॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।

विषयाणां गृहीदृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

अर्थ—अहंकारसे मायासहित अपनेको महत्तत्त्व उत्पन्न किया तिससे सब उत्पत्तियोंवाली और सत्त्व रज तम इन ३ गुणोंमें युक्त और शब्द स्पर्श आदि अपने अपने विषयोंको ग्रहण करनेवाली ऐसी पांच इंद्रियोंको धीरेधीरे रचता भया धीरेधीरे रचनेका क्रम दूसरे अध्यायमें कहा जावेगा ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्पण्णामप्यमितौजसाम् ।

सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

अर्थ—बड़ेपराक्रमवाले तिन पूर्वोक्त ६ छहोंके अर्थात् अहंकार ५ पांच ज्ञानेंद्रिय इन्हींके सूक्ष्म अंगोंको इन्हींके अपने अपने विकारोंमें प्रवेशकरके मनुष्य पशु आदि सब जीवोंको रचताभया ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।

तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

अर्थ—ये जो शरीरको उत्पन्नकरनेवाले सूक्ष्म छह अवयव हैं अर्थात् तन्मात्रा अहंकार और पांच इंद्रिय ये तिस मायासहित ब्रह्मको आश्रय रहते हैं इस-वास्ते बुद्धिमान् मुनिजन स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली परमात्माकी इस मूर्तिको शरीर कहते हैं ॥ १७ ॥

तदाविशन्त भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।

मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

अर्थ—तिस पूर्वोक्त तन्मात्रा आदिकोंसे युक्त स्थित हुए ब्रह्मको महान् आकाशादिक पांच तत्त्व अपने अपने कार्योंकरके सहित प्राप्त होजाते हैं अवकाश होना आकाशका कार्य है पाक होना अग्निका कार्य है ऐसे सबके जुदे जुदे कार्य हैं और अपने कार्य शुभाशुभ सुखदुःखादि रूपोंकरके युक्त हुआ तिस परमात्माका मन सबजीवोंको करनेवाला है और अविनाशी है ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।

सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त जो सात पुरुष महान् पराक्रमवाले हैं मायासहित परमात्मा १ महत्तत्त्व २ आकाशादि पंच महाभूत ५ ये हैं इन्हींकी तन्मात्राओंकरके और पांच इंद्रियोंकरके अविनाशी परमात्मासे नाश होनेवाला यह जगत् होता है ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।

यो यो यावतिथश्रेषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

अर्थ—इन आकाश आदि महाभूतोंमेंसे आद्यआद्यवालेका जो गुण है तिसको पर पर प्राप्त होता है और इन्होंमेंसे जो जो जितनी संख्यावाला है वह उतनेही गुणोंवाला है जैसे आकाशका शब्दगुण वायुका शब्द स्पर्शगुण अग्निका शब्द स्पर्शरूप इस क्रमसे जानो ॥ २० ॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

अर्थ—वह परमात्मा सब जातियोंके नाम जैसे गौ जातिका गौ नाम और अश्वजातिका अश्व नाम और ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके धर्मवेदके शब्दोंके अनुसार अर्थात् पहले कल्पमें जैसी जैसी रचना थी उसी तरह जुदीजुदी रचना करता भया ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।

साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—वह प्रभु अर्थात् समर्थ ब्रह्माजीकर्मके स्वभाववाले प्राणी इन्द्रादिक देवताओंको रचता भया और अन्य देवताओंके समूहको तथा साध्यसंज्ञकदेवताओंके सूक्ष्म गणको और सनातन यज्ञको अर्थात् ज्योतिष्टोमादिक यज्ञको रचता भया ॥ २२ ॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मा सनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥

अर्थ—ब्रह्माजी यज्ञोंकी सिद्धिकेवास्ते अग्नि वायु सूर्य इन्होंकेसकाशसे ऋक् यजु साम इन सनातन तीन वेदोंको प्रकट करतेभये अग्निसे ऋक् वायुसे यजु सूर्यसे साम इसक्रमसे प्रकट किये ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।

सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

अर्थ—काल कालविभक्ति अर्थात् मास अयन आदिक नक्षत्र सूर्य आदि-ग्रह नदी समुद्र समानस्थान विषम ऊंचेनीचे स्थान इनसर्वोंको रचताभया ॥ २४ ॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।

सृष्टिं ससर्ज चैवेमां सष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

अर्थ-इसप्रजाको रचनेकी इच्छा करताहुआ ब्रह्माजी तप अर्थात् प्राजा-पसादि वाणी रति जिस्से मन प्रसन्न होता है इच्छा क्रोध इन सर्वोको रचताभया ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।

द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

अर्थ-कर्मोंके जाननेके वास्ते धर्म और अधर्मको जनावताभया जैसे य-ज्ञादि धर्म कर्तव्य है और ब्रह्मवध आदि अधर्म अकर्तव्य है यह जनाया और तिन धर्मअधर्मोंके फल सुखदुःखोंसे इनप्रजावोको युक्त करताभया ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।

ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

अर्थ-दशसे आधी पांच जो महाभूतोंकी सूक्ष्म तन्मात्रा रूप रस, गंध आदि-क है और विनाशि अर्थात् महाभूतोंमें परिणाम होनेवाली है तिन्हों करके यह संपूर्ण जगत् क्रमसे उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।

स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

अर्थ-प्रभु समर्थ ब्रह्माजी पहले कल्पकी रचनामें जिसको जिसकर्ममें युक्त करताभया था वह बारंबार रचाहुआभी अपन कर्मके वशसे उसीतरह आचरण करने लगगया जैसे पहली सृष्टिमें सिंहजाति हिरण आदिकोंको मारनेमें युक्त थे वे उसी तरह आचरण करने लगगये ॥ २८ ॥

हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशेत् ॥ २९ ॥

अर्थ-ब्रह्माजी पहले सर्गमें जैसे सिंहोंका हिंसाका कर्म और हरिण आदिकोंका अहिंसाकर्म रचताभया तथाब्राह्मणोंका कोमल क्षत्रियोंका क्रूर कर्म रचताभया ब्रह्मचारी आदिकगुरुकी सेवाकरनेका धर्म और मैथुन मांस सेवन अधर्म सत्यबो-लना असत्य बोलना जैसा जिसका कर्म रचताभया वह अपने कर्मके वशसे तैसेही कर्मको करने लगगया ॥ २९ ॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।

स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे वसंत आदि ऋतु अपने कार्यके समय अपने चिन्होंको वृक्ष आदिकोंके मंजरी पत्ते आनेको आपही प्राप्त होजाती है तैसे देहधारी प्राणी अपने अपने कर्मोंको आपही प्राप्त होजाते हैं ॥ ३० ॥

लोकानां तु विवृद्धयर्थं सुखबाहूरुपादतः ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

अर्थ—सृष्टिकर्ताने लोकोंकी वृद्धिके वास्ते ब्राह्मणमुखसे रचे क्षत्रिय बाहुओंसे वैश्य जंघोंसे और शूद्र पैरोंसे रचे ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

अर्थ—वह ब्रह्मा आपनी देहके दो विभाग कर आधासे स्त्री और आधासे पुरुष रचा फिर तिस स्त्रीमें विराट्संज्ञक पुरुषको रचताभया ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—वह विराट्पुरुष आप तप करके जिस पुरुषको रचताभया हे द्विजोत्तमाहो तिसको मेरेको जानों अर्थात् मैं रचा और मुझको इस सबजगत्को रचनेवाला जानों ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।

पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

अर्थ—प्रजाओंको रचनेकी इच्छा करनेवाला मैं दुश्चर परम तपकरके पहले दश प्रजापतियोंको रचताभया क्योंकि वेभी प्रजाको रचनेवाले हैं ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।

प्रचेतसं विसृष्टं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

अर्थ—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, नारद इनदशोंको रचता भया ॥ ३५ ॥

एते मनुस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।

देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

अर्थ—ये दश प्रजाप्रति बहुत तेजवाले अन्य सातमनुओंको और देवतोंको देवताओंके स्थानोंको और अतुल तेजवाले महर्षियोंको रचतेभये ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।

नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिनको यथार्थ क्रमसे रचते भये उन्होंको कहते हैं कि यक्ष, राक्षस, पिशाच गंधर्व, उर्वशी आदिक अप्सरा, वासुकीआदि नाग-सर्पउनसे नीचे सुपर्ण अर्थात् गरुडआदिक और जुदे जुदे पितरोंके गण ये रचे हैं ॥ ३७ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनुषि च ।

उल्कानिर्घातकेतूँश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

अर्थ—विजली—अशनि अर्थात् वृक्षादिकोंको नाशनेवाली वज्रसंज्ञक विजली रोहित कहिये अनेक वर्णोंसे युक्त दंडाकार दीखै और इंद्रका धनुष, उल्का, आकाशसें जोतिका गिरना तारा टूटना निर्घात उत्पात शब्दपूछवाला तारा और ध्रुव अगस्त्य आदि अनेक तारे इन्होंको रचताभया ॥ ३८ ॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् ।

पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

अर्थ—किन्नर देव योनिविशेष जिनका मुख अश्वकेसमान होता है वानर मत्स्य अनेक प्रकारके पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, व्याल, सिंहादिकजिनके दाँतोंकी दोदो पंक्ती होती है ॥ ३९ ॥

कृमिकीटपतङ्गांश्च सूकामक्षिकमत्कुणम् ।

सर्वे च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

अर्थ—छोटे कीड़े, बड़े कीड़े, पतंग पक्षी जूंम-मांखी खटमल, मच्छर इत्यादिक संपूर्ण डशनेवाले क्षुद्रजंतु और स्थावर अर्थात् अनेक प्रकारके वृक्ष लताआदिक ॥ ४० ॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्त्रियोगान्महात्मभिः ।

यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इन मरीचिआदि महात्माओने मेरे संयोगकरके तपकेसंयोगसे कर्मके अनुसार यह सब स्थावरजंगम अर्थात् चराचर जगत् रचा ॥ ४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।

तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिन प्राणियोंका जैसा कर्म इस संसारमें कहा है ब्राह्मण आदिकोंका अध्ययनआदिकर्म है वैसा वैसा तुम्हारेवास्ते कहूंगा और तिन्होंके जन्मआदिक योगको कहूंगा ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।

रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

अर्थ—अब जन्मयोगके क्रमको कहते हैं पशु मृग सिंहादिक विशेषकर जिनकेउपर नीचे दोनोंतर्फ दांत होते हैं और राक्षस पिशाच मनुष्य ये सब जेरसे उत्पन्न होते हैं ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नका मत्स्याश्च कच्छपाः ।

यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

अर्थ—पक्षी, सर्प, इसादिक स्थलमें रहनेवाले और मगर मत्स्य कच्छुवा इत्यादिक जलमें रहनेवाले ये सब अंडासे उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।

उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—पसीनासे उत्पन्न होनेवाले मच्छर काटनेवाले सूक्ष्मजीव और जूंम माखी खटमल ये और इनसरीखे अन्यजीव गरमाईकी बाफसे उत्पन्न होते हैं ॥ ४५ ॥

उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।

ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—पृथ्वीमें उगनेवाले सब स्थावर वृक्ष आदिक दो प्रकारके हैं बीजसे उत्पन्न होनेवाले और शाखा लगानेसे होनेवाले और औषधी फलपकने के समय नाश होनेवाली होती है जैसे धानगेहूं जब और बहुतसे पुष्पफलोंसे युक्त होवेभी औषधी कहानी है ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।

पुष्पिणः फलिनः श्रैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जिनके पुष्प नहीं लगै और फल लगते हैं वे वनस्पति कहाते हैं जैसे पीपलआदिक और जिनके पुष्प तथा फलभी आते हैं वे वृक्ष कहाते हैं ऐसे वृक्षोंके दो भेद कहे हैं ॥ ४७ ॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।

बीजकाण्डरूपाण्येव प्रताना वल्लय एव च ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिनमें जड़सेही लताका समूह हो और शाखाआदिकोंसे रहित हो सो गुच्छ कहाते हैं चमेलीआदिक और शरईख इत्यादिक गुल्म कहाते हैं ऐसे बीज और कांडसे उत्पन्न होनेवाली तृणोंकी अनेक जाति होती है और खीरा कुह्लडा तूंबी ये प्रतान कहाते हैं गुरचआदिक वेल कहाती है ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

अर्थ—ये स्थावर वृक्षादिक बहुतसे रूपोंकरके कर्मरूप हेतुसे बंधेहुए और तमोगुणसे व्याप्त होते हैं और इन्हींके भीतर संज्ञा होती है और सुख दुःखोंसे युक्त है जैसें मेघके जलके संपर्कसे सुख प्रतीत होता है अभावमें नहीं ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।

घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

अर्थ—नित्य प्रति निरंतर जानेंआनेवाले और जीवोंके जन्ममरणके प्रबंधवाले इस घोर संसारमें ब्रह्मासे आदिले इन वृक्षादिकोंपर्यंत उत्पत्ति कहदी है ॥ ५० ॥

एवं सर्वे स सृष्टेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

अर्थ—अचिन्त्य पराक्रमवाले वे प्रजापति भगवान् इस उक्तप्रकारसे सब जगत्को रचके और मुजको रचके बारंवार सृष्टिकालको प्रलयकालमें नष्ट करते हुए आत्मामें शरीर त्याग करके अंतर्धान होजाते हैं ॥ ५१ ॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

अर्थ—जब वह प्रजापतिदेव जागता है अर्थात् सृष्टिकी स्थिति करनेकी इच्छा

करता है तब यह जगत् श्वास आहारादिकोंकी चेष्टा करता है और जब संहार-
की इच्छावाला वह भगवान् इच्छासे निवृत्त होजाता है तब यह जगत् प्रलय
होजाता है ॥ ५२ ॥

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।

स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

अर्थ— जब वह ब्रह्माजी स्वस्थ होके सोवते है अर्थात् मनोव्यापारोंसे रहित
होजाते है तब कर्मोंसे लब्ध शरीरवाले सब जीव अपने अपने कर्मोंसे निवृत्त
होजाते है और तिनका मन सब इंद्रियोंकरकेसहित वृत्तिसे रहित मूर्छित हो
जाता है ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।

तदायं सर्वं भूतात्मा सुखं स्वपिति निवृतः ॥ ५४ ॥

अर्थ— जब तिस परमात्मामें सब जीव एकही वार लीन होजाते है तब यह
सर्वभूतात्मा अर्थात् सब जीवोंका आत्मारूप ईश्वर जाग्रत् अवस्थासे निवृत्त
होके सुखसे सोवता है नित्यज्ञान और परमानंदस्वरूप आत्मामें सोवता नहीं
वनता है परंतु यह जीवधर्मका उपचार कहा है ॥ ५४ ॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।

न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

अर्थ— जब यह जीव तमोगुणके आश्रय हो अर्थात् अज्ञानके आश्रय हो इं-
द्रियोंसहित बहुतकालतक ठहरता है और श्वास प्रश्वासादिक कर्मकोभी नहीं
करता है तब पूर्वदेहसे अन्य शरीरमें जाता है ॥ ५५ ॥

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थासु चरिणु च ।

समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

अर्थ— देहान्तर कैसे प्राप्त होता है सो कहते है—जब आणुमात्रिक होके
अर्थात् शरीर प्राप्त होनेकी आठ सामग्री है. जीव १ इंद्रिय २ मन ३ बुद्धि ४
वासना ५ कर्म ६ वायु ७ अविद्या ८ ये है सो प्रथम अणुमात्रिक होकर
वृक्षादिक वा मनुष्यादिकोंमें हेतुभूत बीजरूप ठहरता है तब इन आठोंसंयुक्त हो
शरीरको धारण करता है ॥ ५६ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।

संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

अर्थ—वह ब्रह्माजी इसप्रकारसे अपनी जाग्रत् और स्वप्नअवस्थाकरके इस सब चराचर जगत्को निरंतर जीवावता है और मारता है वह ब्रह्मा अव्यय अर्थात् अविनाशी है ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।

विधिवद्ब्राह्मणमास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

अर्थ—मनुजी कहते हैं कि ब्रह्माजी सृष्टिकी आदिमें इस धर्मशास्त्रको बनाके मेरेवास्ते ग्रहण करावताभया और मैंने मरीचि आदि मुनियोंकेवास्ते ग्रहण करवाया ॥ ५८ ॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।

एतद्वि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

अर्थ—इस संपूर्ण धर्मशास्त्रको यह भृगु तुम्हारेवास्ते सुनावेगा क्योंकि यह मुनि इस शास्त्रको मेरेसे पढा है ॥ ५९ ॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।

तानब्रवीद्विषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

अर्थ—वह भृगु मनुजीसे तिस प्रकारसे कहे हुए वचनको सुनके तिन सब ऋषियोंके प्रति बोलाकि तुम मुजसे सुनो ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।

सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानोमहौजसः ॥ ६१ ॥

अर्थ—इस स्वायंभुवमनुके वंशमें होनेवाले छहमनु और है वे महात्मा महान् पराक्रमवाले मनु अपने अपने समयमें अपनी अपनी प्रजाको रचतेभये ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

अर्थ—तिन छह मनुवाँको कहते हैं स्वारोचिष १ उत्तम २ तामस ३ रैवत ४ चाक्षुष ५ वैवस्वत ६ ये हैं ॥ ६२ ॥

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।

स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्वराचरम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—महान् तेजवाले स्वायंभुवसे आदि लेके ये सात मनु अपने अयने अधिका-
रके समय इस सब स्थावर जंगम जगतको रचतेभये ॥ ६३ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।

त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अर्थ—निमेष अर्थात् आंखिकी पलकका झपकनाको कहते हैं सो तिन अठारह
निमेषोंकी काष्ठा होती है तीस ३० काष्ठाओंकी कला तीस कलाओंका मुहूर्त
तीस मुहूर्तोंका अहोरात्र होता है ॥ ६४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।

रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

अर्थ—मनुष्य और देवसंबंधी अहोरात्र अर्थात् दिनरातका विभाग सूर्य कर-
ता है तहां प्राणियोंके सोनेकेवास्ते रात्रि है और कर्मोंकी चेष्टा करनेकेवास्ते
दिन है ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।

कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

अर्थ—मनुष्यका महीना पितरोंका अहोरात्र है तहां कर्मके अनुष्ठानकेवास्ते
पक्षोंका विभाग है कृष्णपक्षमें दिन रहता है तहां कर्म करते हैं और शुक्लपक्ष
रात्रि है तहां सोवते हैं ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षे प्रविभागस्तयोः पुनः ।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्यादक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—मनुष्योंका वर्षका देवताओंका अहोरात्र रातदिन होता है फिर
तहां तिन दिन रातोंकाभी विभाग है मनुष्योंका उत्तरायणदेवताओंका दिन
है और दक्षिणायन रात्रि है ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ—ब्रह्माजीके अहोरात्रका जो प्रमाण है तिसको सत्ययुग आदि युगोंके
क्रमकरके संक्षेपमात्रसे सुनो ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् ।

तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथा विधः ॥ ६९ ॥

अर्थ—चार हजार देवताओंके वर्षोंका सत्ययुग होता है और तिसकी संध्या अर्थात् युगका पूर्वकाल ४०० वर्षका और संध्यांश अर्थात् उत्तरकाल ४०० वर्षका ऐसे ४८०० संख्या सत्ययुगकी है ॥ ६९ ॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु ।

एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

अर्थ—अन्य त्रेता आदि तीन युगोंमें संध्या और संध्यांशोंसहित एक एक सहस्र और शतकी हीनता है जैसे त्रेता ३६०० द्वापर २४०० संख्या कलियुग संख्या १२०० यहां सब जगह देवताओंके वर्षोंकी संख्या जाननी ॥ ७० ॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ।

एतद्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

अर्थ—यह जो आदिमें चार युगोंकी संख्या बारहहजार कहीहै सो ये मनुष्योंके चार युग जानने और यही १२००० संख्या होनेमें देवताओंका एक युग होता है ॥ ७१ ॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ।

ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

अर्थ—देवताओंके हजार युगोंका ब्रह्माजीका दिन होता है और हजार युगोंकीही एक रात्रि होती है अर्थात् देवताओंके दो हजार युगोंका ब्रह्माका अहोरात्र होता है ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार हजार युगोंपर्यंत समाप्त होनेवाला ब्रह्माका दिन होता है और इतनीही संख्यावाली रात्रि होती है इसप्रकार जो जानते हैं वे अहोरात्रसंज्ञे कहोते हैं और यह अहोरात्र पुण्य पवित्र है इस विशेषण करके ब्रह्माजीके अहोरात्रको जाननेवालोंकी स्तुति और पुण्यफलद्योतन किया है ॥ ७३ ॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ।

प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

अर्थ— वह ब्रह्माजी तिस पूर्वोक्त अहोरात्रके अंतमें शयनमें स्थित हुआ ब्रह्माजी बोध करता है अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें प्राप्त होता है फिर प्रतिबुद्ध अर्थात् जागते है तब सत् असत्का आत्मक अपने मनको रचते है ॥ ७४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।

आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

अर्थ— रचनेकी इच्छा करताहुआ तिस परमात्माका मन सृष्टिको करता है पूर्वोक्त प्रकारसे महत्तत्त्वसे आकाश उत्पन्न हुआ तिस आकाशका गुण शब्द कहते है ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।

बलवान् जायते वायुः सवै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

अर्थ—विकारको करनेवाला आकाशसे संपूर्ण गंधों वहानेवाला पवित्र और बलवान् वायु उत्पन्न हुआ तिस वायुका गुणस्पर्श कहा है ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम ।

ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

अर्थ— वायुके विकारसे तम अर्थात् अंधेरेको नाशनेवाला और अन्य वस्तुका प्रकाश करनेवाला भास्वत् अर्थात् प्रकाशवाला ऐसा अग्नि उत्पन्न हुआ तिसका गुण रूप है ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।

अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

अर्थ— अग्निके विकारसे जल उत्पन्न होते भये उन्होंका गुणरस, कहा है और जलोंसे गंधगुणवाली, गंधवती पृथ्वी उत्पन्न भई इस प्रकारसे आदिमें पंचमहाभूतोंकी सृष्टि अर्थात् रचना है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

अर्थ— पहले जो दिव्य बारहजार वर्षोंका एक दैविकयुग कहाथा वैसे इकहत्तर ७१ युगोंका मन्वन्तर होता है अर्थात् तबतक एक मनुका अधिकार कहा है ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।

क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

अर्थ—ब्रह्माजी अपने सुखसे क्रीडा करते हुए कीतरह असंख्यात मनुष्यों को रचता है और अनेक संहार बारंबार करता है यद्यपि शास्त्रमें १४ मनु कहे हैं परंतु अनंतसृष्टि होनेसे आवृत्तिद्वारा अनेक मनु कहे हैं ॥ ८० ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।

नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

अर्थ—सत्ययुगमें संपूर्ण धर्म चार पैरोंसे युक्त रहा क्योंकि धर्मको बेलकेरूप करके निरूपण करते हैं सो चार पैरोंसे युक्त होनेसे सब अंगोंसे पूर्ण रहा और सत्य प्रधान रहा और शास्त्रकी मर्यादासे रहित, अधर्म करके धन विद्या आदि किसी वस्तुकी प्राप्ति मनुष्योंको नहीं करी ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।

चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

अर्थ—अन्यजो त्रेता आदि तीन युग हैं उन्होंने चोरी झूठ कपट इत्यादिकों करके यज्ञादि धर्म एक एक पाद हीन होता गया जैसे त्रेतामें तीन पैर द्वापरमें दो पैर कलियुगमें एक पैर धर्म रहता है ॥ ८२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।

कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्हसति पादशः ॥ ८३ ॥

अर्थ—सत्ययुगमें धर्मके प्रभावसे सब मनुष्य संपूर्णसिद्धियोंवाले और चार सौ वर्षकी आयुवाले होते भये और यह आयु त्रेता आदि युगोंमें एक एक पाद हीन होती गई जैसे त्रेतामें ३०० द्वापरमें २०० कलियुगमें १०० वर्षकी रह गई ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।

फलं त्वनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—इसप्रकार कही हुई, वेदोक्त आयु और कर्मोंके फलके विषयकी प्रार्थना, और ब्राह्मण आदिकोंके शाप अनुग्रह क्षमा आदि प्रभाव युगयुगके अनुसार फलते हैं ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेताया द्वापरेऽपरे ।

अन्ये कलियुगे नृणा युगहासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

अर्थ— युगोंकी हीनताके अनुसार मनुष्योंके धर्म सत्ययुगके अन्य है और त्रेताके जुदे है द्वापरके दूसरे है कलियुगके अन्यही है ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

अर्थ— सत्ययुगमें तप करना श्रेष्ठ है त्रेतामें ज्ञान और द्वापरमें यज्ञ कलियुगमें एकदानही प्रधान है यद्यपि तप आदि सब कर्म सब युगोंमें श्रेष्ठ है परंतु इनकी प्रधानता कही है ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।

मुखबाहूरुपज्जाना पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

अर्थ— वह महान् तेजवाला ब्रह्माजी इस सब सृष्टिकी रक्षाकेवास्ते मुख बाहु जांघ पैर इन्होंसे उत्पन्न होनवाले ब्राह्मण आदि वर्णोंके जुदे जुदे कर्म कल्पित करताभया ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

अर्थ— ब्रह्माजी ब्राह्मणोंके छह कर्मोंको कल्पित करतेभये पढ़ना १ पढ़ाना २ यज्ञ करना ३ कराना ४ दान लेना ५ दान देना ६ ये कर्मकिये हैं ॥ ८८ ॥

प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

अर्थ— प्रजाकी रक्षा करनी दान देना यज्ञ करना पढ़ना विषयोंमें आसक्त नहीं होना ये कर्म संक्षेपसे क्षत्रियोंके बनाये ॥ ८९ ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

अर्थ— पशु अर्थात् गाय बैल आदिकोंकी पालना करनी दान देना यज्ञ करनी पढ़ना वणिज करना व्याजकी वृत्ति करना खेती करना ये वैश्यके कर्म रचे ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

अर्थ—प्रभु समर्थ ब्रह्माजी ब्राह्मणआदि तीन वर्णोंकी सेवा करनी जिनके गुणोंकी निंदा नहीं करनी यही एक कर्म शूद्रका रचताभया यहां इस एक कर्मकी प्रधानता कही है और दान आदि अन्यभी कर्म करने श्रेष्ठ है ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्व नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

अर्थ—ब्रह्माजीने पुरुष पवित्र कहा है और नाभिसे ऊपर अत्यंत पवित्र कहा है और मुख तिस्सेभी श्रेष्ठ कहा है अर्थात् पुरुषके सब अंगोंमें मुख श्रेष्ठ है ॥ ९२ ॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैव धारणात् ।

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

अर्थ— उत्तमाङ्ग, मुखसे उत्पन्न होनेसे और क्षत्रिय आदिकोंसे प्रथम होनेसे वेदका धारण करनेसे सब जगत्कों धर्मकी शिक्षा करनेसे सब वर्णोंमें ब्राह्मण प्रभु अर्थात् समर्थ है, बड़ा है ॥ ९३ ॥

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।

हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

अर्थ— ब्रह्माजी सब जगत्की रक्षाकेवास्ते और देवताओंको हव्य और पितरोंको कव्य प्राप्त करानेकेवास्ते तप करके अपने मुखसे ब्राह्मणको रचताभया ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्रन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।

कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

अर्थ— जिस ब्राह्मणके मुखके द्वारा सदा श्राद्ध आदिकोंमें देव जे हव्यको और पितर कव्यको भोजन करते है तिन ब्राह्मणोंसे अधिक क्या है ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

अर्थ— स्थावर जंगम भूतमात्रोंमें प्राणीजीव श्रेष्ठ है और तिन्हींमें बुद्धिवाले

जीव तोता मैना आदिक श्रेष्ठ है तिन बुद्धिवाले जीवोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है मनुष्योंमें-
भी ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे हैं ॥ ९६ ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

अर्थ— ब्राह्मणोंमें विद्वान् श्रेष्ठ है विद्वानोंमें कृतबुद्धि अर्थात् शास्त्रोक्त अनु-
ष्ठानोंमें कर्तव्यता बुद्धिको करनेवाले श्रेष्ठ है तिन्होंमें तिस अनुष्ठानको कर-
नेवाले श्रेष्ठ है तिन्होंमेंभी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥ ९७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

अर्थ— ब्राह्मणकी उत्पत्ति यही धर्मकी शाश्वती अर्थात् अचल मूर्ति है
क्योंकि यह ब्राह्मण धर्मकेवास्ते उत्पन्न हुआ है और धर्मके अनुग्रह आत्म-
ज्ञान करके मोक्षकेवास्ते प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

अर्थ— पृथ्वीमें ब्राह्मणका उत्पन्न होना यही श्रेष्ठ है क्योंकि धर्मरूप खजाने-
की रक्षाकेवास्ते सब जीवोंका ईश्वर ब्राह्मणही है अर्थात् ब्राह्मणद्वारा धर्म
प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।

श्रेष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

अर्थ— जगतमें जो कुछ धन है सो सब ब्राह्मणकाही हैं और ब्रह्माजीके मु-
खसे उत्पन्न होनेसे तथा श्रेष्ठता होनेसे इस संपूर्णको ग्रहण करनेके योग्य
ब्राह्मण है यहां स्तुतिकी उक्ति कही है ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

अर्थ— जोकि ब्राह्मण दूसरेका अन्नको भोजन करता है और दूसरेका
वस्त्रको धारण करता है तथा दूसरेके वस्त्रादिको अन्यको दे देता है यह सब

ब्राह्मणकाही है यहां पहलेकी तरह स्तुति कही है और अन्य जन ब्राह्मण-
की करुणासे भोजनादिक करते है ॥ १०१ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।

स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

अर्थ— ब्रह्माका पुत्र बुद्धिमान् स्वायंभुव मनु ब्राह्मणके कर्म जाननेकेवास्ते और
क्रमके अनुसार क्षत्रिय आदिवर्णोंके कर्मके जाननेकेवास्ते इस धर्मशास्त्रकों
रचता भया ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।

शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यक्नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥

अर्थ— विद्वान् ब्राह्मणोंको यह धर्मशास्त्र यतन करके पढना चाहिये और शि-
ष्योंकेवास्ते पढाना तथा व्याख्यान करना चाहिये और अन्य वर्णोंकों सम्यक्
प्रकारसे अध्ययन करना योग्य नहीं है अर्थात् अध्ययन तो करें व्याख्यान
आदिका अधिकार नहीं ॥ १०३ ॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।

मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

अर्थ— इस शास्त्रको पढताहुआ और इसके अर्थको जानके अपने नियमोंका
अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण मन, वाणी, काया, इन पापोंसे कर्मदोषोंसे लि-
प्त नहीं होता है ॥ १०४ ॥

पुनाति पङ्क्तिवंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।

पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥

अर्थ— जिस पंक्तिमें कोई भ्रष्ट पुरुष बैठा हो ऐसी भ्रष्ट पंक्तिको और
अपने वंशमें होनेवाले पिता प्रपिता आदि सात पहलेके और पुत्र आदि
सात पिछेके जनोंको इस शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् पवित्र करता है और
वही एक सकल धर्मको जाननेवाला पुरुष पात्र होनेसे संपूर्ण पृथ्वीको ग्रहण
करनेको योग्य है ॥ १०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।

इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—यह शास्त्र कल्याणको प्राप्त करनेवाला है श्रेष्ठ है बुद्धिको बढ़ानेवाला है यशको करनेवाला तथा आयुष्यको बढ़ानेवाला है और मोक्षको देनेमें यह शास्त्र परम श्रेष्ठ है ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

अर्थ—इस शास्त्रमें संपूर्ण प्रकारसे धर्म कहा है और मनुष्योंके कर्मोंके गुण दोष कहे हैं तथा चारोंवर्णोंके यथार्थ आचार कहे हैं ॥ १०७ ॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।

तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥ १०८ ॥

अर्थ—वेद स्मृति इनमें कहाहुआ आचार परमधर्म है इसवास्ते आत्माके हितकी इच्छा करनेवाला द्विज आचारमें सदा प्रयुक्त रहै ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।

आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभागभवेत् ॥ १०९ ॥

अर्थ—आचारसे विगडाहुआ विप्र वेदके फलको नहीं प्राप्त होता है और आचारसे युक्त पुरुष संपूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अर्थ—पहले मुनिजन आचारको धर्मकी गति जानके संपूर्ण चांद्रायण आदि तपोंके मूलरूप परम उत्तम आचारको ग्रहण करते भये ॥ ११० ॥

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।

व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

अर्थ—अब इस ग्रंथकी अनुक्रमणिकाको कहते हैं, जगतकी उत्पत्ति पहली अध्यायमें कही है और संस्कारकी विधि ब्रह्मचारीके व्रताचरणका उपचार ये दूसरी अध्यायमें कहे हैं और स्नानका परम विधान ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥

अर्थ—और विवाहकी विधि तथा ब्रह्मआदि विवाहोंके लक्षण और वैश्वदेव

आदि पंचमहायज्ञोंका विधान और जो सनातन चलाआता है वह श्राद्धविधान ये तीसरी अध्यायमें कहे हैं ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।

भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

अर्थ— वृत्ति अर्थात् आजीविकाओंके लक्षण गृहस्थके नियम ये चौथे अध्यायमें कहे हैं, भक्षण करनेके योग्य पदार्थ अभक्ष्य पदार्थ, शौच द्रव्योंकी शुद्धि ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ।

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

अर्थ— स्त्रियोंके धर्मका उपाय ये पांचवे अध्यायमें कहे हैं और वानप्रस्थका धर्म, मोक्ष, संन्यासीका धर्म यह छठे अध्यायका विषय है और राजाके सब धर्म सातवे अध्यायमें कहे हैं और ऋणआदि कार्योंका निर्णय ॥ ११४ ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।

विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

अर्थ— साक्षीके प्रश्नका विधान, येह आठवी अध्यायका विषय है, और स्त्रीपुरुषके धर्मका विधान और विभाग अर्थात् जुदे होनेका धर्म, ज्वारी चौरोंका पत्ता लगाना ॥ ११५ ॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम् ।

आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

अर्थ— और वैश्य, शूद्र इन्हींके धर्मका उपचार यह नवमें अध्यायका विषय है और वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति, विपत्तिका धर्म ये दशवे अध्यायमें कहे हैं और प्रायश्चित्तकी विधि ग्यारवे अध्यायमें कही है ॥ ११६ ॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

अर्थ— देहान्तरमें प्राप्त होना यह संसारका गमन और उत्तम मध्यम अधम ऐसे तीन प्रकारके कर्म मोक्षका स्वरूप और कर्मोंके गुणदोषकी परीक्षा ॥ ११७ ॥

देशधर्माज्ञातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान् ।

पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

अर्थ— देशोंके धर्म और ब्राह्मण आदि जातियोंके धर्म और सनातन, कुलोंके और वेदसे विरुद्ध पाखंडीपुरुषोंके समूहोंके धर्म इन सब धर्मोंको मनुजी इस धर्मशास्त्रमें कहते भये ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्छास्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।

तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अर्थ— ऋषियोंके प्रति भृगुजी कहते हैं की, पहले मुजसे पूछेहुए मनुजी जिस प्रकार मेरेवास्ते कहते भये तैसेही आपभी अब मेरे सकाशसे सुनिये ॥ ११९ ॥

इति वेरीनिवासीबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितायां मन्वर्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।

तद्दयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

अर्थ— निस रागद्वेषादिकोंसे रहित और वेदके अर्थोंको जाननेवाले श्रेष्ठपुरुषोंने जिस धर्मका सेवन किया और अपने हृदयमें कल्याणका साधन जाना तिस धर्मको सुनो, यह कथन भृगुजीका ऋषियोंके प्रति है ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

अर्थ— पुरुषकों किसी फलकी अभिलाषा करनी उसको कामात्मता कहते हैं, सो अच्छी नहीं है क्योंकि कामना बंधनका हेतु है और नित्य नैमित्तिक कर्म आत्मज्ञान सहकारी होके मोक्षके हेतु है यहां इच्छामात्रका निषेध नहीं है क्योंकि वेदको अंगीकार किया है और वेदके सब धर्मोंका संबंध इच्छाकाही है इसवास्ते वैदिक कर्म करने योग्यही है ॥ २ ॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

अर्थ— इस कर्मसे यह प्रयोजन सिद्ध होगा इस विचारको संकल्प कहते हैं संकल्प हो लेता है तब उसमें काम इच्छा होती है तब उसका यतन करा जाता है ऐसे यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न होती है और व्रत नियम धर्म ये सब संकल्प-सेही होते हैं ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिदृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अर्थ— संसारमें जो कुछ भोजन गमन आदिक क्रिया है सो विना इच्छा कभीभी नहीं दीखती है इसवास्ते वैदिक तथा लौकिक जो जो कर्म यह पुरुष करता है सो इच्छाका कार्य है ॥ ४ ॥

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।

यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

अर्थ— यहां इच्छामात्रका निषेध नहीं है, इसीवास्ते कहते हैं की, जिन शास्त्रोक्त कर्मोंमें सम्यक् प्रकारसे वर्त्तता हुआ पुरुष बंधन हेतुफलकी अभिलाषा कियेविना अमर लोक अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है और जो पुरुष जैसे जैसे संकल्पोंको यहां विचारता है वह वैसी वैसीही कामना पितरलोकादिकोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

अर्थ— संपूर्ण वेद धर्ममूल है अर्थात् वेदमें धर्मही मुख्य कहा है और तिस वेदको जाननेवाले मनु आदिकोंकी स्मृति और शील अर्थात् रागद्वेषका परित्याग येभी धर्म मूल है और श्रेष्ठ पुरुषोंका आचारही कंवल, बलकल आदिकोंका धारण करना और मनका संतोष करना येहभी धर्ममूल है अर्थात् इन सबका उद्देश धर्मही है ॥ ६ ॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

अर्थ— जो कलुष धर्म किसीक ब्राह्मण आदिका मनुजीने कहा है वह सब धर्म वेदमें कहा है क्योंकि वह मनुजी सब ज्ञानको जाननेवाला है ॥ ७ ॥

सर्वे तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत् वै ॥ ८ ॥

अर्थ— विद्वान् पुरुष मीमांसा व्याकरण आदि ज्ञानचक्षुकरके शास्त्रमें उत्पन्न हुए संपूर्ण वेदके अर्थोंको विचारके वेदके प्रमाण कियेहुए अनुष्ठानसे अपने धर्ममें स्थित रहै ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

अर्थ— वेद और स्मृतिमें कहाहुआ धर्मका अनुष्ठान करताहुआ पुरुष इस लोकमें कीर्तिको प्राप्त होता है, और परलोकमें स्वर्ग, मोक्ष, आदिक उत्तम सुखको प्राप्त होता है यहां सिद्धान्त गुण कथन करनेसे यह विधि कही है की, श्रुतिस्मृतिमें कहाहुआ धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ ॥ १० ॥

अर्थ— श्रुति वेद है और स्मृति मन्वादिकोंका धर्मशास्त्र है ये दोनों संपूर्ण प्रयोजनोंमें अतर्क्य है अर्थात् किसीतरहका इन्होंमें तर्क न करे क्योंकि इन्होंसे कहाहुआ धर्म प्रकाशताको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः ।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

अर्थ— जो द्विज श्रुतिस्मृति इन दो पुस्तकोंको हेतु शास्त्राश्रय अर्थात् वेदके वचनोंका प्रमाण नहीं इत्यादिक वचनोंकरके निंदा करता है वह पुरुष श्रेष्ठ पुरुषोंकरके पंक्तिसे बाहिर निकासदेना चाहिये क्योंकि वेदकी निंदा करता है इसीवास्ते नास्तिक है ॥ ११ ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अर्थ— वेद मन्वादिकोंकि स्मृति सदाचार शील आदि और संतोष, यह चार प्रकारका साक्षात् धर्मका लक्षण है ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मं ज्ञानं निधीयते ।

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ— जो पुरुष अर्थ कामना इन्होंमें आसक्त नहीं है उन्होंका यह ज्ञान-
रूप धर्म निरूपण किया है और धर्मको जाननेकी इच्छावाले पुरुषोंका
परम उत्तम प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है ॥ १३ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अर्थ— जहां श्रुति दो प्रकारकी है अर्थात् वेदमें दो प्रकारके धर्म कहे हैं
वहां दोनों धर्म करने मनुजीने कहे हैं क्योंकि मनुजीसे पहलेके ऋषियोंनेभी
वे दोनों धर्म अच्छी प्रकारसे कहे हैं ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।

सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

अर्थ— उदित अर्थात् सूर्य उदय हो रहा है और अनुदित नहीं उदय
हो रहा हो और समयाध्युषित अर्थात् सूर्य नक्षत्र आदिकोंसे रहित ऐसा काल
विरुद्ध है परंतु विकल्प होनेसे ऐसे सब कालोंमें यज्ञ करनी चाहिये यह वे-
दकी श्रुति है यहां यज्ञशब्द गौण है उदय होनेके समय होम करना चा-
हिये यह वेदकी श्रुति है ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्वैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयोनान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

अर्थ— जिस वर्णकी गर्भाधानसे लेके अंतेष्टीपर्यंत वेदके मंत्रोंकरके अनु-
ष्ठान विधि कही है तिसका अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यका इस शास्त्रमें अधि-
कार है और यह अन्य शूद्रादिकको नहीं पढ़ना चाहिये ॥ १६ ॥

सरस्वतीद्विषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

अर्थ— सरस्वती, देवनदी अर्थात् गंगा यमुना इन्होंके मध्यका जो देश
है वह देवताओंकरके रचाहुआ है उसको ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

अर्थ—ये जो व्रात्यसंज्ञक अपवित्र वर्ण हैं इन्होंके संग ब्राह्मण विपत्तिकालमें भी कभी अध्यापन तथा कन्यादान भोजनआदि कर्मोंको न करे ॥ ४० ॥

कार्ण्यैरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।

वसीरन्नानुपूर्वेण शाणक्षौमादिकानि च ॥ ४१ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी, कालामृग, रुरुमृग भेड इन्होंकी चर्मको ओढ़े ब्राह्मण आदिक यथाक्रमसे इन चर्मोंको धारण करें और शाण रेशमी वस्त्र इत्यादिकोंका अधोवस्त्र करे ॥ ४१ ॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकी मेखला, मुंजकीसमान तीन गुणियोंसे बनाई हुई और बारीक अर्थात् सुखस्पर्शवाली ऐसी करनी चाहिये और क्षत्रियकी धनुषकेसमान रूपवाली और मूर्वा अर्थात् मरोडफली (तृणविशेष) की मेखला करै वैश्यकी शणके तंतुवोकी करै ॥ ४२ ॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

अर्थ—मुंज न मिले तो कुशा, आपटा, बल्वज (तृणविशेष) इन्होंकी मेखला तीन गुणियोंवाली एक ग्रंथि करके अथवा तीन ग्रंथियोंकरके तथा पांच ग्रंथियोंकरके बनानी चाहिये ॥ ४३ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपासके सूत्रका बनावे ऊर्ध्ववृतकरके त्रिगुण बनावे अर्थात् नवतारका बनावे और राजाका जनेऊशणका और वैश्यका भेडकी ऊनका बनावे ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।

पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—ब्राह्मणका दंड बेलका अथवा पलाशका करै और क्षत्रियका दंड वडका अथवा खैरका और वैश्यका दंड पीलू तथा गूलरका करै यह धर्म इस क्रमसे सब वर्णोंका जानना ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाटसंमितो राज्ञः स्यात् नृणां नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

अर्थ— ब्राह्मणका दंड केशोंतक प्रमाण का ऊंचा हो और क्षत्रियका दंड मस्तक पर्यंत हो और वैश्यका दंड नासिकातक प्रमाणका हो ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ— वे ब्राह्मण आदिकोंके दंड सरल हो और छिद्रोंसे रहित हो सुंदर दीखते हों मनुष्योंको भयंकर नहीं हो वकलासहित हो और अग्निसे जले हुए नहीं हो इस प्रकारके दंड तीनों वर्णोंके करै ॥ ४७ ॥

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।

प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अर्थ— इप्सित अर्थात् प्राप्त होनेके योग्य दंडको ग्रहणकरके सूर्यके सम्मुख स्थित हो अग्निकी प्रदक्षिणा कर यथाविधिसे भिक्षाका आचरण करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।

भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ— ब्राह्मणका उपनयनकर्म किया जावे तब भवत् शब्दको पूर्व उच्चारण करके भिक्षा मांगे जैसे भवति भिक्षां मे देहि और क्षत्रिय मध्यमें भवत् शब्दको कहै जैसे भिक्षां भवति देहि वैश्य अंतमें कहै जैसे भिक्षां देहि भवति ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।

भिक्षेत भिक्षा प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

अर्थ— यज्ञोपवीतसंबंधी भिक्षाको प्रथम मातासे मांगै अथवा बहन नसे तथा- मौसीसे मांगै जोकि पहले इसका अपमान न करे तिससे मांगनी चाहिये ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।

निवेद्य गुरवेऽश्रीयादाचम्य प्राञ्जुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

अर्थ— बहुतसे जनोंसे तिस भिक्षाको ल्याके निष्कपट होके गुरुकेवास्ते तृप्ति-पर्यंत देके आचमन कर पूर्वाभिमुख होके भोजन करै ॥ ५१ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

अर्थ—आयुके हितकेवास्ते पूर्वकी तर्फ मुखकरके भोजन करै, यशकेवास्ते दक्षिणाभिमुख होके भोजन करै, लक्ष्मीकेवास्ते पश्चिमकी तर्फ मुखकरके भोजन करै, सत्यकेवास्ते उत्तरकी तर्फ मुखकरके भोजन करै ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।

भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगग्निः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—ब्राह्मण नित्यप्रति आचमनआदिकरके भोजन करै स्वस्थचित्त होके भोजन करनेके पीछे हाथ पैरोंको धोके जलका स्पर्श कर चक्षु, कर्ण, आदि इंद्रियोंको स्पर्श करै ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ।

दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

अर्थ—नित्यप्रति भोजनका पूजन करै अर्थात् अच्छा और निंदा नहीं करै भोजनको देखकै प्रसन्न होत्सदा हमारेको यह भोजन मिलो, ऐसैं सराहके नमस्कार करै ॥ ५४ ॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति ।

अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—पूजित भोजन नित्यप्रति बलको और वीर्यको बढ़ाता है और विना पूजन कियाहुआ भोजन बल वीर्य इन दोनुवोंको नाशता है ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।

न चैवाह्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—झूठा भोजन किसीको नहीं देवे और मध्यान्ह समयके तथा रात्रिके भोजनके बीचमें तीसरेवार भोजन नहीं करै और उच्छिष्टहुआ कहीं गमन न करै ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।

अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—इस प्रकार ज्यादै भोजन कियाहुआ आरोग्य नहीं देता आयुमें हित

नहीं है इसीवास्ते अजीर्णआदि रोगोंमें मरनेसे स्वर्गकोंभी नहीं प्राप्त होने देता, पवित्र नहीं है और लोगोंमें निंदा कराता है इसवास्ते तिस ज्यादा भोजनको वर्ज देवै ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण आदि वर्ण ब्राह्मतीर्थकरके आचमन करै अथवा देवतीर्थकरके आचमन आदि करै और पितृतीर्थ करके आचमन आदिकभी न करै ॥ ५८ ॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।

कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

अर्थ—अङ्गुष्ठ मूलके नीचे ब्राह्मतीर्थकों कहते हैं और कनिष्ठिका अङ्गुलिके मूलमें कायतीर्थकों और उसीके अग्रभागमें दैवतीर्थकों कहते हैं और अङ्गुष्ठ प्रदेशिनी इन दोनोंके मध्यमें पितृतीर्थकों कहते हैं ॥ ५९ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।

खानि चैव स्पृशेदद्विरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

अर्थ—पहले तीन आचमनकर पीछे दोवार मुखकै जल स्पर्शकरके मुखकी शुद्धि करै पीछे जलकरके चक्षु आदि इंद्रियोंको शिरको और हृदाको स्पर्श करै ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।

शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

अर्थ—आगरहित और गरमाईसेरहित अर्थात् शीतल जलसे, पवित्र होनेकी इच्छा करनेवाला धर्मको जाननेवाला पुरुष एकान्त जगहमें पूर्वकी तर्फ अथवा उत्तरकी तर्फ मुखकरके आचमन करै ॥ ६१ ॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।

वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस प्रकार कहाहूआ आचमनका जल हृदातक पहुंचनेसे ब्राह्मण शुद्ध होता है और कंठतक पहुंचनेसे क्षत्रिय शुद्ध होता है और मुखमें पहुंचनेसे वैश्य पवित्र होता है और शूद्र जलका स्पर्श करनेसेही शुद्ध होजाता है ॥ ६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।

सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

अर्थ—दहिना हाथ बाहिरको और बायेंहाथपर यज्ञोपवीत अथवा वस्त्र रहै उसको उपवीती द्विज कहते हैं और दहिनें हाथमें यज्ञोपवीत रहै उसको प्राचीनावीति कहते हैं और कंठमें यज्ञोपवीत तथा वस्त्र रहै उसको निवीती कहते हैं ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृहीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—मेखला अजिन अर्थात् मृगछाला, दंड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु ए दूट जावें तब पानीमें डाल देन चाहिये और अपने अपने गृहोक्तमंत्रोंकरके अन्य नवीन धारण करै ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यबंधोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

अर्थ—केशान्त अर्थात् गृहोक्तसमावर्तनकर्म ब्राह्मणकै सोलहें वर्षमें करै, क्षत्रियकै बाईसवें वर्षमें करै, वैश्यके चोवीसवें वर्षमें करै ॥ ६५ ॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—यह कहीहुई जातकर्मादि क्रिया स्त्रियोंकै शरीरके संस्कारकेवास्ते कहे-हुए कालके क्रमसे अमंत्रक अर्थात् वेदके मंत्रोंकेविना करै ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

अर्थ—स्त्रीकै जो विवाहकी विधि है यही उपनयन संस्कार मनुआदिकोंको कहा है और पतिकी सेवा करनी यही वेदाध्ययनरूप गुरुकुलवास है और घरका कृत्य करना यही सायंप्रातःकाल अग्निहोत्रकर्म कहा है ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।

उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ—यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनोंवर्णोंकी उपनयन संबंधी विधि कहदी

है यह विधि दूसरे जन्मको प्रकट करनेवाली है और पवित्रहै अब इससे आगे जो कर्म कर्तव्य है उसको सुनो ॥ ६८ ॥

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।

आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

अर्थ—गुरु शिष्यकों उपनयनसंस्कार कराके शौच आदिक आचार और सा-
यंप्रातःकाल अग्निहवन संध्योपासन ए कर्म शिखलावे ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदञ्मुखः ।

ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

अर्थ—पढ़नेवाला शिष्य शास्त्रके अनुसार आचमन कर और उत्तरकी तर्फ
मुखकर ब्रह्म अंजली बांधके पवित्र हलका वस्त्रकों धारण कर और जितेन्द्रिय
हो गुरुसे पढ़े ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।

संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

अर्थ—वेदके पढ़नेके आरंभमें और अंतमें गुरुके पैरोंको सदा ग्रहण करै और
हाथ जोड़के बैठके पढ़े इसको ब्रह्मांजलि कहते हैं ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।

सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

अर्थ—सूधा हाथ करके गुरुके पैरोंको स्पर्श करै बायें हाथसे बायें पैरको छूवै
और दहिनें हाथसे दहिनें पैरको छूवै ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

अर्थ—आलस्यरहित गुरु नित्यप्रति, पढ़नेवाले शिष्यकों पढ़नेकेसमय अधीष्व
भो अर्थात् हे शिष्य पढ़ो ऐसे कहै और विरामोस्तु ऐसे गुरु कहै अर्थात् अबव-
ना करो ऐसे कहै तब शिष्य पढ़ना बंद करै ॥ ७३ ॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।

स्रवत्यनौकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

अर्थ—ब्राह्मण सदा वेदके पढ़नेके आरंभमें और अंतमें ॐ ऐसे कहै क्योंकि

जो पहले अँकार नहीं कहता है उसका पठना धीरें धीरें नष्ट होजाता है और जो पीछे अँ नहीं कहाता है उसके यादही नहीं रहता है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

अर्थ—पूर्वाग्र कुशाओंको विछाके तिनपें बैठे और हाथोंमें कुशाके पवित्रोंसे पवित्र हो फिर तीन प्राणायामों करके पवित्र हो तब अँकार कहनेको योग्य होता है ॥ ७५ ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयान्निरदुहृद्भुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥

अर्थ—ब्रह्माजी अकार उकार मकार इन अक्षरोंको और भूर्भुवःस्वः इन तीन व्याहृतियोंको तीनोंवेदोमांसे क्रमसे निकासते भये ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदुहृत् ।

तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

अर्थ—ब्रह्माजी ऋक्, यजु, साम इन तीन वेदोंसे तत् ऐसे प्रतीकसे ऋचा जिसमें है ऐसी गायत्रीके एकएक पादकों निकासते भये ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।

संध्योर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ—जो वेदकों जाननेवाला ब्राह्मण अँकारकों और व्याहृतियोंसहित इस-गायत्रीकों दोनों संध्याओंमें पढता है वह विप्र वेदत्रयी पढनेके पुण्यको प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्रिकं द्विजः ।

महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो द्विज त्रिक अर्थात् अँकारसहित त्रिपाद् इस गायत्रीकों ग्रामसे बा-हिर नदी आदिमें हजारवार एक महीनातक जपता है वह बहुत पापसेभी छूट जाता है. जैसे कांचलीसे सर्प छूट जाता है तैसे ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।

ब्रह्मक्षत्रियविद्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

अर्थ—इस गायत्रीके जप करनेसे रहित और सायंप्रातर्होम आदि अपनी क्रियासे रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सज्जनपुरुषोंमें निंदाकों प्राप्त होता है ॥८०॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—ओंकारपूर्वक तीन महाव्याहृति भूर्भुवः स्वः ए मोक्षफलके हेतु होनेसे अविनाशी है और यह त्रिपदागायत्री वेदका मुख जानना अथवा परमात्माकी प्राप्ति का मुख अर्थात् द्वार जानना चाहिये ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो पुरुष दिन दिन प्रति आलस्यरहित होके तीनवर्षतक ओंकारयुक्त गायत्रीको जपता है वह परमब्रह्मको प्राप्त होता है और वायुकी तरह कामचारी होके ब्रह्मकी मूर्तिरूप हो जाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ—ओं यह जो एकाक्षर है सो परमब्रह्म है मोक्षका हेतु होनेसे, और ओंकारसहित व्याहृतियोंकी तीन आवृत्तियोंके प्राणायाम जो है सो परमतप है, गायत्रीसे अधिक कोई मंत्र नहीं है मौन धारणसे सत्य श्रेष्ठ है ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः ।

अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

अर्थ—हवन आदिक और यज्ञ आदिक संपूर्ण वेदकी क्रिया फलकी अवधि होनेपर नष्ट होजाती है और नहीं क्षय होनेवाला ब्रह्मरूप प्रजाका पति ऐसा दुष्कर ओंकार है मोक्षका हेतु होनेसे क्योंकि ब्रह्मभावका विनाश नहीं है ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाजपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

अर्थ—बलि वैश्वदेव आदि विधि यज्ञोंसे ओंकारआदिकोंकी जप यज्ञ दशगुनी अधिक है और उपांशु अर्थात् समीपमें स्थितहुआ मनुष्यकों नहीं सुनै ऐसा जपयज्ञ सौ १०० गुना है और मानस अर्थात् जिसमें जिह्वा ओष्ठ नहीं हिलै वह यज्ञ हजारगुना कहा है ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो पंचमहायज्ञोंमें वैश्वदेव आदि चार पाकयज्ञ हैं, विधियज्ञ अर्थात् अमावस्या पौर्णिमा आदि उनसहित वे सवयज्ञ जपयज्ञके सोलहवेहिस्सेकोभी प्राप्त नहीं होते ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण जपमात्र करनेसेही सिद्धिको प्राप्त हो जाता है इसमें संदेह नहीं और अन्य यज्ञआदिकोंको करो अथवा मतकरो क्योंकि ब्राह्मण मैत्र कहाता है अर्थात् सबके संग मित्रता रखनेवाला कहाता है और यज्ञ आदिकोंमें पशुवध होनेसे सब प्राणियोंमें प्रियता नहीं होसक्ती यहां जपकी प्रशंसा कही है कछु यज्ञका निषेध नहीं जानना ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—वशमें नहीं होसकें ऐसे विषयोंमें विचरती हुई इंद्रियोंको विद्वान् पुरुष यत्नसे वशमें रखे जैसे रथमें जुड़ेहुए घोड़ोंको सारथी वशमें रखता है तैसे ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।

तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

अर्थ—पहलेके पंडितजन जिन ग्यारह इंद्रियोंको कहतेभये तिन्हेंको यथार्थ-क्रमसे अबके पुरुषोंकी शिक्षाकेवास्ते, कहेंगे ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।

पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

अर्थ—तिन इंद्रियोंमें श्रोत्र १ त्वचा २ चक्षु ३ जिह्वा ४ नासिका ५ गुदा ६ लिंग ७ हाथ ८ पैर ९ वाणी १० ए दश बाह्यइंद्रिय कही है ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाश्चादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

अर्थ—इन्होंमें क्रमसे श्रोत्र आदि ५ पांच बुद्धिंद्रिय कहाती है और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाती है ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।

यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

अर्थ—तहां दशइंद्रियोंमें ग्यारहवा मन है यह अपने गुणकरके ज्ञानेंद्रिय और कर्मेन्द्रिय इन्होंका प्रवर्तक है जिस मनके जीतनेसे दोनो प्रकारके इंद्रियपंचक ५ ज्ञानेंद्रिय कर्मेन्द्रिय जीते जाते हैं ॥ ९२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

अर्थ—इंद्रियोंका विषयके संग प्रसंग होनेसे निसंदेह दोष प्राप्त होता है इसवास्ते तिन इंद्रियोंको रोकलेवे तब सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ९३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

अर्थ—विषयोंके भोग करनेसे कभीभी तिनविषयोंकी इच्छा शांत नहीं होती है जैसे घृतकरके अग्नि फिर बढ़तीही है ऐसे फिर बढ़तीही जाती है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलास्त्यजेत् ।

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन सब विषयोंको प्राप्त हो जाता है और जो केवल इन विषयोंको त्याग देता है इन्होंमें सब विषयोंकी प्राप्ति होनेसे त्याग श्रेष्ठ कहा है ॥ ९५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।

विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

अर्थ—ये जो इंद्रिय विषयोंमें आसक्त हो रही है सो विषयोंके वर्जनसे तैसैं नहीं रुकसकती है कि जैसैं विषयोंके दोषके यथार्थ ज्ञानसे रुकती है ॥ ९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

अर्थ—वेद, भोग आदिकोंका त्याग, यज्ञनियम तप, ए सब दुष्ट भाववाले जनके कभीभी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

अर्थ—स्तुतिवाक्य तथा निंदावाक्यको सुनके कठोर और कोमल वस्त्रको पहि-
नके, सुरूपकुरूपकों देखके स्वादवेस्वाद भोजन करके श्रेष्ठ गंध तथा दुष्टगंधको
सूंघके जो पुरुष प्रसन्न नहीं होता है और दुःखित नहीं होता है वह जितेन्द्रिय
जानना ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।

तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—सब इंद्रियोंमेंसे जो यदि एक इंद्रियभी नहीं रोकी जाती है तो उस-
करके इस पुरुषकी बुद्धि नष्ट हो जाती है जैसे मशकमेंसे एक छिद्र करके सब
जल निकस जाता है तैसे ॥ ९९ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।

सर्वान्संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अर्थ—बाह्य इंद्रियोंके समूहको वशमें कर मनको रोक संपूर्ण अर्थ अर्थात् अर्थ
काम धर्म मोक्ष इन प्रयोजनोंको युक्तिसैं सिद्ध करै, और शरीरको पीडा नहीं देवै १००

पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

अर्थ—प्रातःकालकी संध्यामें सूर्यके दर्शन होनेतक खड़ा होके गायत्रीका जप
करै और सायंकालकी संध्यामें तारे दीखै तबतक बैठके जप करै ॥ १०१ ॥

पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—प्रातःकालकी संध्यामें स्थित हुआ जपकरता हुआ पुरुष रात्रिके पापको
दूर कर देताहै और सायंकाल संध्या करनेसे दिवसमें किये हुए पापको नष्ट
कर देता है ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।

स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

अर्थ—जो पुरुष प्रातःकाल संध्योपासन नहीं करता और सायंकाल संध्या

और तद्विहित गायत्री जपनहीं करता है वह संपूर्ण कर्म द्विजाति सत्कार आ-
दिसे शूद्रकी तरह पंक्तिसे बाहिर निकास देना चाहिये ॥ १०३ ॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

अर्थ—वनमें जाके समाधान हो नदीआदिके जलके समीपमें स्थितहो नियत-
द्रियहो के नैत्यक विधिमें स्थितहुआ गायत्रीका जप करै ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।

नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

अर्थ—वेदांग शिक्षादिकके पढनेमें नित्यकी ब्रह्मकी उपासनामें और होमके
मंत्रोंमें अनध्याय नहीं है ॥ १०५ ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—नैत्यक जप यज्ञमें अनध्याय नहीं है क्योंकि वह ब्रह्मसत्र अर्थात्
ब्रह्मयज्ञ कहा है ब्रह्म आहुतिसे हुतजनितपुण्य अनध्यायसे कियाहुआ वषट्का-
रसे पुण्य प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।

तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

अर्थ—जो पुरुष पवित्रहो जितेंद्रियहोके विधिपूर्वक स्वाध्याय जप यज्ञको वर्ष-
दिनतक करता है तिसको वह जप यज्ञ दूध दही घृत मधु इन्होंको नित्य देता है
क्योंकि इन्होंसे देवता पितर ए तृप्त होते हैं ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

अर्थ—उपनयन कियाहुआ द्विज समावर्तन कर्म अर्थात् गुरुसे पढके घरमें आ-
नेकी विधि जबतक नहीं होवे तबतक सायंप्रातःकाल हवन करना भिक्षामांग-
नी पृथ्वीपे सोना गुरुकी सेवा करना इसप्रकार आचरण करै ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।

आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥

अर्थ—आचार्यका पुत्र १ टहैलकरनेवाला २ किसी वस्तुका ज्ञान देनेवाला ३ धर्म-वित् ४ पवित्र ५ बांधव ६ धारणशक्तिवाला ७ धन देनेवाला ८ हितकी इच्छा करनेवाला ९ ज्ञातिका जन १० ए दशपुरुष धर्मसे पढ़ानें चाहिये अर्थात् इनके पढ़ानेका धर्म है ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद्भूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—किसीके पूछेविना न बोलै और अन्यायसे छलसे पूछनेसेभी न बोले बुद्धिमान् पुरुष दूसरेके प्रयोजनको जानकेभी लोगोंमें अजानसा रहै ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥

अर्थ—जो अधर्म करके बोलता है और जो अधर्मसे पूछता है इन दोनोंमें एक कोइसा मरजाता है अथवा तिन्होंका वैरभाव हो जाता है ॥ १११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।

तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

अर्थ—जिस शिष्यके पढ़ानेमें धर्म और प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तथा कुछ टहैल नहींहो तहां विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये जैसे ऊषारभूमिमें सुंदर चावल आदिबीजोंका बोना योग्य नहीं तैसे ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।

आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

अर्थ—ब्रह्मवादि पुरुषनें विद्याके संगही मरजाना योग्य है परंतु घोर विपत्तिमें-भी ऊषरभूमिमें नहीं बोवै अर्थात् दुष्ट शिष्यको न पढ़ावे ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेषविस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।

असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

अर्थ—विद्या अर्थात् विद्याधिष्ठात्रीदेवता किसी अध्यापक ब्राह्मणके प्रति आके कहतीभई कि मैं तेरा खजाना हूं तू मेरी रक्षा कर निंदा करना आदि दोषवालेकेवास्ते मुझको मत दे ऐसे करनेसे मैं असंत पराक्रमवाली हो जावूंगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।

तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

अर्थ—पवित्र और निरंतर ब्रह्मचर्यमें रहनेवाले जिस शिष्यको जानों प्रमा-
दसे रहित और विद्यारूप खजानेकी रक्षा करनेवाले तिस ब्राह्मणकेवास्ते मुज-
को कहो ॥ ११५ ॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नोयात् ।

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो अन्य कोई पढ़ रहा हो उसीको उसके पढ़ानेवालेसे सीखलेवे वह वे-
दकी चोरीसे युक्त हुआ नरकमें प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—लौकिकज्ञान तथा वेदार्थज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान जिससे ग्रहण करे उसको
वहु मान्यों के मध्यमें यथोत्तर प्रथम अभिवादन करे और उक्त तीनोंमें । प्रथम
ब्रह्मज्ञानीको अभिवादन करना चाहिये ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।

नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

अर्थ—शास्त्रके नियमोंको करनेवाला विप्र गायत्रीमात्रको जाननेवालाभी श्रेष्ठ
है और जो अभक्ष्य भोजनका भक्षण करता है तथा सब वस्तुओंको बेचता है
वह तीनोंवेदोंका पढ़ा हुआ ब्राह्मणभी श्रेष्ठ नहीं है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।

शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस समय गुरुशय्या तथा आसनमे स्थित हो रहे हो तब उनके पास
नहीं बैठे और आप शय्यापे तथा आसनपे बैठा हो तब गुरु आजावे तो उसको
खड़ाहोके नमस्कार करै ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

अर्थ—विद्यासे अथवा अवस्थासे वृद्ध पुरुष आजावे तब अल्प अवस्थावाले

पुरुषके प्राण शरीरसे बाहिर निकस ऊपर आनेकी इच्छा करते हैं इसवास्ते विद्या वा अवस्थादिकोंमें वृद्ध पुरुष आवे तब खड़ा होके नमस्कार करे पीछे तिन प्राणोंको सुस्थ करै ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—खड़ा होके सर्वदा वृद्ध पुरुषोंको नमस्कार करनेवाले तथा नित्य वृद्धपुरुषोंकी सेवा करनेवाले पुरुषके आयु, विद्या, यश, बल ये चार वस्तु बढ़ती है १२१

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

अर्थ—बड़े पुरुषको नमस्कार करताहुआ विप्र नमस्कारके अंतमें ऐसों कहै कि मैं नमस्कार करता हूं अमुक नामवाला हूं ऐसे अपने नामका उच्चारण करै १२२

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।

तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

अर्थ—जिन वृद्धपुरुषोंको अभिवादन करै वे संस्कृतमें नामधेयके अर्थको नहीं जानते हैं तो अभिवादये अमुकशर्माहमस्मि भोः ऐसे कहके निजभाषामें कहै कि मैं विद्वान् हूं आपको नमस्कार करता हूं ऐसेही निजभाषामें स्त्रियोंको कहना चाहिये ॥ १२३ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।

नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अर्थ—नमस्कार और नामके अंतमें भोः ऐसा शब्दको उच्चारण करै नामोंके स्वरूपकी जो सत्ता है सो भोः शब्दके कहनेसे सिद्ध होती है ऐसे ऋषियोंने कहा है जैसे अभिवादये शुभशर्माहमस्मिभोः ऐसे ब्राह्मण कहै इसी प्रकार क्षत्रिय आदिभी कहै ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः छुतः ॥ १२५ ॥

अर्थ—नमस्कार करनेवालेको आयुष्मान् भव सौम्य, शुभशर्मन् ऐसे ब्राह्मण कहै इस नमस्कार करनेवालेके नामका पूर्व अक्षरको छुत करै ॥ १२५ ॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।

नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

अर्थ—जो पुरुष नमस्कार करनेवालेको क्या कहना चाहिये इस बातको नहीं जानता है तिसकेवास्ते विद्वानको नमस्कार नहीं करनी क्योंकि वह शूद्रके समान है ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।

वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

अर्थ—ब्राह्मणसे मिलके नमस्कारादि अनंतर कुशल पूछे क्षत्रियसे अनामय पूछे वैश्यसे क्षेम पूछे शूद्रसे आरोग्य पूछे ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।

भो भवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

अर्थ—दीक्षितहुआ जन कनिष्ठ होवे तोभी धर्मको जाननेवाला पुरुष तिसका नाम लेके नहीं बोलै किंतु भो, भवत्, इन शब्दोंको पूर्वकहके बोलै जैसे भो दीक्षित इदंकुरु भवतायजमानेन इदं क्रियताम् ऐसे कहै ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।

तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

अर्थ—जो अन्यकी स्त्री होवै असंबन्धा अर्थात् सासू आदिसंबन्धवाली न होवे तिसको सुभगे भगिनि ऐसे कहके बोलै ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुन् ।

असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

अर्थ—मातुल, पितृव्य अर्थात् चाचा श्वशुर पुरोहित गुरु ये छोटी उमरवाले हो तो इनके आनेपर खड़ा होके मैं अमुक नामवाला हूं ऐसे अपने नामको प्रकट करै किंतु अभिवादन नहीं करै ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।

संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

अर्थ—माताकी वहैन मांमी सासू पिताकी वहैन ये सब गुरुकी पत्नीकी

तरह पूजनी योग्य है क्योंकि येभी गुरुकी भार्यके समान है इसवास्ते प्रत्युत्थान आदिभी करै ॥ १३१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।

विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

अर्थ—बडाभाईकी सजातीय स्त्री दिन दिन प्रति पूजनीय है तिसके पैरोंमें नमस्कार करै और जातिसंबंधी स्त्री मांमी, सासू इसदिक इन्होंको परदेशसे आनेपर नमस्कारादि करै दिनदिनप्रति नहीं ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।

मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

अर्थ—पिताकी वहैन माताकी वहैन अपनी बड़ी वहैन इनका माताके समान आदरसत्कार करै परंतु माता इन्होंसे अधिक है ॥ १३३ ॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अर्थ—एक पुरमें रहनेवाले जनोंमें आपसमें जो दशवर्षतक बडा हो तबतक सख्य अर्थात् मित्रभाव जानना यह नियमविना पढे हुएका है और जो गीत आदि कला जानता हो तिसका पांच वर्षतक जो वेदपाठी पंडित हो तिनहोंका तीनवर्षतक और स्वजातिबंधुमें थोडेही दिनतक है इस उक्तकालके पीछे तिनहोंका बडाकी तरह व्यवहार है ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।

पितापुत्रौ विजानीयद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

अर्थ—दशवर्षका ब्राह्मण और सौ१०० वर्षका क्षत्रिय इन्होंको पिता पुत्र जानै सौवर्षके क्षत्रियको दशवर्षका ब्राह्मण पिताके समान है ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।

एतानीमान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—न्यायसे इकट्ठा कियाहुआ धन, पितृव्य आदि बंधु श्रुतिस्मृत्युक्त कर्म विद्या ये पांचों माननेके स्थान है इन्होंमें एकसे एक बडा है ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूर्यासि गुणवन्ति च ।

यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनवर्णोंमें इन पूर्वोक्त पांच गुणोंमाहसे जिसमें अधिक गुण हों वह माननेके योग्य है जैसे वित्तबंधु इनसे युक्त अधिक अवस्थावालेसे मान्य है इन तीनोंसे युक्त हो वह कर्मवालेसे मान्य है इस क्रमसे जानो और नव्वे ९० वर्षसे अधिक अवस्थावाला शूद्रभी मानना योग्य है १३७

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

अर्थ—रथ आदिपे सवार हुवा दशमीस्थ अर्थात् नव्वेवर्षसे अधिक, रोगी, वोझालिये आनेवाला स्त्री, स्नातक, अर्थात् समावर्तन कर्म किये आताहो राजा विवाहकेवास्ते जानेंवाला, वर इन्होंकेवास्ते रास्ता छोडदेना चाहिये ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।

राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त सब जन एकजगंह मिलें तो इन्होंमेंभी राजा और स्नातक ब्रह्मचारी ये मान्य है और इन दोनोंमेंभी राजासे स्नातक माननेकों योग्य है १३९

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयनकर्म कराके तिसको यज्ञविद्या और उ-
पनिषद्सहित वेदको पढाता है तिसको आचार्य कहते है ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण वेदकी एक आधशाखा और वेदांगव्याकरण आदिकों-
को वृत्तीकेवास्ते पढावे उसको उपाध्याय कहते है ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण निषेक अर्थात् गर्भाधान आदिक कर्मोंको यथार्थ विधिसे करता है और अन्न खिलानेके पालता है बढाता है वह गुरु कहाता है यह गु-
त्वोपदेश पिताको कहा है ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।

यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण अग्न्याधेय अर्थात् आवहनीयादि अग्नि उत्पादककर्मकों करता है और अष्टक आदि पाक यज्ञोंकों और अग्निष्टोमादिक यज्ञोंकों जिस यजमानसे वरण लेके करता है वह उसका ऋत्विक् है ऐसे इस शास्त्रमें कहा है ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणाबुभौ ।

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण ससरूप वेदविद्याकों दोनों कानोंमें भर देवै वह मातापिताके-समान है तिसके संग कभीभी द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

अर्थ—दश उपाध्यायोंकेसमान एक आचार्यमें गौरवता है. और सौ १०० आचार्योंकेसमान पिता है और पितासे हजार गुनी अधिक मातामें गौर-वता है ॥ १४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

अर्थ—जन्म देनेवाला, और वेदकों पढानेवाला ये दोनों पिता है, परंतु इनमें वेदकों पढानेवाला पितासेभी श्रेष्ठ है क्योंकि ब्राह्मणकों वेद प्राप्त होना इस-लोकमें श्रेष्ठ है और मुक्तिका हेतु होनेसे परलोकमेंभी श्रेष्ठ है ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।

संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

अर्थ—माता और पिता कामदेवके वश होके आपसमें इस बालकों उत्पन्न करते हैं जिस योनिमें यह बालक जाता है उसी प्रकारके हस्त, पादआदि-क इसके होते हैं ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥ १४८ ॥

अर्थ—वेदकों जाननेवाला आचार्य विधिपूर्वक गायत्री उपनयन कर्मद्वारा बालकके जिस जातिकों करता है वह अजर है और अमर है क्योंकि उससे निश्चल ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।

तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो कोई उपाध्याय जिसबालककों थोड़ा अथवा बहुत वेदका उपकार करता है तिसकोंभी इस शास्त्रमें गुरु कहा है क्योंकि उसकों वेदकी क्रिया सिखलाई है इसवास्ते ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।

बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

अर्थ—ब्रह्म जो वेद उसके पढानेकेवास्ते जो उपनयनकर्मकों करनेवाला और वेदकी शिक्षा देनेवाला ब्राह्मण बालक हो तोभी वह धर्मसे पिताके समान है अर्थात् वह शिष्य जो बड़ा हो तोभी उसमें पिताकेसमान धर्म बर्तै ॥ १५० ॥

अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।

पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अर्थ—अंगिरसका पुत्र बृहस्पति बालक अवस्थामें पंडित होता भया सो अपने पितृव्य, चाचा तिसके पुत्र बड़ेभाई इन सबोंको पढाताभया फिर तिनकों शिष्य करके पुत्रका अर्थात् हे पुत्रा ऐसे कहता भया ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।

देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

अर्थ—वे पिताकेसमान बड़ी अवस्थावाले सबजन पुत्रका ऐसे कहे तब क्रोधकरके देवताओंके प्रति इस अर्थकों पूछते भये तब तिनहोंके प्रति देवता बोले कि तुमकों जो यह बालकपुत्र कहता भया सो योग्यही है ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अर्थ—अज्ञही बालक होता है और मन्त्रद अर्थात् वेदकों पढानेवाला पिता होता है इसवास्ते अज्ञविना जाननेवालेकों बालक कहते हैं और मन्त्रदेनेवालेकों पिता कहा है ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

अर्थ—न बहुत वर्षोंकरके और नहीं बुढ़ापाके सफेद वालोंकरके नहीं धनकरके और नहीं बंधुवोंमें बड़ा होनेकरके पुरुष बड़ा है किंतु ऋषियोंने यह कहा कि जो वेदाध्ययनपूर्वक धर्मकों जाननेवाला है वह बड़ा है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।

वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंमें जो अधिक विद्यावान् है वह बड़ा है और क्षत्रियोंमें पराक्रम-वाला बड़ा है और वैश्योंमें जो धनधान्यकी समृद्धिवाला है वह बड़ा है और शूद्रोंमें जो अवस्थामें अधिक है वह बड़ा है ॥ १५५ ॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

अर्थ—जिसके शिरपें सफेद बाल आजातें हैं वह वृद्ध नहीं कहाता है किंतु जो वेदकों पढाहुवा है तिसकों देवताओंने वृद्ध कहा है ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

अर्थ—काष्ठका बनाया हुआ हस्ती चर्मका बनाया हुआ मृग और विना पढा हुवा ब्राह्मण ये तीनों नाममात्र हैं. अर्थात् जैसे वे मृगहस्ती कुछ न कर सकते तैसाही ब्राह्मण है ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलःस्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।

यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

अर्थ—जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है और गौवोंमें गौ निष्फल है और जैसे मूर्ख पुरुषकेवास्ते दिया हुआ दान निष्फल है तैसाही वेदकों नहीं जाननेवाला ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।

वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

अर्थ—धर्मकी इच्छा करनेवाला ब्राह्मणकरके शिष्योंकों कल्याणकी शिक्षा

हिंसाके विनाही देनी चाहिये अथवा रज्जुवांसकी कामकी इत्यादिक अल्प ताडना करके शिक्षा देवै और वाणी मधुर तथा सुंदर बोलनी चाहिये. क्रूर वचन न कहे ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।

स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

अर्थ—जिसकी वाणी और मन शुद्ध हो और सदैव ये दोनों निषिद्ध विषयके प्रकरणसें रुकेहुए हों वह वेदान्तमें प्राप्त हुआ संपूर्ण फलकों प्राप्त होता है अर्थात् मोक्षभावकों प्राप्त हो जाता है ॥ १६० ॥

नारुतुदः स्यादातौऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।

ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

अर्थ—किसीवस्तुसें पीडित हुआ पुरुषभी दूसरेके मर्मकों छेदन करनेवाली वाणीकों न बोले और पराये द्रोहकेवास्ते कर्म तथा बुद्धिकों न कौरे और जिसवाणीसें इसकों तकलीफ हो ऐसी वाणी न कहै परलोकमें अहित करनेवाली वाणी न कहै ॥ १६१ ॥

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकों अपने सन्मानकरके विषकी तरह डरना चाहिये और सदैव अपमानकों अमृतकीतरह इच्छा करता रहै अर्थात् मानअपमान दोनों सहने चाहिये ॥ यह द्योतन किया है ॥ १६२ ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्धयते ।

सुखं च रति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अर्थ—परपुरुषसें अपमान किया हुआ पुरुष जो खेद नहीं मानता है वह सुखसें सोवता है और सुखसें जागता है और इस संसारमें सुखसें विचरता है और अपमान करनेवाला पुरुष तिस पापकरके आपही नष्ट हो जाता है ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।

गुरौ वसन् संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अर्थ—गर्भाधान आदि उपनयनकर्मपर्यंत संस्कार किया हुआ द्विज इस पू-

वोक्त क्रमकरके गुरुकुलमें वास करता हुआ शनैशनै वेदके पढ़नेके समय तपका आचरण करै ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः स रहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

अर्थ—विधिसँ कहे हुए तप अनेक प्रकारके व्रत इन्होंकों करते हुए ब्राह्मणकों रहस्य अर्थात् उपनिषद् आदिकोंसहित संपूर्ण वेद पढ़ना चाहिये ॥ १६५ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्यन्दिजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

अर्थ—तपका आचरण करता हुआ ब्राह्मण सदा वेदकाही अभ्यास करै क्योंकि इसलोकमें ब्राह्मणकों वेदका अभ्यासही परम तप कहा है ॥ १६६ ॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥

अर्थ—पुष्पोंकी मालाकों धारण करनेवालाभी ब्राह्मण जो शक्तिके अनुसार दिन दिन प्रति वेदकों पढ़ता है वह पैरोंके नखोंसँ लेके शिखातक परम तप करता है यहां पुष्पोंकी माला धारण किये हुए इस वचनसँ ब्रह्मचर्यके त्यागमेंभी वेदपढ़नेकी स्तुति वर्णन की है ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

अर्थ—जो विप्र वेदके पढ़ेबिना अन्यशास्त्रमें परिश्रम करता है वह जीवता हुआही अपने कुलसहित शूद्रभावकों प्राप्त हो जाता है ॥ १६८ ॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिवन्धने ।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

अर्थ—पहले तो पुरुषका जन्म मातासँ होता है फिर मौंजीबन्धनकर्म करनेमें अर्थात् यज्ञोपवीत धारणमें दूसरा जन्म होता है और अग्निष्टोमादिक यज्ञकी दीक्षामें वेदके श्रवण होनेसँ तीसरा जन्म होता है तहां प्रथम, द्वितीय, तृतीय जन्मका कथन द्विजन्माकी स्तुति है ॥ १६९ ॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जिवन्धनचिह्नितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

अर्थ—तिन तीन जन्मोंमें जो इस बालकका मेखलाबंधनसें उपलक्षित उप-
नयनकर्म वेद पढनेकेवास्ते है इस जन्ममें इस बालककी माता गायत्री है और
पिता आचार्य है ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।

न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौज्जिवन्धनात् ॥ १७१ ॥

अर्थ—वेदके पढानेसे आचार्यको पिता कहते है क्योंकि मौजीबंधन अर्थात्
उपनयनकर्म किये पहले इस बालकको श्रुतिस्मृति आदि कछुभी कर्म करनेका
अधिकार नहीं है ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

अर्थ—जिस ब्राह्मणका उपनयनकर्म नहीं हुआ हो वह स्वधानिनय अर्थात्
श्राद्धके मंत्रोंकेविना वेदका उच्चारण नहीं करै क्योंकि जबतक उपनयनकर्म
होके वेदका ग्रहण नहीं होता है तबतक ब्राह्मण शूद्रके समान है ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।

ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

अर्थ—जोकि उपनयन कियाहुआ ब्राह्मणको विधिपूर्वक प्रातःसायं हवन क-
रना दिनमें न सोना इसादिक व्रतोंकी शिक्षा ये सब विधिपूर्वक उपदेश कहे है
इसवास्ते बिना यज्ञोपवीत कर्म हुए ब्राह्मणको वेदउच्चारण नहीं करना ॥ १७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।

यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

अर्थ—जिस वर्णको यज्ञोपवीतकर्ममें जो सूत्र, जो मेखला, जो दंड तथा जो
वस्त्र धारण करना कहा है वही सब गोदानादि व्रतोंमें नवीन ग्रहण करने चाहिये ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी गुरुकेसमीप वास करताहुआ इंद्रियोंको रोकके अपने तपकी
वृद्धिकेवास्ते इन नियमोंका आचरण करै ॥ १७५ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।

देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी दिन दिनप्रति स्नानकर देवता, ऋषि, पितृ इन्होंका तर्पण करै और देवताओंका पूजन करै सायंप्रातः हवन करै ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः ।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

अर्थ—शहत मांस इन्होंका भक्षण न करै और कपूर, कस्तूरीआदि गंधपुष्पोंकी माला इन्होंकों वर्ज देवै गुड आदि रसोंकों नहीं खावे स्त्री सेवन न करै खट्टी कांजी आदि वस्तुओंकों न खावे प्राणियोंकि हिंसा न करे ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्षणोरुपानच्छत्रधारणम् ।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

अर्थ—शरीरपे तैलआदिकोंका मर्दन करना कज्जल आदिकोंसे नेत्रका आंजना, छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य करना. गाना बजाना इन सबोंको वर्ज देवै ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।

स्त्रीणां च प्रेक्षणात्मभसुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

अर्थ—जुवा खेलना, झगडा करना, पराया दोषका विवाद करना, झूठ, मैथुनकी इच्छाके अनुरागसहित स्त्रियोंका देखना, अन्यका निरादर करना इन्होंकों वर्ज देवै ॥ १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्कचित् ।

कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी सदा अकेला शयन करै और कामना करके कहींभी वीर्यकों नहीं गिरावे क्योंकि इच्छाकरके अपने लिंगसे वीर्यकों गिराते हुए पुरुषके व्रतका नाश हो जाता है ॥ १८० ॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।

स्नात्वा कर्मर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्युचं जपेत् ॥ १८१ ॥

अर्थ—जिस ब्रह्मचारीका वीर्य विना इच्छा किये स्वप्नआदिकोंमें छूट जावे वह स्नानकर चंदन, पुष्प, धूपआदिकों करके सूर्यका पूजनकर पुनर्मामैत्वन्द्रियम् इस ऋचाकों तीनवार पढ़ै यह प्रायश्चित्त है ॥ १८१ ॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।

आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

अर्थ—जलका घड़ा पुष्प, गोवर, मृत्तिका, कुशा इनमेंसे जितनी वस्तु आचार्यकेवास्ते चाहिये वे सब गुरुकेवास्ते ले आवे और दिन दिन प्रति भिक्षा मांगले आवे ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।

ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

अर्थ—जो वेदयज्ञोंकरके हीन नहीं है और अपने कर्ममें चतुर है ऐसे गृहस्थियोंके घरसे ब्रह्मचारी दिन दिनप्रति भिक्षा ले आवे ॥ १८३ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।

अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

अर्थ—जिस गुरुसे पढ़ता हो उनके घरों तथा उनके विरादरोंके तथा मातुल आदिज्ञातियोंके घरोंमें भिक्षा नहीं मागै और जो यदि अन्य घरोंमें भिक्षा न मिले तो इनमेंसे पहिले पहिलेकों वर्ज देवै, जैसे पहिले बंधुवोंसे मागै तिनका अभावमें मामाआदि ज्ञातियोंसे फिरगुरुके ज्ञातियोंसे भिक्षा मागे ॥ १८४ ॥

सर्वे वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ।

नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

अर्थ—पहले कहे हुए वेद यज्ञ करनेवाले न मिले तो संपूर्ण ग्राममेंसे नियम धारणकर मौन धारण करके भिक्षा मांगे और महापातकी आदिकोंकी भिक्षाकों नहीं लेवे ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।

सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

अर्थ—दूरसे समिधोंको ल्याके उंचे आकाशपर रख देवै फिर आलस्यसे रहित हो तिन समिधोंकरके सायंप्रातःकाल हवन करै ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।

अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

अर्थ—जो ब्रह्मचारी रोगसेरहित स्वस्थचित्तमेंभी सातदिनतक भिक्षाचरण

समिधहोम नहीं करता है तिसके व्रतका नाश हो जाता है. तिसकों अवकीर्णि-
व्रत करना चाहिये यही प्रायश्चित्त है ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी एकके अन्नकों भक्षण नहीं करे किंतु नित्यप्रति भिक्षाके
अन्नका भोजन करे क्योंकि भिक्षाकी वृत्ति ब्रह्मचारीको उपवासकेसमान कही है ॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।

काममभ्यर्थितोऽश्रियाद्भ्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

अर्थ—देवतोद्देश और पितृकर्म अर्थात् श्राद्धादिकोंमें अभ्यर्थित कियाहुआ
ब्रह्मचारीव्रतवत् अर्थात् मधुमांस आदिकोंको वर्जके एकके अन्नकों इच्छापूर्व-
क भोजन करे तिसका व्रत लोप नहीं होता है ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्यमें रहना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंवर्णोंको कहा है सो
एकके घरका अन्नका भोजन करे यह नियम क्षत्रिय, वैश्य इन्हेंको नहीं विधान
किया है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

अर्थ—गुरुसँ प्रेराहुआ अथवा विना प्रेराहुआ शिष्य अपने पढ़नेमें और
आचार्यके हितोंमें नित्य उद्योग करे ॥ १९१ ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।

नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

अर्थ—अध्ययन करनेवाला शिष्य शरीर, वाणी, बुद्धि, इंद्रिय, मन इन्हेंको
रोक अंजली बांध गुरुके मुखकों देखता हुआ खड़ा रहे ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।

आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

अर्थ—निरंतर उत्तरीय अर्थात् ओढ़नेके वस्त्रसे दाहिने हाथको बाहिर

निकास शुभ आचारसे युक्त शिष्य बैठ जावो ऐसे- कहाहुआ गुरुकेसन्मुख स्थित हो बैठ जावे ॥ १९३ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ—गुरुसे उत्तम भोजन न करे और गुरुके वस्त्रोंसे उत्तम वस्त्र न पहिरे और गुरुके उठें पहले ऊठे गुरुसे पीछे शयन करै ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

अर्थ—सोवताहुआ शिष्य गुरुकी आज्ञाको ग्रहण न करे और सोता हुआ शिष्य गुरुसे संभाषण न करे और आसनमे बैठा हुआ तथा भोजन करता हुआ तथा स्थित होता हुआ तथा विमुख होता हुआ गुरुसे संभाषण न करे १९५

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।

प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्वावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

अर्थ—आसनमे स्थित हुए गुरुसे संभाषण आदिकरे तब शिष्य आसनसे नीचे बैठ जावे और खड़े हुए गुरुके सन्मुख कितनेक पद गमन करके शिक्षाको ग्रहण करै और सन्मुख आतेहुएके सन्मुख गमन करके तथा भाजते हुए गुरुके पीछे भाजता हुआ शिष्य शिक्षाको ग्रहण करै ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

अर्थ—विमुखहुए गुरुके सन्मुख होके और दूरमें स्थित हुएके समीप जाके और सोते हुएको नम्र होके और खड़े हुए गुरुके समीपमें खड़ा होके शिष्य संभाषण आदि करै ॥ १९७ ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

अर्थ—शिष्यको गुरुकेसमीप छोटासा आसन तथा शय्यामे स्थित होना चाहिये गुरुके नेत्रोंके सन्मुख यथेष्ट आसनमे स्थित नहीं होवे ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

अर्थ—गुरुके पीछेसेभी उपाध्याय, आचार्य आदि वचनोंसे शून्य गुरुके नाम-
का उच्चारण न करै और गुरुका गमन, संभाषण, चेष्टा इन्होंकी नकल न
करे ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।

कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

अर्थ—जहां गुरुका परीवाद अर्थात् गुरुके दोषको कोई कर रहा हो और निं-
दा अर्थात् विना दोष हुए गुरुको दोष लगाते हों तहां कान ढकलेने चाहिये
अथवा तहांसे चलाजाना चाहिये ॥ २०० ॥

परीवादात्स्वरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

अर्थ—गुरुके परिवाद करनेसे शिष्य मरके गधा होता है निंदा करनेसे कुत्ता
होता है और अनुचित गुरुके धनसे उपजीवन करनेसे कृमि होता है और म-
त्सर अर्थात् गुरुकी उत्कर्षता नहीं सहनेसे कीट अर्थात् स्थूल कृमि होता है २०१

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।

यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

अर्थ—दूर जगंह स्थितहुआ शिष्य गुरुका पूजन न करे अर्थात् मूर्ति वगैरे
बनाके तिसका पूजन न करे और स्त्रीके समीपमें बैठा हुआ शिष्य गुरुका पूज-
न न करे और सवारी तथा आसन आदिसे नीचे उतरके गुरुको नम-
स्कार आदि अभिवादन करे ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।

असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

अर्थ—प्रतिवात अर्थात् गुरुकेतर्फसे शिष्यकी तर्फ वायु आती हो और अनु-
वात अर्थात् शिष्यकी तर्फसे गुरुकी तर्फ वायु आती हो तब शिष्य गुरुके स-
न्मुख बराबर नहीं खड़ा रहे और जब गुरु नहीं सुनताहो तब गुरुकी तथा अ-
न्यकी कछु वात्ता न कहै ॥ २०३ ॥

गोऽश्वोऽप्यानप्रासादसस्तरेषु कटेषु च ।

आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौष्ठ च ॥ २०४ ॥

अर्थ—बैल, घोडा, ऊंट इन्होंसे जोती हुई गाड़ी आदि सवारीमे हवेलीकी छतपर चटाई आदि बिछौनामे शिलामे तखतआदिमे नौकामें शिष्य गुरुके संग बैठे ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।

न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरुनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

अर्थ—अपने आचार्यके गुरुसमीपमें बैठे हो तब तिनकोभी अपने गुरुकी तरह नमस्कार आदि करै और गुरुके कुलमें अपने गुरु अर्थात् माता पिता आदि आवे तब गुरुके कहेंविना तिनको नमस्कार आदि न करे ॥ २०५ ॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।

प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

अर्थ—वेदके अध्यापकसे अन्य जो विद्या गुरुहों उन्हींकेविषै और अपने चाचा बाबा आदि बड़े विरादरोंमें तथा पाप आदिकोंसे हटानेवाले उपदेश देनेवालोंविषै और हितका उपदेश करनेवालोंविषै गुरुकेसमान सत्कार करना चाहिये ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।

गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

अर्थ—विद्या, तप आदिकोंमें वृद्ध, श्रेष्ठ, गुरुकेपुत्र और गुरुके बांधव इन सबोंमें गुरुकेसमान वृत्ति रखे ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।

अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

अर्थ—बालक हो अथवा अपनेसमान अवस्थावाला हो, अथवा शिष्य हो परंतु यज्ञकर्ममें आया हुआ वेदको पढाहुआ गुरुका पुत्र गुरुकेसमान पूजनीय है २०८

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—शरीर मलना स्नान कराना उच्छिष्ट भोजन भक्षण पैरोंका प्रक्षालन करना ये सब कृत्य गुरुकेपुत्रके नहीं करै ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुर्योषितः ।

असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

अर्थ—सजातीय गुरुकी स्त्री गुरुकेसमान पूजनी चाहिये और असवर्णा अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी न हो क्षत्रियवर्णकी हो उनको केवल प्रत्युत्थान नमस्कार आदि करै ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

अर्थ—तैल आदिकोंका शरीरके लगाना स्नान कराना शरीर मलना बालोंमें पुष्पआदि गूथनें ये सब सेवा गुरुकी स्त्रीकी नहीं करै ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

अर्थ—बीस वर्षकरके पूर्ण जवान अवस्थावाली गुरुकी स्त्रीके पैरोंको छुहके नमस्कार आदि न करे ऐसे गुणदोषोंको जाननेवाला शिष्य करै ॥ २१२ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।

अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

अर्थ—स्त्रियोंका यही स्वभाव है कि शृंगार चेष्टाआदिकोंसे पुरुषोंको मोहके तिन्होंके दूषण लगा देती है इसवास्ते पंडित जन स्त्रियोंमें प्रमत्त नहीं होवे २१३

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

अर्थ—कामक्रोधके वशमें हुए मूर्खपुरुषको अथवा विद्वान् पुरुषको स्त्री कुमार्गमें प्राप्त करनेकेवास्ते बड़ी समर्थ होती है इसवास्ते अपनेको विद्वान् समझके स्त्रियोंका संग न करे ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

अर्थ—माता वहैन पुत्री इन्होंकेभी संग एकांतस्थानमें न रहे क्योंकि इंद्रियोंका गण बलवान् है सो विद्वान्कोभी अपने वशमें कर लेता है ॥ २१५ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।

विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

अर्थ—जवान् अवस्थावाला शिष्य युवावस्थावाली गुरुकी स्त्रियोंको विधिपूर्वक यथोक्त विधिनाभिवादयेऽमुकशर्माहं भो ऐसे अभिवादन करै पृथ्वीमें दंडवत् करै पैरोंको न छूवे ॥ २१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।

गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

अर्थ—बहुतदिनोंमें परदेशसे आनेपर शिष्य गुरुकी स्त्रीके पैरोंको उक्तप्रकारसे छूवे और दिन दिन प्रति पृथ्वीमें अभिवादन करे ऐसे श्रेष्ठपुरुषोंका आचार है ॥ २१७ ॥

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।

तथा गुरुगतां विद्यां शुभ्रपूरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

अर्थ—जैसे फाहुडाकुदारआदिसे पृथ्वीको खोदता हुआ पुरुष जलको प्राप्त हो जाता है तैसेही गुरुकी टहैल करता हुआ शिष्य गुरुगत विद्याको प्राप्त हो जाता है ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१९ ॥

अर्थ—मुंडन करायेंहुए अथवा जटाधारण किये हुए तथा जटारूप शिखावाला ऐसे तीनप्रकारका ब्रह्मचारी होता है सो यह ब्रह्मचारी सूर्य अस्त होनेपर ग्राममें शयन न करे और ग्राममें सूता हो तबतक सूर्यउदय होना नहीं चाहिये अर्थात् ऐसा न हो कि सूर्य उदयहोनेके बादभी सोताही रहे ॥ २१९ ॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।

निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

अर्थ—तिस ब्रह्मचारीके सोते हुए जो यदि सूर्यउदय हो जावे अथवा अज्ञानसे इच्छापूर्वक सोते हुए सूर्यअस्त हो जावे तो एक दिन उपवास करै और गायत्रीका जप करै ॥ २२० ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

अर्थ—जो ब्रह्मचारी सूर्यके अस्त होनेपर सोता रहे और सूर्यउदय होनेके पीछेतक सोता रहे वह यदि पूर्वोक्त प्रकार प्रायश्चित्त न करे तो असंत पापसे युक्त हो जाता है ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।

शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

अर्थ—निसप्रति आचमन कर पवित्रहो पवित्रदेशमें सावधानहोके गायत्री-का जप करता हुआ ब्रह्मचारी दोनों संध्याओंका उपासन यथार्थ विधिसे करे ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।

तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

अर्थ—जो यदि स्त्री अथवा शूद्र इसका किञ्चित् कल्याण करे तिस सबका आचरण यह ब्रह्मचारी सेवक करे और जहां इसका मन लगै तथा शास्त्रसे विरुद्ध न हो तिसकाभी आचरण करे ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च ।

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ ये कल्याणके हेतु है और कईक ऐसे कहते हैं कि काम अर्थ येही सुखहेतु होनेसे कल्याणरूप है कईक धर्मकोही कल्याण कहते हैं कईक लोकमें द्रव्यकोही कल्याण कहते हैं ऐसे सब मतोंको कहके निश्चय करते हैं कि त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम ये तीनों कल्याणरूप हैं ऐसी स्थिति है सुमुमुक्षुपुरुषोंका कल्याण मोक्षही जानना ॥ २२४ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥

अर्थ—आचार्य परमात्माकी मूर्ति है पिता ब्रह्माकी मूर्ति है माता पृथ्वीकी मूर्ति है और भाई अपनी आत्माकी मूर्ति है अपने सगर्भ सहोदर होनेसे यहां आत्मा कहा है ॥ २२५ ॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।

नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

अर्थ—आचार्य पिता माता बड़ाभाई इन्होंका अपमान पीडित हुआ पुरुषभी न करे और ब्राह्मणको विशेषकरके इनका अपमान नहीं करना ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

अर्थ—पुरुषके गर्भाधान होनेके अनंतर जिस कष्टको माता पिता प्राप्त होते है तिसको दूर करनेको यह मनुष्य सैंकड़ोंवर्षोंकरके अनेक जन्मोंमेंभी बदला उतारनेको समर्थ नहीं है ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।

तेष्वेव त्रिषु तृष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ—तिन मातापिताको तथा आचार्यको जो प्रिय हो सो करे तिन्होंको प्रसन्न रखे इन तीनोंके प्रसन्न होनेसे संपूर्ण तप समाप्त हो जाता है ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।

न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—इन तीनोंकी जो सेवा करनी है यही परमतप कहा है इसवास्ते इन्होंकी आज्ञाकेबिना अन्यधर्मका आचरण नहीं करे ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।

त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

अर्थ—वेही माता पिता आचार्य तीनों लोक है वेही तीनों आश्रम है वेही तीनोंवेद है वेही तीनों अग्नि कहे है इन तीनोंसे संपादन उत्पत्ति वेदाध्ययनआदि हेतु होनेसे तीनों लोककी प्राप्ति आदि सबप्रयोजन हो सकते है ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।

गुरुराहवनीयस्तु सामित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

अर्थ—इसका पितागार्हपत्यअग्नि है माता दक्षिणाग्नि है गुरु आहवनीय अग्नि है सो यह अग्नित्रय असंत श्रेष्ठ कहा है यहां इन तीनोंकी प्रशंसा कही है सिद्धांतमें उन अग्नियोंका विरोध नहीं जानना ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीलोकान्विजयेद्बृही ।

दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विव मोदते ॥ २३२ ॥

अर्थ—इन तीनोंमें प्रमादको नहीं करता हुआ ब्रह्मचारी और इसीप्रकार वर्तता हुआ गृहस्थी तीनों लोकोंको जीतता है और अपने शरीरसे देवताकी तरह प्रकाशमान हुआ स्वर्गमें आनंदको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

अर्थ—यह मनुष्य माताकी भक्तिकरके इस लोकको प्राप्त होता है और पिताकी भक्तिकरके मध्यम अंतरिक्षलोकको प्राप्त होता है गुरुकी सेवा करनेसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यने माता पिता आचार्य इन तीनोंका आदरसत्कार किया है तिसको सबधर्म फलको देनेवाले है और जिकने इन तीनोंका अनादर किया है तिसके श्रुतिस्मृत्योक्त सब कर्म निष्फल होते हैं ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके ये तीनों जीवतेहौ तबतक वह पुरुष स्वतंत्र होके अन्यधर्मका अनुष्ठान नकरे किंतु निरप्रति तिनकीही सेवा करे तिनके हितमें रत रहे ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।

तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ—माता पिता गुरु इन्होंकी सेवा करताहुआ पुरुष परलोककेवास्ते जिस जिस धर्मका आचरण करता है उसीउसीको मन वचन कर्म करके तिन्होंके अर्थ निवेदन करदेवै ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।

एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

अर्थ—माता पिता आचार्य इन तीनोंकी सेवा करनेवाला पुरुषका संपूर्ण श्रुतिस्मृत्योक्त अनुष्ठान पूरा किया जाता है इन्होंकी सेवा करनी यही साक्षात् धर्म है और अन्य उपधर्म कहेहै ॥ २३७ ॥

श्रद्धधानः शुभा विद्यामाददीतावरादपि ।

अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रद्धाको धारण करनेवाला पुरुष शुभविद्या गारुड आदि विद्याको शूद्रसेभी ग्रहण करै और परम मोक्षधर्मको चांडालसेभी ग्रहण करै और स्त्रीरत्नको दूषित कुलवालेसेभी विवाहकेवास्ते ग्रहण करै ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।

अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो यदि विषसे मिलाहुआ अमृत होतो विषको हटा तिसमेसे अमृतको ग्रहण करे और सुंदर कहाहुआ हितवचन बालककाभी ग्रहण करै और सज्जनका वृत्तांत शत्रुसेभी ग्रहण करै और अशुद्ध वस्तुमेसेभी सुवर्णको ग्रहण करै ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

अर्थ—स्त्री रत्न विद्या धर्म शौच अच्छा वचन अनेक प्रकारकी शिल्पविद्या इन्होंको सबसे ग्रहण करै ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।

अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारीको आपत्कालमें क्षत्रिय वैश्यसेभी पढना कहा है और जबतक अध्ययन करे तबतक पीछे पीछे चलना सेवा करनी सब रहै करे पाद प्रक्षालन उच्छिष्ट भोजन खाना इत्यादि नकरे ॥ २४१ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।

ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—आत्यंतिक वास अर्थात् जीवनपर्यंत वास करनेवाला ब्रह्मचारी शिष्य क्षत्रिय वा वैश्य वर्णके गुरुकेपास न रहे और जो वेदवेदांगोंको नहीं जानता हो ऐसे ब्राह्मण गुरुकेपासभी मोक्षकी इच्छा करनेवाला ब्रह्मचारी न रहे ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।

युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

अर्थ—जो यदि गुरुकुलमें बहुत दिनोंतक वास करनेकी इच्छा होवे तो सावधान होके जबतक जीवै तबतक गुरुकी सेवा करता रहै ॥ २४३ ॥

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।

स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

अर्थ—जो पुरुष शरीरकी समाप्ति अर्थात् जीवनपर्यंत गुरुकी सेवा करताहै वह तत्त्वसे ब्रह्मके अचलरूप पदको प्राप्त होताहै अर्थात् ब्रह्ममें लीन होजाताहै ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत् धर्मवित् ।

स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

अर्थ—धर्मको जाननेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्नान किये पहले गुरुकेवास्ते गौ वस्त्र आदि धन अवश्य नहीं देवै अर्थात् स्वतःसिद्धं मिलाहुआ धनको तो देदेवै और स्नान करके ब्रह्मचारी अपनी शक्तिकेअनुसार गुरुसे आज्ञा पाके धनियों से याचनाकर गुरुकेवास्ते अवश्य धन देवै ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।

धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमाहवेत् ॥ २४६ ॥

अर्थ—गुरुकेवास्ते प्रसन्नताके अर्थ खेत अर्थात् पृथ्वी सुवर्ण गौ अश्व छत्र जूती जोडा आसन धान्य शाक वस्त्र इन्होंको आपनी शक्तिके अनुसार देवै ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।

गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

अर्थ—आचार्य मरजावे तब गुणवान् गुरुका पुत्र अथवा गुरुकी स्त्री अथवा गुरुके चाचा आदि विरादर इन्होंकी सेवा गुरुके समान करै ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।

प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ—ए तीनों विद्यमान नहीं होवे तो निरंतर स्नान आसन विहार इसादिकोंकरके सायंप्रातः होम करके अग्निकी सेवा करताहुआ पुरुष अपने शरीरको साधै अर्थात् जीवको ब्रह्म प्राप्तियोग्य साधै ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविभुतः ।

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

अर्थ-तैष्टिक अर्थात् अखंडित ब्रह्मचर्यवाला जो पुरुष इस पूर्वोक्त प्रकारसे आचरण करता है वह उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त हो इस संसारमें फिर जन्म नहीं लेता है ॥ २४९ ॥

इति मनुस्मृतौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितायां मन्वर्थदीपिका-
यां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

अर्थ-त्रैवेदिकव्रत अर्थात् ऋक् यजु साम इन वेदोंका पठणरूप व्रत छत्तीस वर्षतक करे अथवा अठारह वर्षतक तथा नववर्षतक वा जबतक पठनकी सामर्थ्य हो पढसके तबतक पढे ॥ १ ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।

अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

अर्थ-यथाक्रमसे तीनों वेदोंको पढे अथवा दो वेदोंको पढे वा एक वेदको पढे और पहलेकहाहुआ स्त्रीसंयोग मधुमांसभक्षण इन्होंका त्याग रखे पीछे गृहस्थाश्रममें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।

सग्विणं तल्प आसीनं महर्षयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

अर्थ-वह ब्रह्मचारी जब पितासे या आचार्यसे वेदको पढाहुआ और ब्रह्मचारिधर्मके अनुष्ठानसे प्रसिद्ध ऐसा मालूम होवे तब पिता वा आचार्य विवाहसे पहले पुष्पोंकी मालाको धारण कियेहुए और शय्यामें बैठेहुए का तिसका मधुपर्क करके पूजन करे ॥ ३ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।

उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

अर्थ-पीछे गुरुसे आज्ञा पाके स्नान कर और स्वगृहोक्तविधिसे समावर्तन कर्म कर शुभ लक्षणसेयुक्त अपने वर्णकी स्त्रीको विवाह ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।

सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

अर्थ—जो माताके सपिण्ड अर्थात् सातपीढीतक नहीं च अर्थात् माताके गोत्र-
की न हो पिताके गोत्रकी नहो वह स्त्री ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंको पुत्रादिक
उत्पादन करनेमें मैथुनमें तथा अग्न्याधान कर्ममें श्रेष्ठ कहीहै ॥ ५ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।

स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—गौ घोडा बकरी धन धान्य इत्यादिक समृद्धियोंसे महान् उत्कृष्टभी हों परं-
तु आगे कहे जातेहैं ए दश कुलविवाहमें त्यागदेनें चाहिये ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दोरोमशार्शसम् ।

क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्चित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

अर्थ—तिनको कहते हैं जातकर्म आदि क्रियाओंसे रहित १ जिनके कन्याही
उत्पन्न होती हों ऐसा निष्पुरुष २ वेद पठनसे शून्य ३ बहुत दीर्घ रोमोंवाला ४
वावासीररोगसे युक्त ५ क्षयीरोगसे युक्त ६ मंदाग्निसे युक्त ७ मिर्गीरोगसे युक्त ८
श्चित्रिकुष्ठि ९ गलितकुष्ठवाला १० इन दश कुलोंको त्याग देवै ॥ ७ ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।

नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—कपिल केशोंवाली अधिक अंगवाली नित्य व्याधीसे युक्त बे बालोंवा-
ली तथा ज्यादै रोमोंवाली बहुत पुरुषोंसे बतलानेवाली पिंगल नेत्रोंवाली ऐसी
कन्याकेसंग विवाह न करे ॥ ८ ॥

नक्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।

न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—नक्षत्रके नामवाली तथा वृक्ष नदी पर्वत इन्होंके नामवाली वा पक्षी सर्प
दास इन्होंके नामवाली स्त्रीको और भयंकर नामवाली स्त्रीको नहीं विवाहै ॥ ९ ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।

तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

अर्थ—व्यंगसेरहित अंगवाली सौम्य अर्थात् मधुर सुखसे उच्चारण होवे ऐसा

नामवाली हंसहस्ती इन्होंके समान सुंदर गमनवाली सूक्ष्मरोम पतले केश और सूक्ष्म दांतोंवाली कोमल अंगवाली ऐसी स्त्रीकेसंग विवाह करे ॥ १० ॥

यस्यास्तु न भवेद्धाता न विज्ञायेत वा पिता ।

नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस कन्याके भ्राता नहीं हो और उसके पिताकापता नहीं हो ऐसी कन्याको बुद्धिमान मनुष्य नहीं विवाहै तहां पुत्रिकाके धर्मकी शंकासे और अधर्मकी शंकासे इस कन्याको नहीं विवाहै जिस कन्याका पिता यह विचारकर लेता है कि इस कन्याके जो पहले पुत्र होगा उसको मैं गोद लेवूंगा ऐसी कन्यामें पुत्रिकाधर्म कहाहै ॥ ११ ॥

सवर्णाग्नेद्विजातीनां प्रशस्तौ दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन्होंके प्रथम विवाह करनेमें सवर्णा अर्थात् अपने वर्णकी स्त्री श्रेष्ठहै और दूसरा विवाह करे तो आगे कहेहुए इस क्रमसे ए स्त्री श्रेष्ठहै ॥ १२ ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृतेः ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—तिस क्रमको कहतेहै शूद्रकी स्त्री शूद्राही है किंतु उत्तम वैश्य जाति आदि नहीं हो सके और वैश्यके शूद्रा स्त्रीभी हो सकती है क्षत्रियके वेदोंनों कन्या उचितहै ब्राह्मणको शूद्रा आदि तीनों कन्या विवाहमें उचित है ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।

कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—आपत्कालमेंभी प्राप्तहुए ब्राह्मण क्षत्रियको जो यदि अपने वर्णकी कन्या मिले तो कभीभी इतिहास अथाख्यानमेंभी शूद्रकी कन्यासे विवाह कराना नहीं कहाहै ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ए द्विजाति जो यदि अपने वर्णकी कन्याके संग

विवाह करायें पीछे अज्ञानसे शूद्राकेसंग विवाह करतेहैं वे अपनी संतानसहित कुलोंको शूद्रभावको प्राप्त करदेतेहैं ॥ १५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

अर्थ—शूद्रकी कन्याको विवाहनेवाला द्विज पतित होजाताहै यह अत्रिका मत है और गौतमकाभी यही मतहै शौनकका यह मतहै कि शूद्रामें संतानकी उत्पत्ति होनेसे पतित होताहै और भृगुजीका यह मत है कि उस शूद्राहीमें संतान उत्पन्न करे और अन्य अपने वर्णकी स्त्रियोंमें संतान उत्पन्न नहीं कीहैं ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।

जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

अर्थ—जो द्विज सवर्णा स्त्रीको विवाहके फिर स्नेहत्वादि शूद्राकेसंग विवाह कर तिसको शय्यापे प्राप्त करताहै वह नरकमें जाताहै और तिसमें संतान उत्पन्न करे तो ब्राह्मण भावसे हीन होजाता है ॥ १७ ॥

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।

नाश्रन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—जिस पुरुषकै सवर्णा स्त्रीके अभावमें शूद्रास्त्रीकी हाथसे बनायेहुए भोजन आदिक होतेहैं तिसकै हव्यकव्यको देवता पितर ग्रहण नहीं करतेहैं और अतिथिअभ्यागतको भोजन आदिकरनेसे वह स्वर्गकोभी प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।

तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

अर्थ—शूद्रास्त्रीके ओष्ठ मुख चुंवनवाले पुरुषकी तथा तिसके श्वाससे उपहत अर्थात् तिसके संग शयनकरनेवाले वा तिसमें संतान उत्पन्न करनेवाले द्विजकी शुद्धि नहीं कही है ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।

अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

अर्थ—ब्राह्मण आदि चारोंवर्णोंके हित और अहित स्त्रीकी प्राप्ति हेतु इन आठविवाहोंको संक्षेपसे सुनो अगले श्लोकमें कहे जातेहैं ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

अर्थ—उन्होंने नाम कहते हैं ब्राह्म १ दैव २ आर्ष ३ प्राजापत्य ४ आसुर ५ गान्धर्व ६ राक्षस ७ पैशाच ८ ये हैं यहां ब्राह्मराक्षस आदि संज्ञाशास्त्रके व्यवहारसे स्तुतिनिंदाकेवास्ते कही हैं ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।

तद्वः सर्वे प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

अर्थ—जो विवाह जिसके धर्मसे युक्त है और जिनमें जो गुणदोष हैं और तिन विवाहोंसे उत्पन्न हुई संतानोंके गुण औगुन यह सब तुझारेवास्ते संक्षेपमात्रसे कहेंगे ॥ २२ ॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।

विद्यूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्या नराक्षसान् ॥ २३ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके यथाक्रमसे ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर गान्धर्व ए छह विवाहधर्म संबंधी कहें हैं और क्षत्रियके आसुर गान्धर्व राक्षस पैशाच ए चार विवाह उत्तम कहें हैं वैश्यशूद्रके आसुर गान्धर्व पैशाच ए विवाह करने कहें हैं ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।

राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके ब्राह्म दैव आर्ष प्रजापति ए चार विवाह श्रेष्ठ कहे हैं क्षत्रियको राक्षस विवाह और वैश्य शूद्रको आसुर विवाह करना श्रेष्ठ कहा है ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।

पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

अर्थ—प्राजापत्य आदि पांच विवाहोंमें प्राजापत्य गान्धर्व राक्षस ए तीन विवाह धर्म संबंधी हैं और पैशाच आसुर ए विवाह कभीभी नहीं करावे यहां प्राजापत्यविवाह ब्राह्मणोंको गान्धर्व राक्षस ए विवाह वैश्य तथा शूद्रको श्रेष्ठ कहे हैं २५

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

अर्थ—पहले कहेहुए गांधर्व राक्षस ए दोनों विवाह जुदे जुदे अथवा मिलेहुए करने क्षत्रियको धर्मसंबंधी कहे है ॥ २६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥

अर्थ—वेदको पढाहुआ और सुंदर शीलस्वभाववाला ऐसे बरको आदर सत्कारसे बुलाके फिर कन्याको तथा बरको वस्त्र आभूषण आदि देके पूजन करके तिस बरकेवास्ते जो कन्यादान दिया जाता है वह ब्राह्मसंज्ञक विवाह कहाता है ॥ २७ ॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।

अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

अर्थ—सम्यक् प्रकारसे जो अग्निष्टोम आदिक यज्ञकी जावे तिसमें ऋत्विक् अर्थात् कर्मकर्त्ताकेवास्ते कन्याको आभूषण पहिनाके तिसका दान देवै यह दैव धर्म विवाह कहाता है ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—गोमिथुन अर्थात् एक गौ एक बैल ऐसा एक जोडा वा दो जोडा धर्मके वास्ते यज्ञादिकोंकी सिद्धिकेवास्ते अथवा कन्याहीको देनेकेवास्ते बरसे ग्रहण करके फिर तिस बरको देनेकेवास्ते कन्यादान देना यह आर्षधर्म कहाता है ॥ २९ ॥

सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

अर्थ—तुम दोनों साथ धर्मका आचरण करो ऐसे कन्याके तथा बरके प्रति कहके नियमसे प्रार्थना कर जो कन्यादान किया जाताहै वह प्राजापत्य विधि कहाती है ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तिः ।

कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ—कन्याके संबंधी बंधुओंकेवास्ते वा कन्याके पिता आदिकेवास्ते तथा कन्याकेवास्ते जो शक्तिके अनुसार धन देके विवाह किया जाता है वह आसुरधर्म कहाता है ॥ ३१ ॥

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।

गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

अर्थ—कन्या और वरके आपसमें देखनेसे स्नेह आदिकसे वे जो आपसमें संयोगकर लेते हैं वह गान्धर्वविवाह कहाता है सो यह विवाह मैथुनकी इच्छासे होता है ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।

प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ—कन्याके पिता आदिकोंको मारवा मकान आदिको फोड़ तिन्होंके हाथ पैर आदि तोड़ हठसे गाली देती हुई तथा रोती हुई कन्याको जो घरसे हरके ले जाते हैं वह राक्षस विवाह कहाता है ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

अर्थ—सोतीहुई तथा मदिरा आदिसे प्रमत्तहुई और एकांतमें स्थितहुई ऐसी कन्याके संग विवाहविधि कर मैथुन करता है वह पापरूप सब विवाहोंमें अधम पैशाचविवाह कहाता है ॥ ३४ ॥

अद्विरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।

इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंको जल हाथमें लेके कन्यादान करना श्रेष्ठ कहाहै और क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके आपसमें वचन मात्रसेभी कन्यादान उचित है ॥ ३५ ॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः ।

सर्वे शृणुत तं विप्राः सर्वे कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन विवाहोंमें जिस विवाहको जो गुण दोष मनुने कहा है हे विप्रा तिस सबको कहते हुए मुजसे सुनो ऐसा यह वचन भृगुजीका है ॥ ३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।

ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितृन् ॥ ३७ ॥

अर्थ—सुकृतको करनेवाला ब्राह्मसंज्ञक विवाहवाली स्त्रीका पुत्र पिता आदि दश पहिले पितर और पुत्र आदि दश अगले और एक आप ऐसे इक्कीस पुरुषोंको पापसे छुटा देता है ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।

आर्षोढाजः सुतस्त्रीस्त्रीन्षट्षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

अर्थ—दैवसंज्ञक विवाहवाली स्त्रीमें उत्पन्न हुआ पुत्र सात पहले और सात पिछले ऐसे १४ को आर्ष विवाहवालीका तीन पहले ३ पीछले ऐसे ६ और प्राजापत्यविवाहवाली स्त्रीका पुत्र छह पहले छह पिछले ऐसे १२ और एक आप ऐसे इस क्रमसे इन्होंके पापका नाश करता है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।

ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—ब्राह्म आदि चार विवाहोंमें वेदाध्ययनकी संपत्ति तेजसे युक्त अति उत्तम और श्रेष्ठपुरुषोंसे पूजित ऐसे पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।

पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

अर्थ—सुंदर रूप और सत्त्वगुणसे युक्त धनवाले और यशवाले संपूर्ण इच्छित भोगोंसे युक्त धर्मवाले ऐसे पुत्र उत्पन्न होते हैं और सौवर्षतक जीवते हैं ॥ ४० ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।

जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

अर्थ—ब्राह्म आदि चार विवाहोंसे जुदे आसुर आदि चार विवाहोंमें क्रूरकर्म करनेवाले, झूठ बोलनेवाले वेदसे द्वेष करनेवाले ऐसे पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।

निन्दितैर्निदिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—विना निंदावाले, उत्तम स्त्रीसंग विवाह करानेसे उत्तम संतान होती है और निन्दित विवाह करानेसे निंदावाली संतान होती है इसवास्ते निन्दित विवाहोंको वर्ज देवै ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णास्त्रपदिश्यते ।

असवर्णा स्वयं ज्ञेयो विधिरुद्धाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो अपनी जातिकी स्त्री है उसके संग विवाह करानेमें पाणिग्रहण अर्थात् हाथग्रहण करना यह संस्कार कहा है और अन्य जातिकी स्त्रीके

संग विवाह करानेमें यह विधि करनी चाहिये तिसको अगले श्लोकमें कहते हैं ॥ ४२ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।

वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

अर्थ—जो यदि उत्तम वर्णका पुरुष विवाह करे तो क्षत्रियकी कन्याको बाण-का एकसिरा पकड़ना चाहिये और वैश्यकी कन्याको चाबुकका एकसिरा पकड़-ना और उत्तम ब्राह्मण आदिकोंके साथ विवाह होनेमें शूद्रकी कन्याको कपड़ा एक तर्फसे पकड़ना चाहिये ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।

पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

अर्थ—पुरुषको ऋतुकाल अर्थात् स्त्री रजस्वला होवे तो निश्चय तिसके संग मैथुन करना चाहिये और सदा अपनी स्त्रीमें रत रहे और मैथुनकी इच्छाकरके अपनी स्त्रीमें रत हुआ पुरुष अमावास्यादि पर्वको वर्जके मैथुन करे और पर्वका-लमे तो रजस्वला स्त्रीके संगभी मैथुन न करे ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः ॥ ४६ ॥

अर्थ—महीनाके महीना रजस्वला होना यह ऋतुकाल स्त्रीके स्वभावसेही हो-ता है सो सोलह दिनतक कहा है तिनमें पहले चार दिन श्रेष्ठ पुरुषोंने निंदित कहे हैं अन्यदिनोंमें मैथुन करै ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्रतस्त्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।

त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

अर्थ—तिन सोलह रात्रियोंमें पहलेंकी चार रात्री और ग्यारहवी तथा तेरवी ये रात्री वर्जित हैं बाकीकी १० रात्री श्रेष्ठकही हैं ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—पहले कही हुई १० रात्रियोंमें ६, ८, १०, १२, १४, १६, ये युग्म रात्री हैं इन्होंने विषय करे तो पुत्र होते हैं अन्य अयुग्म रात्रियोंमें कन्या होती है इसवास्ते पुत्रकी इच्छावालेको युग्मरात्रियोंमें मैथुन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुके स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।

समे पुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

अर्थ—पुरुषका वीर्य अधिक होवे तो पुत्र उत्पन्न होता है और स्त्रीका वीर्य अधिक होवे तो कन्या उत्पन्न होती है और दोनोंका वीर्य बराबर होवे तो नपुंसक होता है अथवा एक कन्या और एक पुत्र ऐसे जोड़ा होता है और वीर्य निकस जावे अथवा वीर्य अल्प होवे तो गर्भ नहीं ठहरता है ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।

ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

अर्थ—पहले कही हुई अनिन्दित रात्रियोंमें तथा अन्य अयुग्म रात्रियोंमें स्त्रियोंका वर्जके बाकीकी रात्रियोंमें मैथुन करता हुआ पुरुष जिस किसी आश्रममें वसता हुआभी ब्रह्मचारीही है ॥ ५० ॥

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृहीयाच्छुल्कमण्वपि ।

गृहं शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥

अर्थ—धन लेनेके दोषको जाननेवाला कन्याका पिता कन्याके विवाहमें थोड़ा साभी धन वरसे नहीं लेवे क्योंकि लोभसे कन्यादानके निमित्त धनको ग्रहण करने वाला पुरुष संतानको बेचनेवाला होजाता है ॥ ५१ ॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।

नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो बांधव अर्थात् पति पिता आदिक स्त्री पुत्री आदिकोंके धनको अज्ञानसे ग्रहण कर लेते हैं और स्त्रीकी सवारी वस्त्र इन्होंको हरते हैं वे पापी पुरुष नरकमें जाते हैं ॥ ५२ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।

अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

अर्थ—आर्षविवाहमें कईक आचार्य कहते हैं कि वरसे गो मिथुन गौ बैलको लेके कन्याका विवाह कर देवै सो यह असत्यही है क्योंकि थोड़ा हो अथवा ज्यादा हो यह तो कन्याका बेचनाही है ॥ ५३ ॥

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।

अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिन कन्याओंकेवास्ते प्रीतिकरके वरसे दिये हुए धनको पिता आदिक ग्रहण नहीं करते हैं किंतु कन्याहीकेवास्ते देदेते हैं वहभी बेचना नहीं है किंतु तिनकन्याओंका केवल पूजन है क्रूर कर्म नहीं है ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैस्तथा ।

पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ—केवल विवाहहीमें वरसे दियाहुआ धन कन्याकेवास्ते अर्पण करना यह नहीं है किंतु विवाहके बादभी पिता भाई पति देवर इन्होंने आपको बहुत सुखकी प्राप्तिके लिये तिनका पूजन करना और आभूषण आदिकोसे शृंगार करना उचित है ॥ ५५ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस कुलमें स्त्रियोंका पूजन हो वहां देवते प्रसन्न होते हैं और जहां इन्होका पूजन नहीं होता वहां देवताओंकी प्रसन्नता हुएविना संपूर्ण कर्म निष्फल होते हैं ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

अर्थ—जिस घरमें स्त्री बेटाकी बहू पुत्री इत्यादिक स्त्री दुःखसे शोच करती है वह कुल शीघ्रही नष्ट होजाता है जहां ये शोच नहीं करती हैं वह कुल नित्य धन आदिकोंसे बढ़ता है ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।

तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जामय अर्थात् वहैन पुत्री बेटाकी बहू स्त्री ये दुःखित होके जिन घरोंको शाप देती हैं वे घर भूतादिकरके नाश हुएकीतरह शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेभूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

अर्थ—इसवास्ते समृद्धिकी इच्छा करनेवालोंको अच्छे कामोंमें और विवाह आदिकोंमें आभूषण वस्त्रादिकोंकरके इन स्त्रियोंका सदा सत्कार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

अर्थ—जिस घरमें अपनी स्त्रीसे भर्ता प्रसन्न रहता है अर्थात् अन्य स्त्रीकी अभिलाषा नहीं रखता है और स्त्री अपने भर्तासे प्रसन्न रहती है तिस कुलमें निश्चय सुख होता है ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत् पुमांसं न प्रमोदयेत् ।

अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

अर्थ—जो स्त्री वस्त्र आभूषण आदिकोंसे शोभितहुई दीप्त नहीं रहती है तो अपने पतिको प्रसन्न नहीं करती है पतिके प्रसन्नहुए विना संतान नहीं होती है ॥ ६१ ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।

तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस कुलमें स्त्री शोभित रहती है तहां भर्ताके स्नेह होनेसे वह संपूर्ण कुल प्रकाशित रहता है और स्त्री प्रसन्न नहीं होवे तो अन्य पुरुषका संग होनेसे वह संपूर्ण कुल मलिन हो जाता है ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

अर्थ—आसुर आदि निंदित विवाहोंकरके और यथाविहित जात कर्म आदि संस्कारोंका नाश होनेसे वेदके नहीं पढ़नेसे ब्राह्मणोंका पूजन नहीं होनेसे श्रेष्ठकुल दूषितकुलपनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।

गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अर्थ—चित्रकर्म आदिक शिल्पविद्या मूर्ति आदि बनानेसे व्यवहारसे केवल शूद्रास्त्रीकी संतानकरके गौ अश्व रथ इन्हींके बेचने खरीदनेसे खेती करनेसे राजाकी सेवा करनेसे ब्राह्मणोंका कुल नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।

कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्वतः ॥ ६५ ॥

अर्थ—व्रात्य आदि नीच पुरुषोंके यज्ञ करानेसे श्रुति स्मृतिके कर्मोंकी नास्तिक्य अर्थात् निंदा करनेवाले वेदके मंत्रोंसे रहित ऐसे ब्राह्मणोंके कुल शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

मन्वतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।

कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

अर्थ—वेदका अध्ययन और तिसके अर्थ ज्ञानसे युक्त ऐसे निर्धन कुलभी बड़े कुलोंकी गिनतीमें प्राप्त हो जाते हैं और महान यशका विस्तार होता है ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।

पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

अर्थ—गृहस्थी पुरुष यथार्थ विधिसँ विवाहमें होनेवाली अग्निमें गृह्यकर्म अर्थात् सायंप्रातर्होम करै और बलि वैश्वदेव आदि विधान करै और दिन दिन प्रति तिसी विधानसे संपादित कीहुई अग्निमें पाक बनावे ॥ ६७ ॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

अर्थ—गृहस्थीके पांच हिंसाके स्थान है चुल्हा चक्री बुहारी ऊखल मूसल जलका घड़ा इन्होंको अपने कार्योंमें लावताहुआ पुरुष इन पांच हिंसाओंसे बंध जाता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पञ्च कृत्वा महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—चुल्ही आदि तिन पांच स्थानोंमें उत्पन्न होनेवाली सब हत्याओंके नाशके वास्ते मनु आदिकोंने गृहस्थियोंको पांच महायज्ञ करनी कही है ॥ ६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

अर्थ—पढ़ना पढ़ाना यह ब्रह्मयज्ञ है जल आदिसे तर्पण करना यह पितृयज्ञ है अग्निमें हवन करना यह देवयज्ञ है भूतोंको बलि देना यह भूतयज्ञ है अभ्यागतका पूजन करना यह मनुष्ययज्ञ है ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तिः ।

स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो पुरुष शक्तिके अनुसार इन पांच महायज्ञोंको करता है वह घरमें बसताहुआभी नित्यहत्याओंके दोषसें नहीं लिपता है ॥ ७१ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।

न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

अर्थ—देवता अभ्यागत भृत्य मातापिता आत्मा इन पांचोंको अन्न नहीं देता है वह जीवताहुआभी मराहुआ है जीवतेहुएके कार्योंके नहीं करनेसे वो जीवता नहीं हैं ॥ ७२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।

ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अर्थ—अहुत हुत प्रहुत ब्राह्म्यहुत प्राशित, इन पांच नामोंवाली यज्ञोंको मुनिजन कहते हैं ॥ ७३ ॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।

ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जपयज्ञोंको अहुत यज्ञ कहते हैं होम करना यह हुतयज्ञ है प्रहुतयज्ञ भूतबलिको कहते हैं उत्तम ब्राह्मणकी पूजा करनी यह ब्राह्म्यहुत यज्ञ हैं और पितृतर्पणको प्राशितयज्ञ कहते हैं ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादैवे चैवेह कर्मणि ।

दैवकर्मणि युक्तो हि विभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—वेदाध्ययनमें युक्त हो दैवकर्म अर्थात् अग्निहोत्रमें युक्त रहै दैवकर्ममें युक्तहुआ ऐसा ब्राह्मण इस चराचर जगत्को धारणकरता है यह स्तुति वर्णनकी है ॥ ७५ ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याजायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

अर्थ—अग्निमें दीहुई आहुति सम्यक् प्रकारसे सूर्यको प्राप्त होती है फिर वह

आहुतिका रस सूर्यसे वर्षारूप होके वर्षता है तिसवर्षासे अन्न होता है अन्नसे प्रजा बढ़ती है ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।

तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

अर्थ—जैसे प्राणवायुके आश्रय होके संपूर्ण प्राणी जीवते हैं तैसेही गृहस्थाश्रमके आश्रय होके सब आश्रम निर्वाह करते हैं ॥ ७७ ॥

यस्मात्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्जेषाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

अर्थ—जिसवास्ते तीनों आश्रमवाले पुरुष वेदार्थ व्याख्यारूप ज्ञान और अन्न करके गृहस्थाश्रमी पुरुषसेही निर्वाह करते हैं इसवास्ते गृहस्थी पुरुष ज्येष्ठ अर्थात् बड़ा है ॥ ७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो दुर्बल इंद्रियोंसे धारण करनेमें समर्थ नहीं है ऐसा वह गृहस्थाश्रम अक्षय स्वर्गकी इच्छा करनेवाला और इस लोकमें सुखकी इच्छा करनेवाला पुरुषको नित्य धारण करना चाहिये ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।

आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

अर्थ—ऋषि पितर देवता भूतादिक अभ्यागत ये सब गृहस्थीके सकाशसे आसा रखते हैं इसवास्ते शास्त्रको जाननेवालेकरके तिन्हींकेवास्ते कर्त्तव्य है ॥ ८० ॥

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।

पितृन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

अर्थ—वेदाध्ययनकरके ऋषियोंका पूजन करे और होमकरके यथार्थ विधिसे देवताओंका पूजन करे पितरोंका पूजन श्राद्ध करके करे और मनुष्योंको अन्न करके भूतोंको बलिकर्मकरके पूजे ॥ ८१ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

अर्थ—पितरोंकी प्रीतिकरनेवाला पुरुष दिन दिन प्रति तिलयव इत्यादि अन्न करके अथवा जलकरके तथा मूलफल दूध इन्होंकरके श्राद्ध करै यहां श्राद्ध-शब्द कर्मविधिका वाक्य है ॥ ८२ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।

न चैवात्राशयेत्किञ्चिद्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—यहां पंच यज्ञान्तर्गत पितृयज्ञमें एक ब्राह्मणको भोजन करानाभी उचित है और यहां विश्वेदेवासंबंधी ब्राह्मणको भोजन कराना योग्य नहीं है ॥ ८३ ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्यादेवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—आवसथ्य अग्निमें सिद्ध कियाहुआ विश्वेदेवोंके अन्नको द्विज विधिपूर्वक इन देवताओंकेवास्ते होम करै, तिनको अगले श्लोकमें कहते हैं ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

अर्थ—तिन देवताओंको कहते हैं अग्नये स्वाहा ऐसे अग्निके अर्थ सोमाय स्वाहा ऐसे सोमके अर्थ विश्वेभ्योदेवेभ्यः स्वाहा ऐसे विश्वेदेवोंके अर्थ धन्वन्तरये स्वाहा ऐसे धन्वन्तरयके अर्थ होम करै ॥ ८५ ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।

सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

अर्थ—कुह्वै स्वाहा अनुमत्यै स्वाहा प्रजापतये स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा अग्नयेस्विष्टकृते स्वाहा ऐसे स्वाहा शब्द अंतवाले इन मंत्रोंकरके अग्निमें हवन करै ८६

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।

इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

अर्थ—ऐसे सम्यक् प्रकारसे देवताओंके वास्ते अग्निमें हवन करके संपूर्ण दिशाओंमें प्रदक्षिणा कर अनुचरोंसहित इंद्र आदि देवताओंके अर्थ चारों दिशाओंमें बलि देवै जैसे प्राच्यामिन्द्राय नमः इंद्र पुरुषेभ्यो नमः दक्षिणस्यां यमा० यमपुरु० पश्चि० वरुणा० वरुणपुरु० उत्तरस्यां सोमाय नमः सोमपुरुषेभ्यो नमः ॥ ८७ ॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।

वनस्पतिभ्य इत्येवं मुशलोद्धखले हरेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ—मरुद्भ्यः नमः ऐसे कहके द्वारके आगे बलि देवै अद्भ्यः नमः ऐसे कहके जलमें डालै और वनस्पतिभ्यो नमः ऐसे कहके ऊखल मूसलमें बलि डालै ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।

ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

अर्थ—वास्तु पुरुषके शिरःप्रदेशमें उत्तर पूर्व दिशामें लक्ष्मीके अर्थ बलि देवै और वास्तुका पाद प्रदेश अर्थात् पश्चिम दक्षिणकी दिशामें भद्रकालीके अर्थ बलि देवै और ब्रह्मवास्तोष्पतिके अर्थ घरके मध्यमें बलि देवै ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।

दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

अर्थ—विश्वेदेवोंके अर्थ घरके आकाशमें बलि देवै दिनमें दिवाचरेभ्योभूतेभ्यो नमः ऐसे कहके आकाशमें भूतोंके अर्थ बलि देवै और नक्तंचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ऐसे कहके रात्रिमें भूतोंके अर्थ बलि देवै ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्म भूतये ।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

अर्थ—घरके ऊपरके मकानोंको पृष्ठवास्तु कहते हैं तहां सर्वात्मभूतये नमः ऐसे कहके बलि देवै और बलिदानोंसे बाकी रहे अन्नको दक्षिणकी तर्फ मुख कर स्वधापितृभ्यः ऐसे कह पितरोंके अर्थ बलि देदेवै ॥ ९१ ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥

अर्थ—कुत्ते पतित पुरुष चांडाल कुष्ठरोगी जन इन्हींके अर्थ अन्नकों पात्रमे डाल फिर तिसको शनैशनैः पृथ्वीमें रख कर देवै मिट्टी न लगे इसवास्ते शनै शनै रखे ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्य मर्चति ।

स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना ॥ ९३ ॥

अर्थ—जो द्विज इस उक्त प्रकारसे संपूर्ण भूतोंको अन्नादिकोंसे नित्य पूजता है वह तेजकी मूर्तिरूप परम स्थानको ऋजुमार्ग अर्थात् स्वयंप्रकाश होके प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्ममे लीन हो जाता है ॥ ९३ ॥

कृतवैतद्वलिकमैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।

भिक्षा च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

अर्थ—इस तरह उक्तप्रकारसे बलिदान देके फिर अतिथि अभ्यागतको भोजन करावे और भिक्षा मांगनेवाले ब्रह्मचारीके अर्थ भिक्षा देवे पीछे गृहस्थी मनुष्यों को भोजन करना चाहिये ॥ ९४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्वा विधिवद्गुरोः ।

तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥

अर्थ—विधिपूर्वक अर्थात् सुवर्णकी सीगड़ी आदिकोंसहित गौ दान अपने गुरु के वास्ते देके जिस फलको प्राप्त होता है उसी पुण्यके फलको गृहस्थी द्विज विधिवत् भिक्षादान देनेसे प्राप्त हो जाता है ॥ ९५ ॥

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।

वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

अर्थ—शाक आदिसे सत्कृतकी हुई भिक्षा अथवा जलके पात्रको विधिपूर्वक वेदके तत्व अर्थको जाननेवाले ब्राह्मणके अर्थ देवै ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।

भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहादत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

अर्थ—अज्ञानसे सत्पात्रको नहीं जाननेवाले मनुष्योंका दियाहुआ हव्य और कव्य अन्न भस्म हुआ पात्रके समान तिन विप्रोंमें देनेसे सब नष्ट हो जाता है ॥ ९७ ॥

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।

निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

अर्थ—विद्या तप इन्हींकी समृद्धिसे युक्त ऐसे ब्राह्मणोंके मुखरूप अग्निमें होमा हुआ अन्न दुर्ग अर्थात् राजशत्रु आदि भयसे और महान् पापसे उतार देता है ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—यथा संभव आपसे आयाहुआ अभ्यागतके अर्थ आसन देवै और पाद प्रक्षालनकेवास्ते जल देवै फिर व्यंजनादि अन्नको सत्कृत कर शक्तिके अनुसार भोजन करावे ॥ ९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चामीनपि जुह्वतः ।

सर्वे सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १०० ॥

अर्थ—शिला उंछ वृत्ति अर्थात् काटे हुए खेतमेसे अन्न बीन बीनलेआना और पांच अग्नियोंमें नित्य हवन करनेवाला ऐसा अतिथि अभ्यागत विना पूजाहुआ रेहतो तिस गृहस्थीके सब पुण्यको गृहण कर लेता है ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्कतुर्थी च सूनृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो यदि अन्न नहीं होवेतो तृणरहनेकेवास्ते भूमि जल चौथी प्रियवाणी ये बात श्रेष्ठ पुरुषोंके घर नित्य रहनी चाहिये ॥ १०१ ॥

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ—एक रात्रीही पराये घरमें वास करताहुआ ब्राह्मण अतिथि कहाता है क्योंकि इसका ठहरना अनित्य है एक तिथिसे दूसरी तिथि नहीं ठहरता इसी-वास्ते अतिथि कहाताहै ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा ।

उपस्थितं गृहे विद्याद्वार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

अर्थ—एक ग्राममें रहनेवाला और गानेवजानेवाला और भार्या अग्निसे युक्त घरमें रहनेवाला ऐसे ब्राह्मणको अतिथि नहीं जानें ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।

तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो बुद्धिसे रहित गृहस्थी पुरुष पराये भोजनको खाते हैं वे मरके तिन अन्न देने वालोंके पशु होते हैं ॥ १०४ ॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सार्यं सूर्योदो गृहमेधिना ।

काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेन् ॥ १०५ ॥

अर्थ—सायंकालमें सूर्य अस्त होजावे तब अभ्यागत आजावे तो उसको जाने को न कहे और घरमें भोजन हो चुकाहौ अथवा भोजन तैयार हो परंतु गृहस्थी पुरुषको अभ्यागत भूखा नहीं रखना चाहिये ॥ १०५ ॥

न वै स्वयं तदश्रीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जो भोजन अभ्यागतको नहीं किया है उसको आपभी भोजन न करे अतिथिका पूजन करना धन्य है अर्थात् धनकेवास्ते हित है यश करता है आयुको बढ़ाता है स्वर्गकेवास्तेभी हित है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।

उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्दीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—वैठनेकेवास्ते आसन रहनेकेवास्ते मकान सोनेको शय्या उपासना अर्थात् खातर तब जैपे सब उत्तम अभ्यागतोंमें उत्तम करे हीनोंमें हीन और समान हो उनको आपके समान ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।

तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

अर्थ—भोजन हो चुके और अतिथि अभ्यागतको भोजन कराचुके तब कोई यदि दूसरा अभ्यागत आ जावे तो उसकेवास्ते अन्य पाकबनाके शक्तिके अनुसार भोजन करावे और फिर बलिदान न करे ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।

भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

अर्थ—भोजन करनेकेवास्ते ब्राह्मण अपना कुलगोत्रका वर्णन नकरे भोजनकेवास्ते तिन्होंका वर्णन करनेवाला विप्र वमन अर्थात् उगलनको खानेवाला कहाता है १०९

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

अर्थ—ब्राह्मणके क्षत्रिय आदिक अतिथि नहीं है और क्षत्रियके घरमें वैश्य शूद्र अतिथि नहीं है और मित्र गुरु सजातीय बंधु येभी अतिथि नहीं कहाते है इसी क्रमसे वैश्यके द्विज अतिथि है शूद्र नहीं ॥ ११० ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।

भुक्तवत्सूक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

अर्थ—जो यदि अतिथि धर्मकरके अर्थात् किसि ग्राममें जाताहुआ क्षत्रिय ब्राह्मणके घरमें आजावे तो ब्राह्मण पहले भोजन कर चुके तब तिसकोभी इच्छापूर्वक भोजन करवावे ॥ १११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।

भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो यदि वैश्य शूद्रभी अतिथि धर्म करके ब्राह्मणके घरमें प्राप्त होवें तो उनमे कृपा करताहुआ ब्राह्मण अपने भृत्योंके साथ उनको भोजन करवावे ११२

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् ।

सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

अर्थ—अन्य जो सहाध्यायि मित्र आदि आवें तो उन्हींको शक्तिके अनुसार व्यंजन आदि सहित उत्तम पदार्थ बनाके प्रीति करके स्त्रीके भोजन समय भोजन करावे गृहस्थीको आपभोजन करनेकाभी वही वक्त है ॥ ११३ ॥

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।

अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

अर्थ—पुत्र वधू आदि नवीन वहू पुत्री कुमारी रोगी गर्भिणी स्त्री इन्हींको विना विचार कियें निस्संदेह अतिथि अभ्यागतोंसे पहले भोजन करवा देवें और किसीका यह मत है कि इन्हींके साथही भोजन करवावे ॥ ११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः ।

स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

अर्थ—जो मूर्खजन इन अभ्यागत भृत्य आदिकोंको भोजन करवायेंविना पहले आप भोजन करता है वह इसवातको नहीं जानता है कि मरनेकेबाद अन्य जन्म में मेरा शरीरका भक्षण कुत्ते गृध्र करैंगे ॥ ११५ ॥

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।

भुञ्जीयाता ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

अर्थ—अभ्यागत विप्र अपने ज्ञातिबंधु दासआदि ये सब भोजन कर चुके तब पीछे बाकी रहे अन्नको स्त्री पुरुष भोजन करै ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्यांश्च देवताः ।

पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—देवता ऋषि मनुष्य पितर गृह्यदेवते अर्थात् भूतसंज्ञक इन्होंका पूजन कर अर्थात् पंचयज्ञविधान करके फिर गृहस्थी पुरुष बाकी रहे अन्नको भोजन करै ॥ ११७ ॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनेहीवास्ते अन्नको पकाके भोजन करता है वह केवल पापका भोजन करता है और यज्ञ कियाहुआसे बाकी रहा अन्नका भोजन करना श्रेष्ठ पुरुषोंको कहा है ॥ ११८ ॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरुन्प्रियश्चशुरमातुलान् ।

अर्हयेमधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

अर्थ—राजा ऋत्विक् विद्या व्रतसे युक्त स्नातक गुरु जामाता श्वशुर मामा ये जो घरोंमे आवें तो गृह्योक्त मधुपर्क कर्म करके पूजन करै और वर्ष १ व्यतीत होनेके बाद आवे तब फिर पूजन करै ॥ ११९ ॥

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।

मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

अर्थ—राजा स्नातक अर्थात् श्रोत्रिय ये जो यदि वर्ष १ पीछे आवे तबभी यज्ञकर्ममें तो मधुपर्क करके पूजन करै और यज्ञकर्मविना उन दोनोंका यह नियम नहीं है ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्नं बलिं हरेत् ।

वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

अर्थ—सायंकालमें पकेहुए अन्नकी बलिको स्त्री मंत्र पढ़े विनाही ध्यानमात्रसे देवै क्योंकि वैश्वदेव यह नाम होमबलि दान अतिथि भोजन यह दोनों वक्त करना कहा है ॥ १२१ ॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।

पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—अग्निहोत्री द्विज अमावास्याके दिन पिंडपितृयज्ञ कर्मको निवृत्त करके महीनाके महीनै पिंडान्वाहार्यकश्राद्ध अर्थात् पितृयज्ञमें पिंडोंके पीछे श्राद्ध करै १२२

पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।

तच्चाभिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन समंततः ॥ १२३ ॥

अर्थ—पितरोंके मासिक श्राद्धको पंडितजन अन्वाहार्य कहते हैं सो वह श्राद्ध दुर्गंधसे रहित सुंदर मनोहर मांस करके करना चाहिये ॥ १२३ ॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।

यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

अर्थ—तिस श्राद्धमें जिन ब्राह्मणोंको भोजन कराना उचित है और जो वर्जित है और जितनी संख्यावाले तथा जिन अन्नोंकरके जिमानें कहे हैं तिन सबोंको कहते हैं ॥ १२४ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनैकैकमुभयत्र वा ।

भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

अर्थ—दैवकर्ममें दो ब्राह्मण और पितर कार्यमें तीन अथवा देवता पितर इन दोनोंमें एक एक ब्राह्मणको भोजन करवावै जो यदि धनसे समृद्धिवान् होतोभी विस्तार न करे ॥ १२५ ॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः ।

पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—विशेष ब्राह्मणोंके जिमानेमें सत्क्रिया ब्राह्मणकी पूजा दक्षिणा १ आदि देश २ अपराह्नकाल ३ शौच ४ उत्तम गुणवान् ब्राह्मणोंकी प्राप्ति ५ इन पांचोंका नाश हो जाता है ये नहीं बन सकते इसवास्ते तहां विस्तार न करे ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।

तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

अर्थ—अमावास्याकेदिन यह जो पितरकर्म है सो प्रेतकृत्या ऐसे विख्यात है तिस कर्ममें युक्त हुआ पुरुष प्रेतकृत्या अर्थात् पितरोंके उपकारार्थ क्रियाके फल नित्यश्राद्धके फलको प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।

अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

अर्थ—वेदको पढाहुआ ब्राह्मणके अर्थ हव्यकव्य अर्थात् देवता पितर इन्होंके उद्देशका अन्नादिकको देव और अधिक पूज्य ब्राह्मणकेवास्ते देवे तो महा फल होता है ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।

पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्तज्ञान्वहूनपि ॥ १२९ ॥

अर्थ—देवकर्म अर्थात् यज्ञादिकमें और पितर कर्ममें एक एक विद्वान् ब्राह्मण जिमानाभी योग्य कहा है परंतु वेदके मंत्रोंको नहीं जाननेवाले बहुतसे ब्राह्मणों-कोंभी नहीं जिमावे क्योंकि विद्वान् एक ब्राह्मणकेभी जिमानेसे संपूर्ण फलकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।

तीर्थं तद्व्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

अर्थ—संपूर्ण वेद और वेदकी शाखाओंको पढ़ेहुये ऐसे ब्राह्मणको दूरसे देखै क्योंकि वह हव्यकव्य संज्ञक अन्नके दानमें तीर्थके समान अतिथि अभ्यागत कहा है ॥ १३० ॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।

एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

अर्थ—वेदकी ऋचाओंको नहीं जाननेवाले जहां दश लाख ब्राह्मण भोजन करते हैं तिन सबोंके पुण्यको वेदको पढ़ाहुआ एक ब्राह्मण संतुष्ट होके ग्रहणकर लेता है अर्थात् उन सबके पुण्यके समान फल देता है ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।

न हि हस्तावस्त्रिदग्धौ रुधिरैणैव शुद्ध्यतः ॥ १३२ ॥

अर्थ—ज्ञानोत्कृष्ट अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणकेवास्तेही हव्य और कव्य आदिक अन्न देने तथा भोजन कराना कहा है किंतु मूर्खकेवास्ते कभीभी नहीं देने रुधिरसे लिपेहुए हाथ रुधिरकेही धोनेसे शुद्ध नहीं होते तैसेही यहां जानना ॥ १३२ ॥

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्तवित् ।

तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

अर्थ—वेदको नहीं पढ़ाहुआ सूर्य ब्राह्मण श्राद्धमें हव्यकव्योंके जितने ग्रासोंको खाता है उतनेही जलतीहुई शूल सृष्टिशस्त्र ज्वलित लोहाका पिंड इन्हींके ग्रासोंको श्राद्धकर्ता पुरुष मरके भक्षण करता है ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे ।

तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

अर्थ—कईक द्विज ज्ञानकी निष्ठावाले अर्थात् आत्मज्ञानमें तत्पर होते हैं कईक तपकी निष्ठावाले होते हैं और कईक प्राजापत्य आदि तप स्वाध्याय इन्हींमें तत्पर रहते हैं और कईक कर्मकी निष्ठावाले हैं ॥ १३४ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।

हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्वर्षि ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो द्विज ज्ञानमें प्रधान है उन्हींकेवास्ते यत्नसे पितरोंके अन्न देने चाहिये और देवताओंके अन्नको यथार्थ विधिसे इन सबोंके अर्थ देवै ॥ १३५ ॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।

अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

अर्थ—जिसका पिता वेदपाठी विद्वान् न हो और वह पुत्र वेदका पढ़ाहुआ हो और जिसका पुत्र वेदपाठी विद्वान् नहीं हो और पिता वेदको जाननेवाला हो इसकी विधि अगले श्लोकमें कहते हैं ॥ १३६ ॥

र्ज्यांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।

मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

अर्थ—इन दोनोंमें वह बड़ा है कि जिसका पिता वेदपाठी विद्वान् है और वेदके यंत्रोंके पूजनकेवास्ते दूसरा अर्थात् आप वेदका पढ़ाहुआ हो वह सत्कारके योग्य है ॥ १३७ ॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।

नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्विजम् ॥ १३८ ॥

अर्थ—श्राद्धमें मित्रको नहीं जिमावे किंतु अन्य धन देके इसके मित्रता बढ़ावे जिसको वैरी नहीं जाने और मित्र नहीं जानें तिस द्विजको श्राद्धमें जिमावे ॥ १३८ ॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।

तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

अर्थ—जिसके मित्रप्रधान श्राद्ध होता है अर्थात् श्राद्धोंके हविष् भोजनको मित्रही करते हैं तिसको अन्य लोकमें श्राद्धोंका फल नहीं होता और यज्ञका फलभी नहीं होता ॥ १३९ ॥

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छाद्धेन मानवः ।

स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छाद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

अर्थ—जो मनुष्य अज्ञानसे श्राद्धकरके मित्रभावको करता है वह अधम द्विज श्राद्धमें मित्रभाव करनेसे स्वर्गलोकसे पतित हो जाता है अर्थात् स्वर्गलोकमें नहीं प्राप्त हो सक्ता है ॥ १४० ॥

संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।

इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

अर्थ—श्राद्धमें मित्रोंको जिमांना यह दानक्रिया जो है कैसी यह है कि इसमें संगही भोजन किया जाता है सो यह पैशाची कही है इसमें पिशाच धर्म है सो यह क्रिया इसी लोकमें है परलोकमें फल नहीं देती जैसे अंधी गौ एकही मकानमें रहती है दूसरे मकानमें नहीं जा सकती ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुष्वा न वसा लभते फलम् ।

तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

अर्थ—जैसे ऊपर भूमिमें बीजको बोके कृषी पुरुष फलको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि ऊपर भूमिमें बीज नहीं जामता है इसी तरह विना पढ़ेहुए ब्राह्मणके वास्ते दान देके फलको नहीं प्राप्त होता है ॥ १४२ ॥

दातृन्प्रतिग्रहीतृश्च कुरुते फलभागिनः ।

विदुषे दक्षिणां दत्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

अर्थ—वेदको जाननेवाले विद्वान्के अर्थ विधिपूर्वक दियाहुआ दान इस लोकमें और परलोकमें दाताको और ग्रहीताको अर्थात् देनेलेनेवालेको फलकी प्राप्ति करता है ॥ १४३ ॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।

द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

अर्थ—वेदका पढाहुआविद्वान् ब्राह्मण नहीं मिले तो गुणवान् मित्रको भोजन कराना श्रेष्ठ है परंतु विद्वान् शत्रुका जिमाना श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि शत्रुकरके भोजन कियाहुआ श्राद्धका अन्न इस लोकमें और परलोकमें निष्फल है ॥ १४४ ॥

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वचं वेदपारगम् ।

शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

अर्थ—बहुतसी ऋचा मंत्र ब्राह्मण शाखाके पारको जाननेवाले वेदके पारको जाननेवाले ब्राह्मणको तथा अध्वर्युको और संपूर्ण यजुर्वेदको पढेहुएको यतनकरके श्राद्धमें भोजन करवावै ॥ १४५ ॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।

पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

अर्थ—पहले कहेहुए इन वेदपाठी ब्राह्मणोंमें कोईसा ब्राह्मण पूजित होके श्राद्धका भोजन करता है तब तिसके पितरोंकी संपूर्ण साप्तपौरुषी तृप्ति होती है अर्थात् सात पीढ़ीतक पुरुषोंकी तृप्ति होती है ॥ १४६ ॥

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।

अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

अर्थ—हव्य और कव्यके दान देनेमें यह मुख्य कल्प, मुख्य व्यवहार कहा है और इसतरह नहीं मिलें तो आगे कहा जाता है यह अनुकल्प करना योग्य है श्रेष्ठ पुरुषोंसे सदा अनुष्ठित है ॥ १४७ ॥

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।

दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त श्रोत्रिय आदि न मिलें तो श्राद्धमें नाना मातुल, मामा भानजा श्वसुर दौहिता जमाई बन्धु अर्थात् मौसीका बेटा ऋत्विक्, याज्य अर्थात् यज्ञ करानेवाला इन दशोंको भोजन करावे ॥ १४८ ॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।

पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

अर्थ—धर्मको जाननेवाला पुरुष दैवकर्म अर्थात् यज्ञादिकमें विशेष करके ब्राह्मणकी परीक्षा नहीं करै और पितरकर्ममें तो यतनकरके विद्वान् अविद्वान् ब्राह्मणकी परीक्षा करै ॥ १४९ ॥

येस्तेनपतितक्रीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।

तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

अर्थ—जो चोर महापातकी नपुंसक तथा नास्तिकवृत्तिवाले हों तिन ब्राह्मणोंको हव्यकव्यका दान देना योग्य नहीं है ऐसा मनुजीने कहा है यहां मनुजीका नाम असंत निरादरके वास्ते कहा है ॥ १५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।

याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

अर्थ—जटाधारण कियेहुए ब्रह्मचारी बिना पढाहुआ पुरुष, दुर्बल पुरुष तथा जुवारी और बहुतसे मनुष्योंके पूजाकरानेवाले इन्होंको श्राद्धमें भोजन नहीं करवावै ॥ १५१ ॥

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।

विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

अर्थ—वैद्य पुजारी मांसको बेचनेवाला वणिजकी आजीविका करनेवाला, इन पुरुषोंको दैवकर्ममें तथा पितरकर्ममें वर्जदेवै ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्वावदन्तकः ।

प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वाहुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

अर्थ—सब ग्रामकी और राजाकी आज्ञा करनेवाला भृत्यजन बुरे नखोंवाला काले दांतोंवाला गुरुसे विपरीत चलनेवाला अग्निहवनको त्यागनेवाला व्याजकी आजीविका करनेवाला ॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।

ब्रह्मद्विष्ट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

अर्थ—क्षयीरोगवाला बकरी आदिपशुओंका पाली परिवेत्ता, पंचमहायज्ञोंके विधानसे रहित ब्राह्मणोंके साथ वैर करनेवाला परिवित्ति, समुदायके धनको ग्रहण कर तिसकी आजीविका करनेवाला ॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ।

पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

अर्थ—नाचनेवाला अवकीर्णी अर्थात् जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया हो अपने

वर्णकी स्त्रीको त्याग शूद्राके संग विवाह करनेवाला पुनर्भूषुत्रका और जिसकी स्त्रीके संग अन्य पुरुष लग रहा हो ऐसे ये सब पुरुष श्राद्धमें वर्जित हैं १५५

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।

शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

अर्थ—तनखा लेके पढानेवाला तथा तनखा देके पढनेवाला शूद्रका शिष्य तथा गुरुको कठोर बोलनेवाला कुंड, गोलक इन्होंकोभी वर्ज देवै ॥ १५६ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।

ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

अर्थ—माता पिता गुरुइन्होंके परित्यागके कारणके विना इन्होंकी सेवाको त्याग देनेवाला अध्ययन कन्यादान आदि संबंध इन्होंकरके पतित हुए पुरुषोंके संपर्कवाला ये सब त्याज्य हैं ॥ १५७ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।

समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ ५८ ॥

अर्थ—किसीके घरको जलानेवाला जहर देनेवाला कुंड अर्थात् भर्ता जीवता हो तिस स्त्रीके जारसे पुत्र हो तिसके अन्नका भोजन करनेवाला सोमलताका बेचनेवाला समुद्रमें जहाज लेके अन्यदेशमें जानेवाला राजाकी स्तुति करनेवाला झूठकाकार करनेवाला अर्थात् वकील ये सब त्याज्य हैं ॥ १५८ ॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।

पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

अर्थ—पिताके संग शास्त्रार्थमें अथवा लोकव्यवहारमें जो विवाद करै और धूर्त, मदिरा पीनेवाला कुष्ठ आदि महारोगोंवाला महापातक आदिकोंसे अभिशाप जिसको होगया हो वह और छल करनेवाला रस बेचनेवाला ये सब वर्जित हैं ५९

धनुःशर्णा कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः ।

मित्रधुक् द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

अर्थ—धनुष बाण इन्होंको करनेवाला अग्रेदिधिषूका पति अर्थात् जो बड़ी बहैन अथवा कन्याका पहले विवाह न करा हो और छोटीको पहले विवाहै वह अग्रे-दिधिषू कहाती है, तिसकापति मित्रसे द्रोह करनेवाला जूवाकी वृत्ति करनेवाला पुत्रसे पढनेवाला ये सब त्याज्य हैं ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।

उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥

अर्थ—मृगीरोगवाला गंडमाला रोगवाला, शित्रकुष्ठी चुगलीकरनेवाला म-
दोन्मत्त अंधा वेदकी निंदा करनेवाला इन सबोंको वर्ज देवै ॥ १६१ ॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।

पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

अर्थ—हस्ती गौ अश्व ऊँठ इन्होंको हांकनेवाला नक्षत्र सूचक ज्योतिषी, क-
बूतर आदिपक्षियोंको पालनेवाला युद्धकेवास्ते शस्त्रविद्याको पढानेवाला ये सब
त्याज्य है ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।

गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

अर्थ—स्रोतोंका भेद अर्थात् नहरचलानेवाला तिसीको बंध करनेमें रहनेवाला
वास्तुविद्यासे आजीवनकरनेवाला दूत मूल्य लेके वृक्ष लगानेवाला ये सब त्याज्य है ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।

हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

अर्थ—क्रीडाकेवास्ते कुत्ताको पालनेवाला वाजपक्षीको बेचनेखरीदनेकी आ-
जीविकावाला कन्याको दोष लगानेवाला शूद्रकी वृत्ति करनेवाला गणोंकी यज्ञ
करानेवाला ये सब श्राद्धमें त्याज्य है ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।

कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ १६५ ॥

अर्थ—आचारसे हीन अर्थात् गुरुआदिकोंके सत्कारसे रहित, नपुंसक, नित्य
मांगनेवाला खेतीकी आजीविका करनेवाला श्लीपद मोटा पाँव रोगवाला श्रेष्ठ
पुरुषोंसे निन्दित ये सब त्याज्य है ॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।

प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

अर्थ—मेंढा भैंस इन्होंकी आजीविका करनेवाला दूसरों विवाही हुई स्त्रीका
पति धन लेके प्रेतको लेजानेवाला ये सब श्राद्धमें वर्जित है ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्केयान्द्विजाधमान् ।

द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

अर्थ—ये जो पहले कहेहुए निन्दित आचारवाले और पंक्तिसे बाह्य ऐसे अधम द्विज कहे हैं इन्हेंको विद्वान् द्विज देवकार्य तथा पितरकार्यमें वर्ज देवै ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।

तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥

अर्थ—विना पढाहुआ ब्राह्मण घासकी अग्निकी तरह है इसवास्ते तिसमें हविष् दान नहीं देना जैसे राखमें हवन करना योग्य नहीं है तैसेही तिसको हव्यकव्य दान योग्य नहीं है ॥ १६८ ॥

अपाङ्किदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।

दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

अर्थ—दैवकर्ममें तथा पितरकर्ममें पंक्तिसे बाह्य द्विजको दान देनेके बाद दाताको जो फल होता है तिस संपूर्णको अब कहेंगे ॥ १६९ ॥

अव्रतैर्यद्विजैर्भुक्तं परिवेत्तादिभिस्तथा ।

अपाङ्केयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

अर्थ—वेदग्रहणकेवास्ते पूर्वोक्त व्रतसे रहित द्विजोंकरके और परिवेत्तासंज्ञक द्विजोंकरके तथा पंक्तिसे बाह्य अन्य द्विजोंकरके जो श्राद्धादिकोमें भोजन किया जाता है तिसको राक्षस भोजन करते हैं ॥ १७० ॥

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।

परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

अर्थ—जो बड़ा भाईका विवाह हुएविना और अग्निहोत्रविधि हुएविना छोटा भाई विवाह करै और अग्निहोत्र करे वह परिवेत्ता कहाता है और वह छोटा भाई परिवित्ति कहाता है ॥ १७१ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।

सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

अर्थ—परिवेत्ता परिवित्ति इन्हेंके संग विवाह करानेवाली कन्या तिस कन्याका पिता और आचार्य ये पांचो नरकमें जाते हैं ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।

धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिष्णुपतिः ॥ १७३ ॥

अर्थ—मरेहुए भाईकी भार्यामें पूर्वोक्त धर्मकरके नियोगभी किया हो परंतु जो-
तिसमें ऋतुधर्मको त्याग कामनापूर्वकरमण करता है वह दिधिष्णुपति कहाता है १७३

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।

पत्नौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥

अर्थ—परस्त्रीसे उत्पन्न हुए दो पुत्र कुंड और गोलक नामवाले होते हैं
सो पति जीवता हो तब अन्य पुरुषसे हो वह कुंड कहाता है और पति मरजावे
तब जारसे उत्पन्न हो वह गोलक कहाता है ॥ १७४ ॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।

दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

अर्थ—दूसरेके क्षेत्रमें उत्पन्न हुए वे दोनों कुंड और गोलकसंज्ञक पुरुष, देने-
वालोंके हव्य तथा कव्यको नाशको प्राप्त कर देते हैं और इसलोकमें कीर्त्तिका
नाश परलोकमें स्वर्गका नाशकर देते हैं ॥ १७५ ॥

आपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति ।

तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥

अर्थ—पंक्तिसे बाह्य पुरुष जितने पाङ्क्तव अर्थात् पंक्तिके योग्य पुरुषोंको भोजन
करतेहुयोंको देख लेता है उन ब्राह्मणोंके जिमानेके फलको वह मूर्ख दाता नहीं
प्राप्त होता है ॥ १७६ ॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्ठेः श्वित्री शतस्य तु ।

पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

अर्थ—अंधा पुरुष श्राद्धको देखके अर्थात् श्राद्धके भोजनके समीप होके दाता-
के श्रोत्रिय आदि नव्वे ९० ब्राह्मणोंके फलको नाश देता है काणा पुरुष श्राद्ध-
में भोजनकरके साठ ६० ब्राह्मणोंके फलको नाशता है श्वित्रकुष्ठी सौ ब्राह्मणोंके
फलको क्षयीरोगी तथा गलितकुष्ठी पुरुष हजार ब्राह्मणोंके फलको नाश देता है १७७

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।

तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

अर्थ—शूद्रके यज्ञकरानेवाला ऋत्विक् आचार्य श्राद्धके जितने ब्राह्मणोंको शरीर-से छूता है उनको दान दियेकी पूर्तिका फल दाताको नहीं प्राप्त होता है अर्थात् शूद्रके याजक ब्राह्मणकाभी निषेध है ॥ १७८ ॥

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।

विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

अर्थ—वेदको जाननेवालाभी ब्राह्मण लोभकरके शूद्रका प्रतिग्रह दान लेता है वह शीघ्रही नष्ट हो जाता है जैसे मिट्टीका कच्चा पात्र जलमें नष्ट हो जाता है तैसे ॥ १७९ ॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।

नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

अर्थ—सोमलताको बेचनेवाले ब्राह्मणके अर्थ दियाहुआ अन्न दाताको जन्मांतरमें विष्ठा प्राप्त होता है वैद्यके अर्थ दियाहुआ मज्जारुधिर प्राप्त होता है और देवताकी पूजाकरके आजीविकाकरनेवालेको दियाहुआ नष्ट होजाता है व्याज लेनेवालेके अर्थ दियाहुआ श्राद्धका अन्न निष्फल है ॥ १८० ॥

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नासुत्र तद्भवेत् ।

भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

अर्थ—वाणिजकी वृत्तिकरनेवालेके अर्थ दिया अन्नका फल इस लोकमें और परलोकमें नहीं है और पुनर्भूषुत्र द्विजके अर्थ दियाहुआभी तैसेही है जैसे राखमें होम करना तैसे है ॥ १८१ ॥

इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।

मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

अर्थ—पंक्तिसेरहित अन्य असाधु पुरुषोंके अर्थ दियाहुआ अन्न दाताको जन्मांतरमें मेद रुधिर मांस मज्जा हड्डी ये होके मिलते हैं अर्थात् मांस रुधिर आदिकोंको भोजन करनेवाली जातियोंमें जन्मता है ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्त्योपहता पंक्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।

तान्निबोधत कात्स्न्येन द्विजाभ्यान्पंक्तिपावनान् ॥ १८३ ॥

अर्थ—पंक्तिबाह्य पुरुषोंकरके हतपंक्ति जिन उत्तम द्विजोंकरके पवित्र होजाती है पंक्तिको पवित्र करनेवाले उत्तम तिन सब ब्राह्मणोंको सुनो ॥ १८३ ॥

अध्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।

श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

अर्थ—जो चारों वेदोंमें निपुण है और छहों वेदके अंगोंमें निपुण है श्रोत्रिय अर्थात् जिनके परंपरासे वेदाध्ययन होता है ऐसे कुलसे उत्पन्न होनेवाले ये सब द्विज पंक्तिको पवित्र करनेवाले कहे हैं ॥ १८४ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।

ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

अर्थ—त्रिणाचिकेत यजुर्वेदके भागको कहते हैं तिसके व्रतको करनेवाला पुरुष-भी त्रिणाचिकेत कहाता है और अग्निहोत्री त्रिसुपर्ण अर्थात् बहुतसी ऋचाओंके व्रतको करनेवाला और वेदको छहों अंगोंके जाननेवाला ब्राह्म्यविवाहितास्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र और आरण्यक सामवेदको गानेवाला ये सब द्विज पंक्तिको पवित्र करनेवाले हैं ॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।

शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनः ॥ १८६ ॥

अर्थ—वेदके अर्थको जाननेवाला और उसीको कहनेवाला ब्रह्मचारी हजार गौदान करनेवाला सौ १०० वर्षकी आयुवाला ये ब्राह्मण पंक्तिको पवित्र करनेवाले कहे हैं ॥ १८६ ॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।

निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥

अर्थ—श्राद्धके पहले दिन अथवा श्राद्धकेही दिन सम्यक् प्रकारसे पहले कहे-हुए ब्राह्मणोंको तीनोंको अथवा एकको निमंत्रण देवै ॥ १८७ ॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।

न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

अर्थ—श्राद्धमें निमंत्रण कियाहुआ ब्राह्मण निमंत्रणसे लेके श्राद्धके दिन रा-ततक मैथुन आदि न करे सदा नियमवाला रहै जप आदिके बिना वेदाध्ययन न करे इसीतरह श्राद्धकर्ताको नियम करने चाहिये ॥ १८८ ॥

निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।

वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

अर्थ—निमंत्रित कियेहुए तिन ब्राह्मणोंकेपास पितर रहते हैं और प्राण वायुकी तरह तिन ब्राह्मणोंके गमन करते हुएके अनुगमन करते हैं और तिस प्रकारसे बैठे हुयोंके समीप स्थित रहते हैं इसवास्ते तिन्होंको नियमसे रहना चाहिये १८९

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।

कथंचिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

अर्थ—यथार्थ प्रकारसे शास्त्रके अनुसार श्राद्धमें तथा यज्ञादिकमें निमंत्रण कियाहुआ ब्राह्मण किसी प्रकारसेभी जो यदि भोजन नहीं करता है तो तिस पापकरके अन्य जन्ममें सूकर होता है ॥ १९० ॥

आमन्वितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।

दातुर्यदुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

अर्थ—श्राद्धमें निमंत्रित कियाहुआ जो ब्राह्मण शूद्रास्त्रीके संग रमण करता है वह दाताके सब पापको प्राप्त होता है यहां पापमात्रकी विवक्षा कही है कछु दाताका प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १९१ ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।

न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

अर्थ—राग द्वेष आदिसे रहित सौचमें तत्पर निरंतर स्त्रीसंयोगसे रहित हथियारोंका त्याग करनेवाले दया आदि अष्टगुणोंसे युक्त महाभागवाले ऐसे दाता भोक्ता होने चाहिये क्योंकि पितर अनादि देवता है ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।

ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

अर्थ—इन संपूर्ण पितरोंकी जिस्से संपूर्ण प्रकारसे उत्पत्ति है और जो वे पितर हैं और जिन नियम तथा कर्मोंकरके पूजित होते हैं तिन सबोंको सुनो १९३

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।

तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

अर्थ—ब्रह्माके पुत्र स्वायंभुव मनुके जो मरीची आदि पुत्र कहे हैं तिन सब ऋषियोंके सोम आदि पितृगण पुत्र कहाते हैं ॥ १९४ ॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।

अग्निष्वात्ताश्च देवानां मरीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥

अर्थ—सोमसद नामवाले विराटके पुत्र है वे साध्योंके पितर कहाते हैं मरी-
चीके पुत्र अग्निष्वात्त नामवाले लोकमें विख्यात है वे देवताओंके पितर क-
हाते हैं ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।

सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

अर्थ—दैत्य, दानव यक्ष गन्धर्व उरग राक्षस सुपर्ण किन्नर इन्हींके पितर बर्हिष-
द नामवाले अत्रिके पुत्र कहे हैं ॥ १९६ ॥

सोमपानाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।

वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंके पितर सोमपा नामवाले कहे हैं क्षत्रियोंके हविर्भुज नामवाले
हैं वैश्योंके आज्यपा नामवाले और शूद्रोंके सुकालिन नामवाले पितर कहे हैं १७

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।

पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥

अर्थ—सोमपा नामवाले पितर भृगुजीके पुत्र है हविर्भुज पितर अंगिरसके पुत्र
हैं आज्यपा नामवाले पितर पुलस्त्यके पुत्र है सुकालिन नामक पितर वसिष्ठके
पुत्र है ॥ १९८ ॥

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।

अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

अर्थ—अग्निदग्ध अनग्निदग्ध काव्य बर्हिषद अग्निष्वात्त सौम्य इन नामोंवाले
सब ब्राह्मणोंके पितर कहे हैं ॥ १९९ ॥

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः ।

तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त इतने पितरोंके गण मुख्य कहे हैं और तिन पितरोंकेभी पुत्र
पौत्र इस जगत्में अनन्त है अर्थात् मार्कण्डेय आदि पुराणोंमें अन्यभी पितर कहे हैं २०

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ ॥ २०१ ॥

अर्थ—ऋषियोंसे पितर उत्पन्न हुए और पितरोंसे देव मनुष्य ये उत्पन्न हुए और देवताओंसे अनुक्रमसे स्थावर जंगम सब प्रकारका जगत् उत्पन्न हुआ, इस-वास्ते पिता आदिके श्राद्धमें पूजित हुए सोमपा आदि पितर श्राद्धमें फल देने-वाले कहे हैं ॥ २०१ ॥

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।

वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

अर्थ—इन पितरोंकेवास्ते चांदीके पात्रोंकरके अथवा चांदीके पात्रसे संयुक्त अन्य पात्रोंकरके श्रद्धासे दिया हुआ पानीभी अक्षय गुना हो जाता है ॥ २०२ ॥

देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।

दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

अर्थ—द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंके देवों देशकार्यसे पितर कार्य विशेष कहा है क्योंकि देवकार्य पितर कार्यकी पहले पूर्ति करनेवाला सुना है २०३

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।

रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

अर्थ—तिन पितरोंकी रक्षाकेवास्ते पहले दैवकर्म अर्थात् रक्षाभूत विश्वेदेव संबंधी ब्राह्मणको निमंत्रित करै क्योंकि रक्षासे वर्जित श्राद्धको राक्षस नाश कर देते हैं ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।

पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

अर्थ—श्राद्धको दैवाद्यन्त करे अर्थात् विश्वेदेवा निमित्त पूर्वक पहले ब्राह्मणोंको निमंत्रित करै और अंतमें विश्वेदेवोंका विसर्जन पहलेही करै और जो इस प्रकार नहीं करता है अर्थात् पहले पितरोंहीका कर्म करता है वह अपने कुलोंसहित शीघ्रही नष्ट हो जाता है ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।

दक्षिणाप्रणवं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

अर्थ पवित्र और एकांत देशको गोवरसे लीपै दक्षिणकी तर्फ यतन करके सं-

पादन करे अर्थात् ऐसा मौका देखके लीपै जहां श्राद्धकर्ता दक्षिणकी तर्फ मुख करै ॥ २०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।

विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

अर्थ—अवकाशसहित चोक्ष अर्थात् स्वभावसेही पवित्र ऐसे वन आदि देशों में अथवा नदी आदिकोंके तीरपर तथा एकांत जगहमें दियेहुए दानकरके पितर सदा तुष्ट होते हैं ॥ २०७ ॥

आसनेषूपकृष्वेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक् ।

उपस्पृष्टोदकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

अर्थ—उस देशमें कुशासहित बिछेहुए सुंदर आसनोंपर अलग अलग आचमन आदिकरके शुद्धहुए ब्राह्मणोंको बैठावे ॥ २०८ ॥

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वञ्जुप्सितान् ।

गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—पूर्व निमंत्रित कियेहुए तिन अनिदित ब्राह्मणोंको आसनोंमें बैठाके कुंकुम गंध पुष्प आदि सुगंधित द्रव्योंसे देवपूर्वक पूजन करै अर्थात् पहले विश्वेदेवोंके स्थानके ब्राह्मणोंका पूजन करै ॥ २०९ ॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥

अर्थ—उन ब्राह्मणोंका अर्घ्योदकको पवित्रा तिलसहित कोलाके पीछे तिन्होंकी आज्ञा ले आगे कहेहुए होमको करै ॥ २१० ॥

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः ।

हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

अर्थ—पहले अग्नि सोम यम इन्होंके अर्थ यथाविधिसे घृतकरके होम करै इनको पर्युक्षणपूर्वक तृप्तकर पीछे यथाविधिसे पितरोंको तृप्त करै ॥ २११ ॥

अभ्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।

यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अर्थ—अग्निका अभाव होवे तो तहां इन तीन आहुतियोंको ब्राह्मणके हाथमें-

ही देवै क्यौंकि जो अग्नि है सोही ब्राह्मण है ऐसे वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंने कहा है ॥ २१२ ॥

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।

लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

अर्थ—क्रोधसे रहित सुंदर प्रसन्नमुखवाले विद्यासे वृद्ध मनुष्योंके उद्योगमें युक्त ऐसे ब्राह्मणोंको मनुआदिक श्राद्धको पवित्र करनेवाले देव कहते हैं ॥ २१३ ॥

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।

अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

अर्थ—अपसव्यसे अग्नौकरणादि होमकरके और अनुष्ठान क्रमकोकरके पीछे अपसव्य हस्त अर्थात् दहिने हाथसे पृथ्वीमें जल डालें ॥ २१४ ॥

त्रींस्तु तस्माद्विःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।

औदकेनैव विधिना निर्वपेदक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

अर्थ—इसवास्ते सावधान हो दक्षिणकी तर्फ मुखकर तिस होमसे शेष रहे द्रव्यसे और अन्नसे विधिपूर्वक कुशाओंपर तीन पिंड देवै ॥ २१५ ॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।

तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्जालेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

अर्थ—विधिपूर्वक सावधान होके तिन पिंडोंको देके पीछे तिन कुशाओंकी मूलपे हस्तको निर्लेप करै अर्थात् प्रपितामह आदि लेप भागियोंकेवास्ते हाथसे बाकी रहे अन्नको छोंडें ॥ २१६ ॥

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।

षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितृनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥

अर्थ—उत्तराभिमुख हो आचमन कर शनैशनै प्राणायामकरके वसंतायनमस्तुभ्यं इत्यादिक मंत्रोंकरके छह ऋतुओंके अर्थ नमस्कार करै और मंत्रको जाननेवाला पुरुष पितरोंके अर्थ नमस्कार करै ॥ २१७ ॥

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।

अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

अर्थ—पिंडदान संकल्पसे बाकी रहे जलको शनैशनै पिंडोंके समीपमें छोड देवै

पीछे एकाग्र चित्तकरके जिस प्रकारसे दिये हों उसी प्रकारसे तिन पिंडोंको उ-
ठाके सूंघकर विसर्जन करदेवै ॥ २१८ ॥

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः ।

तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

अर्थ—विधिके साथ यथाक्रमसे तिन पिंडोंमेसे थोडा थोडा भाग ले लेवे पीछे
विधिपूर्वक तिसी क्रमकरके अर्थात् जिस स्थानके पिंडका भाग हो उसी स्थानके
ब्राह्मणको भोजन करनेसे पहलेही खवावे ॥ २१९ ॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ।

विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

अर्थ—जिसका पिता जीवता हो उसको मरेहुए पितामह आदि तीनोंकेवास्ते
पिंड देने चाहिये अथवा तिस जीवतेहुए पिताको श्राद्धमें पिताके स्थानके ब्रा-
ह्मणकी जगह जिमा देवै ॥ २२० ॥

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ।

पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥

अर्थ—जिसका पिता मरगया हो और पितामह जीवता हो वह अपने पिताका
नाम लेके प्रपितामहको कीर्तन करै अर्थात् पिता प्रपिता मह इन्होंका श्राद्ध करै
और गोविंदराजका यह मत है कि पिताके अर्थ पिंड देके पितामहसेपर ले दो-
नोंके अर्थ पिंड देवै ॥ २२१ ॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ।

कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—अथवा उस श्राद्धमें पितामहको भोजन करवा देवै ऐसे मनुजीनें कहा
है अथवा तिस पितामहकी आज्ञासे आपही इच्छापूर्वक पितामहको जिमावे या
प्रपितामह आदि तीनोंका श्राद्ध करै ॥ २२२ ॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।

तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत् स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

अर्थ—तिन ब्राह्मणोंके हाथमें पवित्रासहित तिल जलको देके पिता आदिकोंके
नामके साथ स्वधाअस्तु ऐसे कहता हुआ तिस पूर्वोक्त पिंडका अल्प भागको
देवे ॥ २२३ ॥

पाणिभ्या तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।

विप्रान्तिके पितृन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

अर्थ—सिद्धहुए अन्नोके पात्रको अग्र्य अपने हाथोंमें लेके रसोईके स्थानसे ब्राह्मणोंके समीप लाके पितरोंका स्मरण करता हुआ शनैशनै स्थापित कर देवै ॥ २२४ ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।

तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

अर्थ—दोनों हाथोंसे मुक्त अर्थात् जो एकही हाथसे अन्नको लाके ब्राह्मणोंके परोसते हैं तिसको शीघ्रही दुष्टबुद्धिवाले असुर नाश करदेते हैं इसवास्ते एक हाथसे नहीं परोसै ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु ।

विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

अर्थ—चटनी दाल शाक आदि सुंदर व्यंजन दूध दही घृत मीठा इन्हेंको सावधान यतनकरके प्रथम पात्रसहित पृथ्वीमें रखवै ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।

हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

अर्थ—लड्डु आदि भक्ष्यपदार्थ अनेक प्रकारके खीर आदि भोज्यपदार्थ मूल फल सुंदर मांस सुगंधित पान अर्थात् पीनेके पदार्थ इन सबोंको पृथ्वीमेंही स्थापित करै ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।

परिवेषयेत् प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त सब अन्नको ब्राह्मणोंके समीप लाके प्रयत्नसे सावधान हो, यह मीठा है यह खट्टा है ऐसे माधुर्यादि गुणोंको कथन करता हुआ परोसै ॥ २२८ ॥

नासुमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।

न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—श्राद्धके भोजनसमय रोना क्रोधकरना झूठा वचन इन्हेंको कदाचित्भी न कहै और पैरसे अन्नको नहीं छूवै और अन्नको उठाउठाके पात्रमें नहीं पटकै ॥ २२९ ॥

असुं गर्मयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।

॥ पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

अर्थ—तिस भोजनके समय आंसूपड जावें तो वह अन्न प्रेतोंको प्राप्त होता है और कोप करनेसे वह अन्न शत्रुओंको प्राप्त होता है और झूठ बोलनेसे वह अन्न कुत्तोंको प्राप्त होता है अन्नके पैर लगादेवे तो तिसको राक्षस खाते हैं और अन्नको पात्रपात्रमें पटकनेसे वह अन्न पापी पुरुषोंको मिलता है इसवास्ते ऐसा न करे ॥ २३० ॥

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्व्यादमत्सरः ।

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

अर्थ—जो जो अन्न तथा व्यंजन आदि ब्राह्मणोंको अच्छा लगे वही अन्न मत्सर अर्थात् कुटिलतासे रहित होके परोसै और ब्रह्मपरमात्मासंबंधी कथा करै यह पितरोंको वांछित है ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खलानि च ॥ २३२ ॥

अर्थ—स्वाध्याय अर्थात् वेद मनु आदि धर्मशास्त्र आख्यान महाभारत आदि इतिहास ब्रह्मपुराण आदि पुराण, श्रीसूक्त शिवसंकल्प इत्यादिकोंको श्राद्धमें ब्राह्मणोंको सुनावे ॥ २३२ ॥

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।

अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ—आप प्रसन्नहोके प्रियवचन आदिकोंकरके ब्राह्मणोंको प्रसन्न करै और भोजनको शनैःशनैः परोसै और यह मोदक स्वादु है खीर मीठी है इत्यादिक गुणोंकरके फिर ब्राह्मणोंको प्रेरणा करै ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।

कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—व्रतमें स्थित अर्थात् ब्रह्मचर्यमेंभी स्थित हुए कन्याकेपुत्रको यतनकरके श्राद्धमें भोजन करवावै और कंवल आदि आसन विछावे और श्राद्धकी भूमिमें तिलोंको बिथरा देवै ॥ २३४ ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।

त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

अर्थ—नेपाल देशका कंवल दोहिता तिल ये तीनों श्राद्धमें पवित्र है और शौच शीलता रखनी क्रोध न करना शीघ्रता न करनी ये तीनों सराहनेके योग्य है ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।

न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

अर्थ—संपूर्ण अन्न जो गरम जीमनेके लायक है तिसको गरम गरमको वे ब्राह्मण मौन धारण कियेहुए भोजन करै और यजमानसे पूछेहुए वे ब्राह्मण भोजनके गुणोंको वर्णन नहीं करैं ॥ २३६ ॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।

पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

अर्थ—जतवक अन्न गरम रहै और जुवान बंद कियेहुए ब्राह्मणभोजन करै और जबतक भोजनके गुणोंको वर्णन नहीं करै तबतक पितर भोजन करते हैं ३७

यद्वेष्टितशिरा भुंक्ते यद्भुंक्ते दक्षिणामुखः ।

सोपानत्कश्च यद्भुंक्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥

अर्थ—जो वस्त्रादिकसे शिरको बांधेहुए भोजन करते हैं और दक्षिणकी तर्फ मुखकरके जो भक्षण करते हैं और जूतीजोडा पहिनेहुए जो भोजन करते हैं तिस सब अन्नको राक्षस भोजन करते हैं ॥ २३८ ॥

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।

रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

अर्थ—श्राद्धमें भोजन करतेहुए ब्राह्मणोंको चांडाल सुव मुरगा कुत्ता रजस्वला स्त्री हिजडा ये नहीं देखै ॥ २३९ ॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।

दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

अर्थ—अग्निहोत्र आदि होम गौ सुवर्ण आदि दान ब्राह्मणभोजन दैवकर्म पितरकर्म इन कर्मोंमें जो इन पूर्वोक्त प्राणियोंकरके देखा जाता है वह सब निष्फल है अर्थात् उसका फल नहीं ॥ २४० ॥

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।

श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

अर्थ—श्राद्धके अन्नादिकके संघर्षसे सुब फलको नष्टकरदेता है और मुरगा पक्षपात अर्थात् पांखोंके फटकारेसे और कुत्ता अन्नपर दृष्टि डालनेसे और शूद्र अन्नका स्पर्श करनेसे श्राद्धको निष्फल करदेता है ॥ २४१ ॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।

हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

अर्थ—जो श्राद्ध करनेवालाका दास आदिक लंगडा हो अथवा काना हो-वा हीनअंगवाला तथा अधिक अंगवाला हों उसकोभी श्राद्धसे बाहिर निकाल दे अर्थात् भोजनको नहीं देखे ॥ २४२ ॥

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् ।

ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

अर्थ—श्राद्धके भोजनके समय आयेहुए अतिथिरूप भिक्षुक ब्राह्मणको अथ-वा भोजन करनेकेवास्ते आयेहुए अन्य ब्राह्मणको श्राद्धके पात्र ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेके शक्तिके अनुसार भोजन करवावे ॥ २४३ ॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।

समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥

अर्थ—सब प्रकारके अन्नादिकोंको व्यंजनादिकों सहित एक जगह मिला पा-नीसे छिड़कके भोजन कियेहुए ब्राह्मणोंके आगे कुशाके ऊपर पृथ्वीमें अलग अलग डाले ॥ २४४ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।

उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

अर्थ—कुशाओंके ऊपर जो विकिरभोजन दिया जाता है यह उच्छिष्ट अन्न विनासंस्कार कियेहुए बालकोंका और कुलकी स्त्रियोंको विनादोष त्यागनेवा-लोंका भाग होता है ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्वस्याशठस्य च ।

दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

अर्थ—जो श्राद्धकी भूमिमें उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह कुटिल न हो शठ न हो ऐसे दासोंका भाग है ऐसे मनुजीने कहा है ॥ २४६ ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।

अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

अर्थ—जो द्विजाति थोड़ेही दिनोंका मराहुआ हो सपिंडीश्राद्ध नहीं हुआ हो तिसके श्राद्धमें विश्वेदेवोंका ब्राह्मणसे रहित एकही ब्राह्मणको जिमावे और एक पिंड देवै अर्थात् एकोद्दिष्टश्राद्ध करे ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।

अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

अर्थ—जिसका एकोद्दिष्टश्राद्ध करना कहा है उसकी सपिंडीकरण क्रिया हो चुके तब पुत्रोंको इसी पूर्वोक्त पार्वणश्राद्धविधिसे पिंडदान करना चाहिये ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।

स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

अर्थ—जो श्राद्धमें भोजनकर उच्छिष्ट भोजनको शूद्रकेवास्ते देता है वह मूढ-जन कालसूत्र नामवाले नरकमें अधोमुख होके परता है ॥ २४९ ॥

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहुर्योऽधिगच्छति ।

तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

अर्थ—जो श्राद्धमें भोजनकरके उसीदिन स्त्रीकेसंग भोग करता है श्राद्धकर्ता-के पितर तिस स्त्रीके विष्टामें महीनातक वास करते हैं यह निंदाका वचन है इस-वास्ते ऐसा न करे ॥ २५० ॥

पृष्ठा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।

आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

अर्थ—भोजन कियेहुए ब्राह्मणोंको तृप्त हुए जानके स्वदित ऐसा कहे अर्थात् भोजन होचुका ऐसे पूछके आचमन करचुके तब भो ऐसा संबोधकरके कहै कि हे महाराज आप आराम कीजिये ॥ २५१ ॥

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।

स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

अर्थ—तिससे अनंतर ब्राह्मण श्राद्धकर्ताके प्रति स्वधाअस्तु ऐसा कहें क्योंकि संपूर्ण पितरकर्मोंमें स्वधाशब्द परम आशीर्वाद है ॥ २५२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।

यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

अर्थ—पीछे स्वधाशब्द कहनेके अनंतर जो अन्न बाकी रहे तिसको तिनब्राह्मणोंको निवेदन करे यह कहै कि यह अन्नशेष रहा है फिर उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा पाके जैसा वे ब्राह्मण कहै वैसेही करै ॥ २५३ ॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।

संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

अर्थ—पितरकर्ममें स्वदित अर्थात् भोजन हो चुका ऐसा वचन कहै और गो-
ष्ठीश्राद्धमें सुश्रुत ऐसा कहे और वृद्धिश्राद्धमें संपन्न ऐसा कहै दैवकर्ममें रुचित
ऐसा वचन कहै ॥ २५४ ॥

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।

सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्राग्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥

अर्थ—अपराह्णकाल कुशा गोवर आदिसे पृथ्वी शुद्ध करना तिल उदारता मु-
ष्टि अर्थात् अन्नादिकका संस्कारविशेष पहले कहेहुए श्राद्धके योग्य ब्राह्मण ये
सब श्राद्धकी संपद कही है ॥ २५५ ॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।

पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥

अर्थ—कुशा मंत्र पूर्वाह्णकाल हविष्य अर्थात् मुनियोंके अन्न पूर्वोक्त गोवर
आदिक पवित्रवस्तु ये सब हव्य अर्थात् देवकर्मकी संपत्ति है ॥ २५६ ॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।

अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

अर्थ—सामक पसही आदि मुनियोंके अन्न सोमलता दुर्गंधसे रहित मांस सेधान-
मक ये सब स्वभावसेही हवि कहाते हैं ॥ २५७ ॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तान्स्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।

दक्षिणां दिशमाकांक्षन्याचेतेमान्वरान्पितृन् ॥ २५८ ॥

अर्थ—तिन ब्राह्मणोंको विसर्जनकर एकाग्रचित्त हो मौन धारणकर पवित्र हो दक्षिणकी तर्फ मुखकर आकांक्षा करताहुआ पितरोंसे इन वरोंको मांगे २५८

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च ।

श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुद्देयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥

अर्थ—प्रार्थना हमारे कुलमे दातार पुरुष बढो अध्यापन अध्ययन आदि करके निरंतर रहो हमारी श्रद्धा चलायमान नहीं हो और दान तथा धनादिक हमारे बहुत हो ॥ २५९ ॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।

गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

अर्थ—इसप्रकारसे पिंडदानकरके और प्रार्थनाकरके तिससे अनंतर तिन पिंडोंको गौ ब्राह्मण बकरी इन्होंको खिला देवै अथवा अग्निमें तथा जलमें डालदेवै २६०

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।

वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥

अर्थ—कोईक आचार्य ब्राह्मण भोजनके पीछे पिंडदान करते है और कईक पक्षियोंको खिला देते है और कईक अग्निमें तथा जलमें डालदेते है ॥ २६१ ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।

मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

अर्थ—धर्मपत्नी अर्थात् सजातीय विवाहिता स्त्री पतिव्रतधर्ममें रहनेवाली और पितरोंके पूजनमें तत्पर सम्यक् प्रकारसे पुत्रकी इच्छा करनेवाली जो है वह मध्यम-पिंड अर्थात् पितामहके पिंडको भक्षण करै ॥ २६२ ॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।

धनवन्तं प्रजावन्तं सार्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

अर्थ—तिस पिंडको भक्षण करनेसे दीर्घ आयुवाला यशको धारण करनेवाला बुद्धिसे युक्त धनवान् प्रजावान् सत्त्वगुणसे युक्त धर्मकरनेवाला ऐसे पुत्रको जन्ती है ॥ २६३ ॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।

ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥

अर्थ—हाथ धोकर आचमनकर पीछे नातोंको जातिवालोंको भोजन करवावै और नातोंको जातिवालोंका सत्कार करके फिर भाइयोंको भोजन करवावै ॥ २६४ ॥

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।

ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥

अर्थ—जबतक ब्राह्मणोंका विसर्जन हो तबतक वह ब्राह्मणोंका उच्छिष्ट अन्न रहे पीछे बलि वैश्वदेव आदि कर्म करै यह धर्मकी व्यवस्था है ॥ २६५ ॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।

पितृभ्यो विधिवदत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

अर्थ—पितरोंके अर्थ विधिपूर्वक दियाहुआ जो हवि बहुतकालतक तृप्तिकेवास्ते रहता है और जो अनंत गुणा होता है तिस सबको कहेंगे ॥ २६६ ॥

तिलैव्रींहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।

दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—तिल धान जव उडद मूल फल इन्होंकरके विधिसे देनेसे मनुष्योंके पितर एक महीनातक तृप्त रहते हैं ॥ २६७ ॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।

औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥

अर्थ—मछलीके मांससे दो महीनेतक पितर तृप्त रहते हैं हिरनके मांससे तीन महीनेतक मेंढाके मांससे चार महीनेतक और द्विजातियोंको भक्षणकरनेके योग्य पक्षियोंके मांससे पांचमहीनेतक पितर तृप्त रहते हैं ॥ २६८ ॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।

अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

अर्थ—बकराके मांससे छह महीनेतक पार्षत अर्थात् बिंदुओंवाले मृगके मांससे सात महीनेतक और सुंदर नेत्रोंवाला एणसंज्ञक मृगके मांससे आठ महीनेतक लाल हरिणके मांससे नौ महीनेतक पितरोंकी तृप्ति रहती है ॥ २६९ ॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।

शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

अर्थ—वराह सुवरके मांससे दश महीनोतक और शशाखरगोसकछुवा इन्होंके मांससे ग्यारह महीनोंतक पितरोंकी तृप्ति रहती है ॥ २७० ॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।

वार्षीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

अर्थ—गौके दूधसे अथवा गौके दूधकी खीरकरके वर्षादिनतक तृप्त रहते हैं और वार्षीणसके मांससे बारहवर्षतक पितरोंकी तृप्ति रहती जिस जानवरके दो-नोंका न पानी पीतेहुए जलमें टिके और सपेदवर्णवाला तथा वृद्ध हो वह वार्षीणस कहा है ॥ २७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।

आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

अर्थ—कालशाक महाशल्क मछियोंके भेद हैं गेंडा लाल बकरी इन्होंके मांस मधु मुनियोंके अन्न इन्होंको ब्राह्मणोंके भोजनकेवास्ते देवे तो पितरोंकी अनंत-गुनी तृप्ति होती है ॥ २७२ ॥

यत्किञ्चिन्मधुनामिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।

तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

अर्थ—वर्षाकालमें मघानक्षत्रसे युक्त त्रयोदशीके दिन जो कुछ अन्नादि मधु मिष्टान्न आदिसे युक्त पितरोंकेवास्ते देता है वह अक्षय गुना प्राप्त होता है ॥ २७३ ॥

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।

पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

अर्थ—ऐसा हमारे कुलमें कोई होवे कि मघानक्षत्रसे युक्त त्रयोदशीको हमारे-वास्ते दान देता है और खीर मधु घृत इन्होंकरके प्राक्छाय कुंजरयोगमें ब्राह्मणोंको जिमावे ॥ २७४ ॥

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।

तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

अर्थ—जो पुरुष श्रद्धासेयुक्त हो सम्यक् प्रकारसे विधिपूर्वक जो जो दान देता है वह सब पितरोंको परलोकमें अनंतगुणा अक्षयगुना प्राप्त होता है ॥ २७५ ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।

श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न यथेतराः ॥ २७६ ॥

अर्थ—कृष्णपक्षमें दशमीसें आदि ले चतुर्दशीके विना पांच तिथि श्राद्धमें जैसी श्रेष्ठ कही है ऐसी अन्य प्रतिपदा आदि तिथि श्रेष्ठ नहीं ॥ २७६ ॥

युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।

अयुक्षु तु पितृन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

अर्थ—द्वितीया चतुर्थी आदि युग्म तिथि और भरणी रोहिणी आदि युग्म नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेवाला तथा प्रतिपदा आदि अयुग्म तिथि अश्विनी आदि अयुग्म नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेवाला पुरुष संपूर्ण कामनाओंको प्राप्त होता है और बहुत संतानको प्राप्त होता है ॥ २७७ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।

तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्नादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

अर्थ—जैसे श्राद्धकर्ममें शुक्लपक्षसे कृष्णपक्ष अधिक फलदायक है तैसेही पूर्वाह्णसे अपराह्ण अर्थात् दुपहर पीछेका समय अधिक फलदायक है ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।

पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्भर्माणिना ॥ २७९ ॥

अर्थ—दहिना हाथपर यज्ञोपवीतको स्थितकर कुशा धारणकर आलस्यरहित हो पितृतीर्थकरके शास्त्रके अनुसार संपूर्ण पितरकर्म जीवनपर्यंत करना चाहिये ॥ २७९ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।

संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

अर्थ—रात्रीमें श्राद्ध नहीं करै क्योंकि यह राक्षसी क्रियाकही है और प्रातः-काल तथा सायंकाल इन दोनों संधियोंमें और छह घड़ी दिन चढ़तेक श्राद्ध नहीं करै ॥ २८० ॥

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।

हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

अर्थ—जो यदि महीनाके महीनै नहीं बनसके तो इस विधिसे वर्षादिनमें हेमन्त ग्रीष्म वर्षा इन तीन ऋतुओंमें तीन श्राद्ध करै और पंचयज्ञके अंतर्गत पितृकर्मको तो नित्य प्रति करता है ॥ २८१ ॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।

न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

अर्थ—पितृश्राद्धमें जो होम करना कहा है वह लौकिकअग्निमें नहीं करना और आहितअग्निवाले द्विजको अमावास्याकेविना दशमी आदि अन्य तिथियोंमें नहीं करना ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।

तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

अर्थ—जो द्विज स्नानकरके जलसें पितरोंका तर्पण करता है तिसीकरके संपूर्ण पितृयज्ञ करनेके फलको वह द्विज प्राप्त होता है ॥ २८३ ॥

वसून्वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।

प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

अर्थ—मनुष्योंके पिताओंको वसुरूप कहते हैं और पितामहोंको रुद्र कहा है प्रपितामहोंको आदित्यरूप कहते हैं ऐसे यह सनातनी श्रुति है ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।

विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥

अर्थ—नित्य विघस अन्नको भक्षण करनेवाला रहै अथवा नित्य अमृतको भक्षण करनेवाला रहै ब्राह्मणोंके भोजनसे बाकी रहा अन्न विघस कहाता है यज्ञमें वंचाहुआ अन्न अमृत कहाता है ॥ २८५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।

द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

अर्थ—भृगुजीऋषियोंसे कहते हैं कि तुमारेवास्ते यह संपूर्ण पंचयज्ञमें होनेवाला विधान कहदिया है अब द्विजातियोंकी मुख्य वृत्तियोंके विधानको सुनो ॥ २८६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृती-

योऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितायां मन्वर्थदीपिका-
यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषो भागं
कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा
पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

अर्थ—आयुके चौथे भागतक अर्थात् सौ वर्षकी आयु है तिसका चौथा हि-
स्सातक गुरुकुलमें अध्ययनकेवास्ते ब्रह्मचर्यसहित वास करै फिर आयुके दूसरे
भागमें विवाहकराके गृहस्थाश्रममें वास करै ॥ १ ॥ जिस वृत्तिमें प्राणियोंको
पीडा नहीं हो अथवा अल्प पीडा हो तिस वृत्तिको ब्राह्मण धारण करै यह
नियम विपत्तिकालकेविना है विपत्तिकालमें नहीं ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः । अक्लेशेन शरीरस्य
कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन
वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते और कुटुंब आदिके पोषणकेवास्ते निंदासे रहित
अपने कर्मोंकरके शरीरमें क्लेश करेविना धनका संचय करै ॥ ३ ॥ ब्राह्मण
विपत्तिकालकेविना ऋतअमृतकरके जीवन करै अथवा मृत अमृतकरके जीवन
करै परंतु सत्य अनृतकरके कुत्तेकी वृत्तिकरके कभीभी आजीवन न करे इन
सत्य आदिपदोंके अर्थ अगले श्लोकमें कहे हैं ॥ ४ ॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्षं
प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥ सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि
जीव्यते । सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—शिलोंछ वृत्तिको ऋत कहते हैं विनामांगीहुई भिक्षाको अमृत कहते हैं
और मांगीहुई भिक्षाको मृत कहते हैं खेती करनेको प्रमृत कहते हैं यहां भिक्षा-
पदसे कच्चा अन्न जानना ॥ ५ ॥ सत्यानृत वाणिज्यकों कहते हैं तिस वाणिज्य-
वृत्ति अर्थात् वणियोंके रोजगारसेभी आजीविकाकर लेवै परंतु सेवा करनेको
कुत्ताकी वृत्ति कहते हैं इसवास्ते तिसको ब्राह्मण त्याग देवै ॥ ६ ॥

कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा । ज्यहैहिको वापि
भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजाना

गृहमेधिनाम् । ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोठारमें धान्यका संचय कुटुंबके तीन वर्षतकके निर्वाह मात्र करनेवाला वा कुम्भीधान्यक अर्थात् वर्ष दिनतकका निर्वाह मात्र धान्यआदिक रक्खै अथवा तीन दिनतकके निर्वाह मात्र धान्यको रक्खै अथवा वर्तमान एकही दिनकेवास्ते रक्खे ॥ ७ ॥ इन कुशलधान्यक आदि चारों गृहस्थी द्विजोंमें एकसे एक उत्तरोत्तर क्रमसे बड़ा कहा है क्योंकि जो वृत्तिसंकोच धर्मकरके स्वर्गादिलोकोंको जीतनेवाला कहा है ॥ ८ ॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते । द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥ वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः । इष्टीः पार्वयनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

अर्थ—इन चारोंमें कोईक विप्र शिलोञ्छ वृत्ति, अयाचित भिक्षा तथा याचित भिक्षा कृषी वणिज व्याज इन छह कर्मोंकरके वर्तता है कोई याजन अध्यापन प्रतिग्रह इनकरके कोई याजन अध्यापन इन दो कर्मोंकरके कोई पढ़ानेकरके एकही कर्मकरके आजीविका करता है ॥ ९ ॥ शिलोञ्छ वृत्तिकरके आजीविका करता हुआ विप्र अग्निहोत्र अनुष्ठानमें तत्पर रहै और पूर्णिमा अमावास्या अयन इत्यादि पर्वोंमें केवल इष्टि अर्थात् यज्ञके आचरणपूर्वक पूजन करै ॥ १० ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन । अजिह्वामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥ संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् । संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

अर्थ—जीविकाकेवास्ते लोकवृत्त अर्थात् नाटक आदि न करे ब्राह्मण असत्य बोलनेके पाप आदिकोंसे रहित दंभ, व्याज लेना आदिकोंसे रहित शुद्ध आजीविकाको करै ॥ ११ ॥ सुखकी इच्छा करनेवाला पुरुष संतोषसे स्थित रहै क्योंकि संतोष मूल सुख है और तृष्णा करनेसे दुःख होता है जितने द्रव्यादिकोंमें कुटुंब भृत्य पंचयज्ञ इत्यादिकोंका निर्वाह रहै उससे ज्यादा वांछा नहीं करे उसको संतोष कहते हैं ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः । स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥ वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमांगतिम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इन कहीहुई वृत्तियोंमेंसे कोइसी वृत्तिसे आजीविका करताहुआ द्विज स्वर्ग आयु यश इनके हितकेवास्ते आगे कहेहुए इन व्रतोंको धारण करै ॥ १३ ॥ आलस्यसे रहित होके नित्यप्रति वेदोक्त कर्मोंको करै तिस वेदोक्तकर्मको शक्तिके अनुसार करताहुआ पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु ना-
र्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥ इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत का-
मतः । अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—गानेवजानेसे द्रव्यका संचय करे और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंकरके धनका संचय करे और विद्यमान द्रव्य हो अथवा नहीं हो परंतु पतित पुरुषोंसे द्रव्यका संचय नहीं करै ॥ १५ ॥ इंद्रियोंके अर्थ रूप रस गंध आदिकोंमें इच्छापूर्वक आसक्त नहीं होवे और इन विषयोंमें अत्यंत आसक्ति मनसेभी छुटा देवै ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथातथाध्यापयं-
स्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुत-
स्याभिजनस्य च । वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

अर्थ—स्वाध्याय अर्थात् पठन पाठनके विरोधी सब प्रयोजनोंको त्याग देवै जिस किसी प्रकारसे पठन पाठन कराता रहै क्योंकि अध्यापन कराना यह इस स्नातक द्विजको कृतकृत्यता है ॥ १७ ॥ अवस्था कर्म द्रव्य श्रुत अर्थात् शास्त्रका सुनना इन्होंके समान वेष वाणी बुद्धि इन्होंको रखताहुआ द्विज इस संसारमें विचरै जैसे युवा अवस्थामें माला उत्तम वस्त्रादिकोंको धारण रखै तैसेही करै ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च । नित्यं शास्त्राण्य-
वेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं
समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

अर्थ—बुद्धिको बढ़ानेवाले और धान्यको बढ़ानेवाले तथा हित ऐसे मीमांसा व्याकरण आदि तथा ज्योतिष आदिशास्त्र और वेदके अर्थोंको जाननेवाले निगम ग्रंथोंको नित्य विचारता रहै ॥ १९ ॥ पुरुष जैसे जैसे शास्त्रका अभ्यास करता है तैसे तैसे विशेष करके शास्त्रोंके विषयको ज्ञानको विशेष करके जानता है और रुचि बढ़ती है ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाश-
क्ति न हापयेत् ॥२१॥ एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुहति ॥ २२॥

अर्थ—ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ नृयज्ञ पितृयज्ञ हन्होंको शक्तिके अनुसार नहीं
त्यागै अर्थात् पंचयज्ञ कर्मको नहीं छोडै ॥ २१ ॥ यज्ञशास्त्रको जाननेवाले अने-
क गृहस्थी इन पांच महायज्ञोंको तत्त्वज्ञान अभ्याससे बाह्यचेष्टासे रहित हुए
निरंतर पंचज्ञानेन्द्रियोंमेंही इन पांच यज्ञोंको आरोपित कर देते हैं ॥ २२ ॥

वाच्येके जुहति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च
पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥ ज्ञानेनैवापरे विप्रा यज-
न्त्येतैर्मखैः सदा । ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥२४॥

अर्थ—अक्षय फलवाले यज्ञके फलको वाणीमें और प्राणमें जानतेहुए अनेक
विद्वान् वाणीमें प्राणोंको संयमन कर देते हैं और प्राणोंमें वाणीको होम देते हैं २३
ज्ञानरूपी नेत्रसे ज्ञान मूलवाली इन यज्ञोंकी क्रियाओंको देखते हुए ब्रह्मनिष्ठावा-
ले विप्र संपूर्ण कालमें ब्रह्मज्ञान करकेही इन यज्ञोंको करते रहै ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा । दर्शेन चार्धमासान्ते
पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥ सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वंन्ते
द्विजोऽध्वरैः । पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥

अर्थ—उदित होमपक्षमें दिनकी आदिमें रात्रिकी आदिमें अनुदित होम पक्षमें
दिनके अंतमें वा रात्रिके अंतमें अथवा अनुदित होम पक्षमें रात्रीके आदि
अंतमें और उदित पक्षमें दिनके आदि अंतमें अग्निहोत्र कर्म करै और कृष्णपक्षके
अंतमें अमावास्याके कर्म करके शुक्लपक्षके अंतमें पौर्णमासाख्य कर्म करके यजन
करै ॥ २५ ॥ पुरानें धान्यके अंतमें और नवीन धान्यकी उत्पत्ति समयमें नवी-
न धान्यसे आग्रयण इष्टीको करै और दक्षिणायन तथा उत्तरायणकी आदिमें
पशुवध याग करके पूजन करै और वर्षके अंतमें सोमयाग अर्थात् सोमलताके र-
ससे साध्य अग्निष्टोमादिक यज्ञोंको करै ॥ २६ ॥

नानिष्ठा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः । नवान्नमद्यान्मांसं
वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥ नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुह-
व्येन चाग्नयः । प्राणानेवाचुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—दीर्घ आयुकी इच्छा करनेवाला अग्निहोत्री द्विज नवीन अन्नसे आग्रयण इष्टीके कियेविना नवीन अन्न भक्षण न करे और पशुयाग कियेविना मांस भक्षण न करे ॥ २७ ॥ नवीन अन्न करके और पशुयज्ञ करके नहीं पूजे हुए अग्नि नवीन अन्न और मांसकी इच्छा करनेवाले द्विजके प्राणोंको खानेकी इच्छा करते हैं २८

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा । नास्य कश्चिद्वसेद्देहे
शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडाल-
व्रतिकाञ्छठान् । हेतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ३० ॥

अर्थ—शक्तिके अनुसार आसन भोजन शय्या इन्होंकरके अथवा जल मूल फल इन्होंकरके विना पूजाहुआ कोईभी अतिथि अभ्यागत इस गृहस्थीके घरोंमें वास नहीं करै ॥ २९ ॥ पाषण्डी वेदवाह्य वृत्तिमें स्थित, वैडालवृत्ति और वक-वृत्तिमें स्थितहुए जन शठ अर्थात् वेदविरोधी तर्कव्यवहारी ऐसे इन पुरुषोंका बाणीमात्रसेभी सत्कार नहीं करै वैडाल वृत्ति वकवृत्ति इनका लक्षण आगे कहा जावेगा ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः । पूजयेद्व्यकव्येन
विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं
गृहमेधिना । संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—वेदविद्याको समाप्त करनेवाले वा व्रतको समाप्त करनेवाले श्रोत्रियोंको गृहस्थी पुरुष हव्यकव्योंकरके पूजे और इनसे विपरीतोंको वर्ज देवै ॥ ३१ ॥ गृहस्थी पुरुषको शक्तिके अनुसार ब्रह्मचारी सन्यासी इनकेवास्ते भिक्षा देनी चाहिये और जिसमें अपने कुटुंबको तकलीफ नहो ऐसे अनुपरोधसे वृक्षादिक प्राणियोंपर्यंत जल आदिकोंका विभाग देना चाहिये ॥ ३२ ॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा । याज्यान्तेवासि-
नोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥ न सीदेत्स्नातको विप्रः
क्षुधा शक्तः कथंचन । न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

अर्थ—क्षुधासे पीड़ितहुआ स्नातकद्विज राजासे धनकी याचना करै अथवा शिष्यसे मांगै अन्यसे नहीं यह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ३३ ॥ उक्तराजा आदिकोंसे प्रतिग्रहका लाभ होनेपर स्नातकद्विज कभीभी क्षुधासे आसक्त नहीं रहै और धन होनेपर जीर्ण मलिन वस्त्रोंको नहीं पहने ॥ ३४ ॥

कृतकेशनखश्मश्रुदान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः । स्वाध्याये चैव युक्तः
स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥ वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च
कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

अर्थ—नख केश डाढी इन्होंको कटायें रक्खै अर्थात् हजामत करायें रहै दान्त
स्वभाववाला रहै सफेद वस्त्रोंको धारण रक्खै पवित्र रहै स्वाध्यायमें युक्त रहै
ओर वेदाभ्यास आदिकोसे नित्य आत्माके हितमें तत्पर रहै ॥ ३५ ॥ वांसकी
यष्टिका जलसहित कमंडलु यज्ञोपवीत कुशाकी मुष्टि सुंदर सोनेके कुंडल इन्होंको
धारण रक्खै ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वा-
रिस्थं न मध्येनभसो गतम् ॥ ३७ ॥ न लंघयेद्वत्सतन्वीं न प्रधावेच्च
वर्षति । न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

अर्थ—उदय होतेहुए तथा अस्त होतेहुए सूर्यको कभीभी नहीं देखै और ग्रहण
होताहुआ सूर्यको न देखै जलमें सूर्यको नहीं देखै मध्यान्हमें नहीं देखै ॥ ३७ ॥
बछराबंध रहा हो उस रज्जुको नहीं उलंघै मेघवर्षतेहुएमें भाजै नहीं अपने देहके
प्रतिविंबको जलमें नहीं देखै यह शास्त्रका निश्चय है ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत
प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥ नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तव
दर्शने । समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

अर्थ—सन्मुख उद्धृत मृत्तिका गौ देवताकी मूर्ति अथवा मंदिर ब्राह्मण घृत
मधु चौराहा प्रसिद्ध वृक्ष इन्होंको चलतेहुए दहिना हाथकी तर्फ करै ॥ ३९ ॥
रजस्वला होनेमें निषिद्ध तीन दिनोंमें कामदेवसे पीडित पुरुषभी स्त्रीसंग नहीं
करै और तिसके संग एक बिछौनेपरभी न सोवे ॥ ४० ॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षु-
रायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभि-
प्लुताम् । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

अर्थ—रजस्वला स्त्रीके संग मैथुन करतेहुए पुरुषके बुद्धि तेज बल नेत्र आयु

इन्होंका नाश हो जाता है ॥ ४१ ॥ तिस रजस्वला स्त्रीको त्यागनेवाले पुरुषके बुद्धि तेज बल चक्षु आयु ये बढ़ती है ॥ ४२ ॥

नाश्रीयाद्धार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्रतीम् । क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् । न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

अर्थ—अपनी स्त्रीकेसंग भोजन नहीं करै और इसको भोजन करतीहुईको नहीं देखै तथा छींक लेतीहुई जंभाई लेती हुईएकांतमें सुखसे बैठीहुईको न देखै ॥ ४३ ॥ तेजकी इच्छा करनेवाला द्विजोत्तम नेत्रोंको आंजतीहुई वा उवटना आदि मलतीहुई वा नंगी वा बालक जनती हुई अपनी स्त्रीको नहीं देखै ॥ ४४ ॥

नान्नमद्यादेकवासा न नमः स्नानमाचरेत् । न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥ न फलाकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते । न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

अर्थ—एक वस्त्र पहिनके भोजन न करै नंगा होके स्नान नहीं करै मार्गमें राखमें गौओंके स्थानमें मूतै नहीं ॥ ४५ ॥ खेतमें जलमें और चितामें पर्वतमें पुराना फूटाहुआ देवताके मंदिरमें कीडी आदिकोंकी वांवीमें कभीभी विष्टा मूत्रका त्याग न करै ॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः । न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः । न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिनमें जीव रहते हैं ऐसे विलोंमें, चलता हुआ खड़ा होके नदीके किनारेपै पर्वतके शिखरमें कभीभी विष्टा पिशाब न करै ॥ ४७ ॥ वायु अग्नि ब्राह्मण सूर्य जल इन्होंको देखताहुआ कभीभी विष्टा मूत्रको नहीं त्यागै ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना । नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदञ्मुखः । दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥

अर्थ—काष्ठ खंघर पत्ते तृण इसादिकोंकरके पृथ्वीको आच्छादितकर शरीरपे कपड़ा ओढ़ मौन धारण कर विष्टा मूत्रका परित्याग करै ॥ ४९ ॥ दिनमें और

संध्यामें उत्तरकी तर्फ मुखकरके और रात्रीमें दक्षिणकी तर्फ मुखकरके विष्टा मूत्रका त्याग करै ॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः । यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥ प्रत्यग्निं प्रतिस्वर्थं च प्रतिसोमोदकद्विजान् । प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

अर्थ—छायामें अंधकारमें दिन हो तथा रात्री हो तब सुखपूर्वक किसी दिशामें मुखकरके विष्टा मूत्रको त्यागै और प्राणोंकी बाधाके भयमें किसी तर्फ मुखकर दिशा फिरै वा मूतै ॥ ५१ ॥ अग्नि सूर्य चंद्रमा जल ब्राह्मण गौ वायु इन्होंकै सन्मुख पिशाच करता हुआ वा दिशा फिरता हुआ द्विजकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ५२ ॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नशां नेक्षेत च स्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलंघयेत् । न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अर्थ—अग्निको मुखसे नहीं धमांवे फूक नहीं मारै नंगी स्त्रीको नहीं देखै अग्निमें मल मूत्र नहीं डालै पैरोंको अग्निसे नहीं तपावै ॥ ५३ ॥ खाट आदिकोंके नीचे आगकी सिधड़ी आदिको न रक्खै और आगको उल्लंघै नहीं सोतेहुए पैरोंकी तर्फ अग्निको न रक्खै और प्राणोंको पीडाकारक कर्मको नहीं करै ॥ ५४ ॥

नाश्रीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् । न चैव प्रलिखेद्धूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा धीवनं वा समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

अर्थ—संध्यासमयमें, भोजन वा दूसरे ग्राममें गमन नहीं करै वा सोवै नहीं और रेखाआदिसे पृथ्वीको खोदै नहीं धारण की हुई मालाको आपही नहीं निकालै ॥ ५५ ॥ जलमें मूत्र मल थूक इनको न डालै और मूत्र आदि लिपेहुए वस्त्रको वा रक्तको अनेक प्रकारके विष इन्होंकोभी नहीं डालै ॥ ५६ ॥

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे शयानं न प्रबोधयेत् । नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥ अश्वगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अर्थ—अकेला सूना मकानमें न सोवै आपसे बडाको सोता हुआको नहीं जगावे रजस्वला स्त्रीसे नहीं बोलै यज्ञशालामें वस्त्र ओढेंविना नहीं जावे ॥ ५७ ॥ अग्निगृहमें, गौओंके थानमें ब्राह्मणोंके समीप वेदके पढनेमें भोजनमें दाहिने हाथको बाहिर निकालै ॥ ५८ ॥

नावारयेद्ग्रां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् । न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिदर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥ नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् । नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

अर्थ—जल अथवा दूधपिलातीहुई गायको निवारण नहीं करै अथवा परायेदूधको अथवा जलको पिलातीहुईको देख तिसके आगे न कहै और आकाशमें इंद्रधनुषको देखके अन्य किसीको न दिखावे ॥ ५९ ॥ अधर्मियोंके ग्राममें वास न करै जहां बहुत व्याधि हो तिस ग्राममें नहीं रहै अकेला मार्गमें न चले अर्थात् मुसाफरी न करे बहुत दिनोंतक पर्वतका निवास न करे ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते । न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥ न भुञ्जीतोद्धतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

अर्थ—शूद्रके राज्यमें नहीं वसै अधर्मी जनोंसे घेरेहुए देशमें न रहै पाषंडी जनोंकरके वशमेंहुए देशमें तथा चांडाल आदिकोंसे उपद्रव हुए देशमें नहीं वसै ॥ ६१ ॥ जिसकी चिकनाई निकाली हो उसको खली आदिको न खावे अत्यंत तृप्ति दोनों वार न करै सूर्यउदयकालमें तथा सूर्यके अस्तकालमें भोजन नहीं करै प्रातःकाल अत्यंत तृप्तहुआ सायंकालको भोजन न करै ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥ न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् । नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—निष्फलकर्म वृथा बकवाद न करै और अंजलीसे पानी नहीं पीवै गोदमें, जांघ आदिमें लड्डु आदिको रखके भक्षण न करै और कभीभी किसी बातका आश्चर्य नहीं करै ॥ ६३ ॥ नांचे नहीं गावे नहीं और वाजोंको नहीं बजावे और हाथोंकी ताली नहीं बजावे तुतलाकर न बोले खुश होके गधेसरीखे शब्दको नहीं करै ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कास्ये कदाचिदपि भाजने । न भिन्नभाण्डे भु-
ञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥ उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न
धारयेत् । उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अर्थ—कांसके पात्रमें पैरोंको न धोवै फूटे वरतनमें कभीभी भोजन न करै
जहां मन विगड जावे ऐसे भावदूषित पदार्थको भक्षण न करै ॥ ६५ ॥ जूती
जोडा वस्त्र यज्ञोपवीत अलंकार पुष्पोंकी माला कमंडलु इन्होंको दूसरेके ओढे प-
हिरोंको धारण नहीं करै ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्व्रजेद्भुयैर्न च क्षुद्रयाधिपीडितैः । न भिन्नशृङ्गाक्षिबु-
रैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥ विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणा-
न्वितैः । वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—व्याधिकरके तथा क्षुधाकरके पीडित और अशिक्षित और सींग आंख
खुर इनसे खंडित ऐसे बैलोंकी सवारी वा अज्ञानकी रचीहुई सवारीमें गमन
नहीं करै ॥ ६७ ॥ वशमें कियेहुए शीघ्र चलनेवाले सुंदर लक्षणोंसे युक्त वर्णरू-
पसे युक्त ऐसे बैलोंकी सवारीमें गमन करै तिन बैलोंको चाबुक आदिसे बहुत
पीडा नहीं देवै ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् । न छिन्द्यान्नखलोमा-
नि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥ न मृलोष्टं च मृद्नीयान्न च्छि-
न्द्यात्करजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ७०

अर्थ—उदय होता हुआ सूर्यका घांम मुर्देका धूवां दूटाहुआ आसन इन्होंको
वर्ज देवै नख रोम इन्होंको नहीं काटे दांतोंसे नखोंको न उखाड़े ॥ ६९ ॥ माटीके
पिंडेको विना मतलब न मसलै नखों करके तृणोंको छेदन नहीं करै वे मतलब
काम नहीं करै और आगे जिसका दुःखदायक फल हो ऐसा काम न करे ॥ ७० ॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः । स विनाशं व्रज-
त्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥ न विगर्हकथां कुर्याद्बहि-
र्माल्यं न धारयेत् । गवा च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—मृत्तिकाके डलेको फोडनेवाला तृणोंको छेदन करनेवाला और दांतोंसे
नखोंको उखाडनेवाला जो मनुष्य है वह शीघ्रही देह धन आदिकोंकरके नाशको

प्राप्त हो जाता है और पराये दोषोंको सूचन करनेवाला खल तथा अशुचि पुरुषभी ऐसे ही नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥ निन्दितवचनोंकरके शास्त्रसंबंधी तथा लौकिक वार्त्ताको न करै मालाको बाहिर शिरपर धारण न करै गौओंकी पीठपर सवारी न करै यह सबवक्तमें निन्दित है ॥ ७२ ॥

अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वावृतम् । रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥ नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् । शयनस्थोऽपि भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

अर्थ—घिरेहुए ग्राममें अथवा मकानमें दरवाजेके रास्तेविना खाई भीत आदिको उल्लंघन नहीं जावे और रात्रीके समयमें वृक्षकी जड़के नीचे नहीं रहै दूरसे त्याग देवै ॥ ७३ ॥ कभीभी हास्य क्रीडा आदिकोंसे आंखोंकरके इसारा नहीं करै और अपना जूता जोडा हाथमें लेके न चलै शय्यापर बैठके भोजन न करै और हाथमें धरके भोजन न करै आसनमें भोजनके पात्रको धरके नहीं खावे ७४

सर्वे च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ । न च नर्म शयीतेह न चोच्छिष्टः कचिद्भजेत् ॥ ७५ ॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् । आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो तिलोंकरके मिलाहुआ कसारमोदक आदि होवे तिसको सूर्य अस्त होनेके पीछे भोजन न करै और नंगा होके नहीं सोवै और जूठा मुंहसे कहीं नहीं जावे ॥ ७५ ॥ जलसे गीलेपैरोंसे भोजन करै और गीलेपैरोंसहित सोवै नहीं जल से गीलेपैरों भोजन करताहुआ पुरुष दीर्घ आयुवाला होता है ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रमाद्येत कर्हिचित् । न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥ अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः । न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

अर्थ—वृक्ष लता आदिकोंसे आवृत जो आंखोंसे नहीं दीखता हो ऐसे दुर्गम रास्तामें कभीभी नहीं जावे और विष्टामूत्रको नहीं देखै बाहुओंकरके नदीको न तरे ॥ ७७ ॥ बहुत दिनतक जीनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष वालभस्म हड्डी कपाली अर्थात् मिट्टीके वरतनोंके टुकड़े कपासके विनौ ले भुस इनपर नहीं चढ़े ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुलकसैः । न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च ना-

न्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं
न हविष्कृतम् । न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

अर्थ—पतितोंके साथ तथा चांडाल आदिकोंके साथ न रहे अर्थात् एक वृक्ष-
की छाया आदिमें समीप न रहे निषादसे शूद्रास्त्रीमें होनेवालाको पुल्कस कहते
हैं तिन्होंके संग मूर्खोंके संग न रहे धनादिकोंका गर्व करनेवाला नीच जाति, नि-
षाद जातिकी स्त्रीमें चांडालसे उत्पन्न हुआ इनके संग न रहे ॥ ७९ ॥ शूद्रको
मति अर्थात् दृष्ट अर्थका उपदेश न देवै और जूठा भोजन तथा होमसे बाकी र-
हाहुआ पदार्थ नहीं देवै और शूद्रको धर्मका उपदेश न करै कोई व्रतआदिभी
न कहे ॥ ८० ॥

यो ह्यस्यधर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् । सोऽसंवृतं नाम तमः
सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥ न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः
शिरः । न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो द्विज इस शूद्रके आगे धर्मको कहता है और जो इसको प्रायश्चित्त
आदिको कहता है वह असंवृत नामवाले अंधकाररूप नरकमें पड़ता है ॥ ८१ ॥
दोनों हाथोंसे अपने शिरको नहीं खुजावे जुंटे हाथोंसे शिरको न छुवे और शि-
रसहित गोतामारेविना तथा हाथोंसे शिर मलेंविना निश्च नैमित्तिक स्नान नहीं
करै ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् । शिरः स्नातश्च तैलेन
नाङ्गं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥ न राज्ञः प्रतिगृहीयादराजन्य-
प्रसूतितः । सूनाचक्रध्वजवतां वैष्णैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—क्रोधकरके शिरके वालोंका पकड़ना और चोट मारनाको वर्ज देवै औ-
र शिरसहित स्नान करके तेलसे किसी अंगको नहीं छुवै ॥ ८३ ॥ क्षत्रियके प्र-
तिग्रहको नहीं लेवै और क्षत्रियसे, अन्य जातिका राजाकाभी दान नहीं लेवे जीव
वधकरनेवाला कसाई तेली कलार रंडी इन्होंके धर्मकोभी ग्रहण नहीं करै ८४

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः । दशध्वजसमो वेशो द-
शवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥ दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौ-
निकः । तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

अर्थ—दश सूनावाले अर्थात् दश कसाइयोंके बराबर एक तैलकारके तेलीके धनका दोष है दश तैलियोंके समान एक कलार दश कलारोंके समान एक वेश्या और दश वेश्याओंके समान एक राजाके धनका दोष है ॥ ८५ ॥ जो दश हजार जीवोंको मारता है उसको सौनिक कहते हैं राजा तिसके समान कहा है तिस राजाका प्रतिग्रह घोर है अर्थात् नरकमें प्राप्त करनेवाला है ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः । सपर्यायेण या-
तीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥ तामिस्रमन्धतातिस्रं महारौर-
वरौरवौ । नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

अर्थ—जो द्विज राजाका तथा कृपणका वा शास्त्रकी मर्यादासे रहितका प्रति-
ग्रह लेता है वह क्रमकरके इन इक्कीस नरकोंमें जाता है ॥ ८७ ॥ तामिस्र १ अं-
धतामिस्र २ महारौरव ३ रौरव ४ नरक ५ कालसूत्र ६ महानरक ७ ॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् । संहातं च सकाकोलं
कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥ लोहशंकुमृजीपं च पन्थानं शालम-
लीं नदीम् । असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

अर्थ—संजीवन ८ महावीचि ९ तपन १० संप्रतापन ११ संहात १२ सकाको-
ल १३ कुड्मल १४ प्रतिमूर्तिक १५ ॥ ८९ ॥ लोहशंकु १६ ऋजीप १७ पन्थान
१८ शालमली नदी १९ असिपत्रवन २० लोहदारक २१ ये नाम हैं और इनके
स्वरूप विशेषकरके मार्कण्डेयआदि पुराणोंमें कहे हैं ॥ ९० ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति
प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥ ९१ ॥ ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चा-
नुचिन्तयेत् । कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

अर्थ—यह प्रतिग्रह दान अनेक प्रकारके नरकोंका हेतु है ऐसे जानतेहुए और
परलोकमें कल्याणकी इच्छा करनेवाले विद्वान् ब्रह्मवादी ब्राह्मण राजाके प्रति-
ग्रहको नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥ प्रातःकाल दोघड़ीके तड़के उठके धर्मको तथा अ-
र्थको चिंतवन करे और उनके उपार्जनके मूल कायाके क्लेशोंकोभी चिंतवन करे
अर्थात् विचार लेवे और वेदके तत्व अर्थको विचारै ॥ ९२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः । पूर्वा संध्यां जपंस्ति-

ष्टेस्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥ ऋषयो दीर्घसंध्यात्वादीर्घमायुर-
वाप्नुयुः । प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

अर्थ—फिर उठके दिशा जंगल हो अवश्य कार्यको कर शुद्ध हो स्नान आदि कर सावधान हो प्रातःकालकी संध्याको कर गायत्रीजप करताहुआ बहुत कालतक सूर्यउदय होनेतक स्थित रहै और दूसरी संध्याकोभी अपने कालसे लेके नक्षत्र उदयतक बहुत देरतक करताहुआ स्थित रहै ॥ ९३ ॥ पहले ऋषि दीर्घसंध्या गायत्रीजप आदिकरनेसे दीर्घ आयुको प्राप्त होतेभये और बुद्धि यश कीर्ति ब्रह्मतेज इन्होंको प्राप्त होते भये ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि । युक्तश्छन्दांस्यधी-
यीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥ पुष्पे तु छन्दसां कुर्याद्वि-
हिरुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

अर्थ—श्रावणकी पूर्णिमाके दिन अथवा भाद्रपदकी पूर्णिमाके दिन यथार्थ विधिसे ब्राह्मण उपाकर्म यज्ञोपवीतका संस्कार करके साढेचार महीनोंतक उत्तुक्त हुआ वेदोंको पढै ॥ ९५ ॥ साढेचार महीने व्यतीत हो लेवें तब पुष्यनक्षत्रके दिन वेदका उत्सर्जनाख्य कर्मको ग्रामसे बाहिर जाके करै अथवा माघशुक्ल प्र-
तिपदाके दिन पूर्वाह्णमें करै ॥ ९६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं
तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः
पठेत् । वेदांगानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

अर्थ—ऐसे उक्त प्रकारसे ग्रामसे बाहिर जाके उत्सर्गाख्य कर्म करके उस दिन और रातको और अगले दिनको ऐसे डेढ दिनतक वेदका अध्ययन नहीं करै अथवा तिसी एक दिन रात्रिको अध्ययन नहीं करै ॥ ९७ ॥ फिर उत्स-
र्गाख्य अनध्यायके अनंतर नियम करके शुक्लपक्षमें मंत्रब्राह्मणात्मक वेदको पढै और कृष्णपक्षमें नियम करके वेदके अंग शिक्षा व्याकरण आदिकोंको पढे ९८

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ । न निशान्ते परिश्रान्तो
ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥ यथोदितेन विधिना नित्यं छ-
न्दस्कृतं पठेत् । ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

अर्थ—वेदको स्वर व्यंजनादिकोंसे अस्पष्ट नहीं पढ़ें और शूद्रके समीप न पढ़ें प्रदोषकालमें न पढ़ें और रात्रीके अंतमें थकाहुआ वेदको पढ़के फिर नहीं सोवे ॥ ९९ ॥ यथोक्त विधिकरके नित्य प्रति गायत्रीआदि छंदोंकरके युक्त मंत्रमात्रको पढ़ें और आपत्कालकेविना ब्राह्मण मंत्रवेदको सावधान होके पढ़ें ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् । अध्यापनं च कुर्वाणः
शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा
पांसुसमूहने । एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

अर्थ—इन आगे कहीहुये अनध्यायोंको शिष्योंको यथोक्त विधिसे पढ़ानेवाला गुरु और पढ़नेवाला शिष्य सर्वदा वर्ज्य देवै ॥ १०१ ॥ रात्रिमें कानके शब्दकरनेवाले वायुके चलनेके समय दिनमें धूल उड़नेके समय वायु चलनेमें ये दोनों वक्त मुनियोंने वर्षाकालमें अनध्यायके कहे हैं अर्थात् पढ़ना नहीं चाहिये ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानांच संप्लवे । आकालिकमनध्यायमे-
तेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥ एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृता-
ग्निषु । तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

अर्थ—विजलीके गरजनेंसहित वर्षामें और जहांतहां उल्का आदि उत्पात होनेमें जिस समय ये उत्पात हो उसी समयतक अनध्याय करै ऐसे मनुजीने कहा है ॥ १०३ ॥ वर्षाकालमें ये जो विजलीके उत्पात आदि होम करनेके समय हो जावें तो अनध्याय करे अन्यथा नहीं करै और वर्षाऋतुके विना अन्य ऋतुमें जो बादल देखपड़े तबभी अनध्याय करै ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने । एतानाकालिकान्वि-
द्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥ प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्त-
नितनिःस्वने । सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा १०६

अर्थ—आकाशमें उत्पातशब्द उत्पन्न होनेमें भूकंप होनेमें तारा दूटनेमें सूर्य आदिकोंके उपद्रवमें अकालिक अनध्याय जानै वर्षाकालमेंभी ये उत्पात होवे तो अनध्याय करै ॥ १०५ ॥ होमकेवास्ते अग्नि प्रकटकरनेके समय जो विजली कड़के शब्द होवे तो एक रात्रीतक अनध्याय करे और जो वर्षाभी हो जावे तो एकरात दिनतक अनध्याय करे ॥ १०६ ॥

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च । धर्मनैपुण्यकामानो
पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥ अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च
सन्निधौ । अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

अर्थ—धर्मकी अत्यंत इच्छा करनेवालोंको ग्रामोंमें और नगरमें नित्य अनध्याय
है और दुर्गन्धसेयुक्त ग्रामआदिमेंभी अनध्याय है ॥ १०७ ॥ जिसमें मुरदा पड़ा
हो ऐसे ग्राममें अधर्मिपुरुषके समीप रोतेहुएके समीप बहुत जनोंकी भीड़में अन-
ध्याय करै अर्थात् वेदको नहीं पढ़ै ॥ १०८ ॥

उदके मध्यरात्रे च विष्णूत्रस्य विसर्जने । उच्छिष्टश्राद्धभुक्कैव म-
नसापि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥ प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्ट-
स्य केतनम् । त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

अर्थ—जलके मध्यमें आधी रातकी समय दिशा जंगल फिरनेके वक्त पिशाच
करनेके समय भोजन आदि करके जूटे मुंह श्राद्धका भोजन करके वेदको मनसे-
भी याद नहीं करै ॥ १०९ ॥ विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट श्राद्धका निमंत्रण लेके
तीन दिनतक वेदको नहीं पढ़ै और राजाके पुत्र आदि होनेके सूतकमें चंद्रमाके
ग्रहणमें तीन दिनतक अनध्याय करै ॥ ११० ॥

यावदेकानु दिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति । विप्रस्य विदुषो देहे
तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥ शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावस-
क्थिकाम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

अर्थ—जबतक एकोद्दिष्टश्राद्धमें प्राप्त होनेवाले विद्वान् ब्राह्मणके शरीरपर कुंकुम
आदि गंध लेप स्थित रहै तबतक वह वेदका पाठ नहीं करे ॥ १११ ॥ शय्यापे सो-
ताहुआ पैरोंको आसनमे जंचाकिये बैठेहुए अथवा दोनों पैरोंको मोड़ेहुए बैठके
वेदको नहीं पढ़ै और मांसको भक्षण करके तथा सूतकके अन्नको भक्षण करके
वेदको नहीं पढ़ै ॥ ११२ ॥

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः । अमावास्याचतुर्दश्योः
पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥ अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति
चतुर्दशी । ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

अर्थ—धूमर पड़तेहुए बाणके शब्दमें और संधियोंमें अमावास्या वा चतुर्दशी-

को पूर्णिमावा अष्टमीको अनध्याय करै ॥ ११३ ॥ वह अमात्वस्यातिथि गुरुका नाश करती है चतुर्दशी शिष्यको नाशती है अष्टमी तथा पूर्णमासी वेदको भुला देती है इसवास्ते तिन तिथियोंको वर्ज देवै अथवा पढै पढावे नहीं ॥ ११४ ॥

पांशुवर्षे दिशोदाहे गोमायुविरुते तथा । श्वखरोष्ठ्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्विजः ॥ ११५ ॥ नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

अर्थ—धूलिवर्षनेके समय दिग्दारहोनेमें गीदडके चिल्लानेमें कुत्ता गद्दा ऊँट इन्होंके शब्द करनेमें इन्होंकी पंक्तिमें बैठके द्विज वेदको नहीं पढै ॥ ११५ ॥ श्मशानके समीप ग्रामके समीप गोशालाके समीप और मैथुनसमयके वस्त्रोंको पहिनेके श्राद्धके अन्नको भोजन करके न पढै ॥ ११६ ॥

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिच्छ्राद्धिकं भवते । तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥ चौरैरुपहृतो ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते । आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ११८

अर्थ—श्राद्ध संबंधी प्राणि अर्थात् गौ अश्वआदिक और वस्त्रमाला आदिकको हाथमें गृहण करके वेदको नहीं पढै क्योंकि ब्राह्मण शास्त्रमें पाण्यास्य कहा है अर्थात् हाथही इस ब्राह्मणका मुख है ॥ ११७ ॥ चौरोंकरके उपहृत कियेहुए ग्राममें मकान आदिकोंके अग्नि लग जानेंके भयमें पृथ्वी आदिके संपूर्ण उत्पात आदि अद्भुत कर्मोंमें अकालिक अनध्याय करे ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् । अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् । न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

अर्थ—उपाकर्ममें और उत्सर्गमें तीन दिनतक अनध्याय करे अष्टमीको एक दिनरात अनध्याय करे और ऋतुके अंतमें एक दिन अनध्याय करे ॥ ११९ ॥ घोडा-पर चढाहुआ वेद नहीं पढै वृक्षपर चढाहुआ हस्तीपर चढाहुआ नावपर बैठाहुआ गद्दा ऊँट ऊपर भूमि और रथआदि सवारीपर बैठके वेदको नहीं पढै ॥ १२० ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे । न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके ॥ १२१ ॥ अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति

वा भृशम् । रुधिरं च स्मृते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अर्थ—वाक्विवादमें कलहमें फौजमें युद्धमें भोजन करके उसी समयमें अजीर्णमें वमन करके सूतकमें वेदको नहीं पढ़े ॥ १२१ ॥ अतिथिको अनुज्ञाप्य अर्थात् मैं अध्ययन करूँ ऐसे कहेविना अत्यंत वायु चलनेमें शरीरसे रुधिर पडतेहुए शस्त्र आदिसे कटजानेमें वेदको नहीं पढ़े ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृण्यजुषीनाधीयीत कदाचन । वेदस्याधीत्य वाप्यन्त-
मारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥ ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मा-
नुषः । सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

अर्थ—जहां सामवेदकी ध्वनि सुनती हो तहां ऋक् यजुर्वेदको कभीभी नहीं पढ़े और वेदको समाप्तकरके वेदके एकदेश आरण्यकको पढ़के एकदिन रातके अनंतर दूसरे वेदको पढ़े ॥ १२३ ॥ ऋग्वेद देवताओंका दैवत्य है अर्थात् उसमें देवतासंबंधी कर्मोंका उद्देश है यजुर्वेद मनुष्यसंबंधी कर्मोंका उपदेशक है सामवेद पितरसंबंधी कर्मोंका उपदेशक है इसवास्ते तिस सामवेदकी ध्वनि अपवित्र सरीखी है इसवास्ते पहले श्लोकमें तिसकी ध्वनिमें ऋग् यजुर्वेदका निषेध कहा है ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् । क्रमतः पूर्वमभ्यस्य प-
श्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥ पशुमण्डूकमार्जारिश्वसर्पनकुलाखुभिः ।

अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जाननेवाले विद्वान् दिन दिन प्रति पहले क्रमकरके गाय-
त्रीका जप करके पीछे वेदको पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥ पढ़ते हुए शिष्यके और गुरुके
मध्यकर जो यदि गौ आदि पशु विलाड कुत्ता सर्प नौला मूँसा ये निकस जावें
तब एक दिन राततक अनध्याय करे ॥ १२६ ॥

द्वौवैव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धा-
मात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥ अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमा-
सीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः १२८

अर्थ—दो अनध्यायोंको नित्य यत्न करके वर्ज देवै एकतो पढ़नेकी भूमि अ-
शुद्धको और अपने शरीरकी अशुद्धिको इन दोनुवोंको वर्ज देवै अर्थात् नित्य

शुद्ध जगह शुद्ध होके पड़े ॥ १२७ ॥ अमावास्या अष्टमी पूर्णमासी चतुर्दशी इन तिथियोंको स्नातक गृहस्थी द्विज ऋतुकालमेंभी स्त्रीकेपास न जावे ॥ १२८ ॥

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि । न वासोभिः सहा-
जस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥ देवतानां गुरो राज्ञः स्नात-
काचार्ययोस्तथा । नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च १३०

अर्थ—भोजनकरके विना प्रयोजन स्नान नहीं करै और रोगी पुरुष स्नान न करै अर्द्धरात्रीमें नहीं करै बहुत कपड़ोंके साथ नित्य स्नान न करै और जहां ज्यादा पानी हो मालूम न हो तिस जलाशयमें स्नान न करै ॥ १२९ ॥ देवता गुरु राजा स्नातक आचार्य कपिल पुरुष यज्ञमें दीक्षित हुआ पुरुष इन्होंकी छायाको इच्छासे नहीं उल्लंघे वेमालूमका कुछ दोष नहीं ॥ १३० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् । संध्ययोरुभयो-
श्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥ उद्वर्तनमपस्नानं विष्मूत्रे र-
क्तमेव च । श्लेष्मनिष्ठयूतवान्तानि नाधितिष्ठेत् कामतः ॥ १३२ ॥

अर्थ—दुपहरमें अर्धरात्रीमें, मांससहित श्राद्धका भोजनकरके और प्रातःका-
काल सायंकाल इन दोनों संधियोंमें चौराहाको नहीं सेवै ॥ १३१ ॥ उवटना मलनेकी पीठी स्नानका पानी विष्ठा मूत्र रक्त खखार थूक वमन इनके ऊपर अर्थात् ये पड़े हों तहां खड़ा नहीं रहे ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः । अधार्मिकं तस्करं च पर-
स्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ नहीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्य-
ते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

अर्थ—वैरीवैरीका मित्र अधर्मी पुरुष चोर इन्होंसे मुलाकात न रखे और पराई स्त्रीसे मेल नहीं रखे ॥ १३३ ॥ इसप्रकार आयुको घटानेवाला मनुष्यों-
के कुछ नहीं है जैसे पराई स्त्रीसे मेल करना लोगोंकी आयुको घटाता है ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूष्णुः
कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥ एतत्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानि-
तम् । तस्मादेतत्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

अर्थ—धन गौ आदिकोंसे बढ़ा हुआ पुरुष क्षत्रिय सर्प बहुश्रुत ब्राह्मण ये

दुर्बल हो तोभी इनका अपमान नहीं करै ॥ १३५ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय सर्प ये तीन अपमान कियेहुये अपमान करनेवालेका नाशकरदेते है इसवास्ते बुद्धिमान पुरुष इनका अपमान नहीं करै ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । आमृत्योः श्रियमन्विच्छे-
न्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूया-
त्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

अर्थ—धनकेवास्ते यतन करे तब धन नहीं मिले तो, मैं निर्भाग्य हूं ऐसे आ-
त्माका अपमान न करे किंतु मृत्युपर्यंत लक्ष्मीकी इच्छा करता रहै इस लक्ष्मीको
दुर्लभा नहीं मानै ॥ १३७ ॥ सत्य कहे अर्थात् जैसा देखा सुना हो सो कहै
और प्रियवचन कहै और जो प्रिय न हो ऐसा सत्यभी न बोलै जो झूठ हो ऐसा
प्रियभी न बोले यह सनातन धर्म है ॥ १३८ ॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च न
कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्य-
दिने स्थिते । नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

अर्थ—भद्रं भद्रं ऐसा वचन कहै अर्थात् बहुत अच्छा है ऐसा कहै वा मंगलरूप
वार्ता कहै शुष्क वैर अर्थात् निष्प्रयोजन वैर झगडा किसीकेभीसाथ न करे
॥ १३९ ॥ अत्यंत सवेरे सांझको प्रदोषसमयमें मध्यान्हसमयमें बिना जानपिछा
नवालेकेसाथ एकेला शूद्रोंके संग रास्तामें नहीं चलै ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् । रूपद्रव्यविहीनांश्च
जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टोविप्रो गो-
ब्राह्मणानलान् । न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ४२

अर्थ—हीन अंगवाले अधिक अंगवाले मूर्ख वृद्धजन कुरूपवाला निर्धन नीचजा-
तिवाला इन्होंकी निंदा न करे ॥ १४१ ॥ भोजनकरके जूठे हाथोंसे अथवा
अशौचके हाथोंसे द्विज गौ ब्राह्मण अग्नि इन्होंको नहीं छुवै और व्यासिधे रहित
पुरुष अपवित्र हुआ आकाशमें चंद्रमा तारा नक्षत्र इन्होंको नहीं देखै ॥ १४२ ॥

स्पृष्टैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वा-
णि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥ अनातुरः स्वानि खानि न स्पृ-

शेदनिमित्ततः । रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् १४४

अर्थ—अपवित्र हुआ पुरुष इन गौ आदिकोंका स्पर्श करले तो आचमनकर हाथोंमें जल ले इंद्रियोंको स्पर्शकर शरीरके अवयवोंको तथा नाभिको हाथसे स्पर्श करै ॥ १४३ ॥ स्वस्थ चित्त हुआ मनुष्य अपनी इंद्रियोंके छिद्रोंको और रोमोंको तथा काख आदि गुप्तस्थानके वालोंको वे प्रयोजन नहीं छूहै ॥ १४४ ॥

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः । जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥ मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ—नित्य प्रति शुभ आचार करके युक्त रहै और शौचसे युक्त रहै जितेन्द्रिय रहै और आलस्यरहित होके गायत्री आदि जप और तद्विहित होम करे ॥ १४५ ॥ नित्य प्रतिमंगलाचारमें युक्त रहनेवालोंके और पवित्र रहनेवालोंको तथा जप करनेवालोंके तथा होम करनेवालोंके देवकृत वा मनुष्यकृत उपद्रव नहीं होता है ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः । तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च । अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

अर्थ—नित्य प्रति आलस्यरहित होके कालके अनुसार ओंकार गायत्री आदि वेदको जपै क्योंकि वह वेद मनु आदिकोंने ब्राह्मणका परमधर्म कहा है और अन्य धर्म इससे नीचे है ॥ १४७ ॥ निरंतर वेदका अभ्यासकरके और पवित्र होनेसे तप करनेसे जीवोंकेसंग द्रोह नहीं करनेसे मनुष्य अपने पूर्वजन्मकी जातिको जानजाता है ॥ १४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरज्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः । ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥ सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः । पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

अर्थ—पूर्वजन्मकी जातिका स्मरण करताहुआ जन फिर वेदहीका अभ्यास करता है वेदके अभ्यास करनेसे नित्य अनन्त सुखको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १४९ ॥ गायत्रीदेवतावाले होमको और अनिष्ट निवृत्तिकेवास्ते शांति होमको

सर्वदा पूर्णिमासी वा अमावास्याको करै और पितरोंका अन्वष्टकश्राद्ध आदि पूजन आश्विन कृष्णपक्षकी अष्टमीको वा नवमीको करै ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् । उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् । पूर्वाह्न एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—अग्निग्रहसे मलसूत्रको दूर त्यागै और पैर धोनेका जल जूठा अन्न वीर्य त्याग इन्होंको दूरही करे ॥ १५१ ॥ मलका त्याग दिशा जंगल जाना शरीरकी शुद्धि, स्नान दांतून अंजन घालना देवताओंका पूजन इन्होंको पूर्वाह्नमें अर्थात् दुपहर पहलेही करे ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरुनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥ अभिवादयेद्बृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् । कृताञ्जलिरूपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

अर्थ—मंदिरमें स्थित पाषाण आदि देवताओंकी मूर्ति और वार्षिक ब्राह्मण राजा गुरु पिता आदिक इन्होंके दर्शनोंके लिये इनके सन्मुख जावे अपनी रक्षा-केवास्ते ॥ १५३ ॥ घरमें आयेहुए बृद्धोंको गुरुवोंको अभिवादन करै और अपना आसन छोड़देवै अंजलि बांधके उनकेपास खड़ा रहे और गमन करतेहुए तिनके पीछे जावे ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥ आचारालभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—श्रुति स्मृतिकरके कहाहुआ और अपने कर्मोंमें वेदाध्ययन आदि अंगोंसे बंधाहुआ धर्मका मूल ऐसे सदाचारको आलस्य रहित होके सेवन करै ॥ १५५ ॥ आचार करनेसे वेदोक्त आयु प्राप्त होती है और आचारसेही मनोवांछित संतान होती है आचारसे अक्षय गुना धन प्राप्त होता है और अशुभ फलका सूचक दुष्ट लक्षणको आचारही नष्ट कर देता है ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचार

वान्नरः । श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

अर्थ—दुष्ट आचारवाला पुरुष संसारमें निंदित है और निरंतर दुःखको प्राप्त होता है और रोगवान् तथा अल्पआयुवाला होता है ॥ १५७ ॥ जो पुरुष साधुजनोंके आचारसे युक्त हो और श्रद्धावान् हो और दूसरेके दोषोंको न कहे वह संपूर्ण लक्षणोंसे हीन भी हो परंतु सौवर्षतक जीता है ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् । यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥ सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

अर्थ—जो जो कर्म पराधीन है वही वही यत्नकरके वर्ज देना चाहिये और जो जो अपने आधीन है वह सब यत्नकरके सेवन करना चाहिये ॥ १५९ ॥ संपूर्ण दूसरेकी प्रार्थना आदिसे जो साध्य है वह दुःखका कारण है और जो अपने आधीन है वह सुखका कारण है इसप्रकार संक्षेपमात्रसे सुखदुःखका लक्षणको जानें ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः । तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥ आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् । न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वाश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

अर्थ—जिस कर्मके करनेसे इस पुरुषका अंतरात्मा प्रसन्न होवे तिसको अच्छी तरह यत्नकरके करे और विपरीत निषिद्ध कर्मोंको वर्जदेवै ॥ १६१ ॥ यज्ञोपवीत करानेवाला आचार्य वेदका व्याख्यान करनेवाला पिता माता गुरु ब्राह्मण गौ और संपूर्ण तपस्वी इन्हींकी हिंसा न करे अर्थात् मारे नहीं ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् । द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥ परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्कुद्वो नैव निपातयेत् । अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्टयर्थं ताडयेत्तु तौ ॥

अर्थ—नास्तिकपना वेदकी निंदा देवताओंकी निंदा वैर दम्भ अभिमान क्रोध तेजी इन्हींको वर्जदेवै ॥ १६३ ॥ क्रोधमें युक्त होके दूसरेको मारनेकेवास्ते दंड आदिको नहीं फेंके पुत्र शिष्य भार्या इन्हींकेविना दूसरेकेवास्ते लाठी आदि न फेंके किंतु शिष्य आदिकोंको तो शिक्षाकेवास्ते ताडना अवश्य देवै ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया । शतं वर्षाणि तामिस्रे न-
रके परिवर्तते ॥ १६५ ॥ ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्व-
कम् । एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

अर्थ—द्विजाति पुरुष ब्राह्मणके मारनेकेवास्ते दंड आदिके उठानेसेही सौवर्ष-
तक तामिस्र नरकमें गिरता है ॥ १६५ ॥ ब्राह्मणको क्रोध बुद्धिसे तृणकरके-
भी ताडना देनेसे इक्कीस जन्मतक पापयोनि अर्थात् कुत्ता आदि योनियोंमें प्राप्त
होता है ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगंगतः । दुःखं सुमहदाप्नोति
प्रेत्याप्राज्ञतयानरः ॥ १६७ ॥ शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति
महीतलात् । तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽव्यते १६८

अर्थ—अज्ञानसे मनुष्यविना युद्ध करतेहुए ब्राह्मणके शरीरसे रुधिर निकास
देवे तो परलोकमें अत्यंत दुःख प्राप्त होता है ॥ १६७ ॥ खड्ग आदिसे हत हुआ
ब्राह्मणके शरीरसे निकसा हुआ रुधिर पृथ्वीपर पडके जितने धूलिके रेणुओंको ग्र-
हण करता है उतनेही वर्षोंतक रुधिरको निकालनेवाला पुरुष नरकमें प्राप्त
होता है ॥ १६८ ॥ ~~यद्येष्टं तादृकं शोणितं तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽव्यते १६८~~

न कदाचिद्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि । न ताडयेत्तृणेनापि न
गात्रात्सावयेदसृक् ॥ १६९ ॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चा-
प्यनृतं धनम् । हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

अर्थ—इसवास्ते विद्वान् ब्राह्मण कभीभी ब्राह्मणकेवास्ते तृण करकेभी ताडना
नहीं देवे और ब्रह्मभी नहीं और ब्राह्मणके शरीरसे रुधिर नहीं निकासै ॥ १६९ ॥
जो अधर्मी पुरुष है अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंको करनेवाला है वा जिसके झूठ
ही धनका उपाय है और जो हिंसा करनेमें रत रहता है वह इस लोकमें सुख
युक्त नहीं रहता है ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनो धर्मे निवेशयेत् । अधार्मिकाणां पापा-
नामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥ नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फ-
लति गौरिव । शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

अर्थ—शास्त्रविहित धर्मके अनुसार वर्तताहुआ पुरुष जो यदि धनादिकोंके

विना क्लेश पावे तोभी अधर्ममें बुद्धिको नहीं करै ॥ १७१ ॥ अधर्मका आचरण कियाहुआ इस लोकमें तात्काल फल नहीं देता है जैसे पृथ्वीवी जवोंनेकेही समय फल नहीं देती समय पायके फल देती है तैसेही शनैशनै कम करके वर्तताहुआ अधर्म कर्ताकी जडको काट देता है अर्थात् जडमूल समेत नाशकर देता है ॥ १७२

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नमृषु । न लेवतु कृतोऽधर्मः क-
र्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि प-
श्यति । ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

अर्थ—जो कियाहुआ अधर्म निष्फल होता है अर्थात् धन आदिकोंका नाश नहीं करता है तो उसके पुत्रोंको फल देता है और पुत्रोंको नहीं तो प्रपौत्रोंको फल देता है परंतु कियाहुआ अधर्म निष्फल नहीं होता ॥ १७३ ॥ अधर्म करके पह-
ले बढ़ता है पीछे गौ अश्व बहुत भृत्य इत्यादिकोंको प्राप्त होता है पीछे शत्रुओं-
कोके जीतलेता है पीछे पापके परिपाक समयमें अधर्म कर्ता पुरुष पुत्र धन आदि-
कों सहित नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण
वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां ध-
र्मवर्जितौ । धर्मं चाप्यसुखोदरकं लोकविकृष्टमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ—सत्यधर्म सदाचार शौच इन व्यवहारोंमें सदा युक्त रहै और शिष्योंको शिष्यधर्मके अनुसार शिक्षा देवै और वाणी बाहु उदर इन्होंको वशमें रक्खे ७५ जो धर्मसे रहित अर्थ और काम है इन्होंको त्याग देवै और जिसके करनेसे उत्तर कालमें सुख नहीं होते ऐसा धर्मभी नहीं करै और जिसमें लोग क्लेश पावें ऐसा सर्वस्वदान आदि श्राद्धमें गोवध आदिभी नहीं करै ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृज्जुः । न स्याद्वाक्चपलश्चैव
न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ येनास्य पितरो याताः येन या-
ताः पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते १७८

अर्थ—हाथ पैरोंकी चपलता अर्थात् विना प्रयोजन किसीवस्तुका उठाना कहीं धूमना न करे और पराई स्त्रीको न देखे निंदित वचन नहीं कहै और पराये द्रोहके कर्ममें बुद्धि न करे ॥ १७७ ॥ जिस मार्ग करके इस पुरुषका वा पचला

हो और जिस मार्ग करके इसका दादा चलाहो तिस श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गमें चला हुआ पुरुष क्लेश नहीं पाता है ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञा-
तिसंबन्धिवान्धवैः ॥१७९॥ मातापितृभ्या यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण
भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

अर्थ—ऋत्विक् पुरोहित आचार्य मामा अतिथि अभ्यागत आश्रय हुए पुरुष बालक वृद्ध रोगी वैद्य चाचा आदि विरादर शाला आदि संबंधी विरादर ॥ १७९ ॥ माता पिता वहेन पुत्रकी वधू भाई पुत्र स्त्री दोहिता दास वर्ग इन्हों-
केसंग विवाद नहीं करै ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्च जयति
सर्वालोकानिमान्गृही ॥१८१॥ आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये
पिता प्रभुः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥१८२॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त जनोंके विवादोंको त्यागके मनुष्य संपूर्ण पापोंसे छूटजाता है और इनकेसाथ विवादकी उपेक्षा करनेसे गृहस्थी पुरुष इन आगे कहेहुए लोकोंको जीत लेता है ॥ १८१ ॥ आचार्य ब्रह्मलोकका स्वामी है उसके प्रसन्न होनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है ऐसैही प्रजापतिलोकका पति पिता है इंद्र-
लोकका पति भिक्षुक अभ्यागत है देवलोकका स्वामी ऋत्विक् है ॥ १८२ ॥

यामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः । संबन्धिनो ह्यपां लो-
के पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥१८३॥ आकाशेशास्तु विज्ञेया बाल-
वृद्धकृशातुराः । भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥

अर्थ—यामय अर्थात् वहेन पुत्र वधू आदि स्त्री अप्सराओंके लोककी स्वामि-
नी है वैश्वदेवलोकके स्वामी बांधव है संबंधी पुरुष वरुणलोकका पति है और पृथ्वीमे मा बाप मालिक है अर्थात् इनके प्रसन्न होनेसे इन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १८३ ॥ बालक वृद्ध कृश रोगी ये आकाशके पति है और बड़ा भाई पि-
ताके समान है इसवास्ते प्राजापत्य लोकका पति है और स्त्री पुत्र ये अपना शरीर है ॥ १८४ ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् । तस्मादेतैरधिक्षितः

सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

अर्थ—अपने दास भृत्य आदि अपनी छाया है पुत्री परम कृपा पात्र है इसवास्ते इनके झगडा करके सदा दुःखको नहीं सहै ॥ १८५ ॥ विद्या तप आदिसे युक्त पुरुष प्रतिग्रह लेनेमें समर्थहो तोभी वारंवार आसक्तिको वर्जदेवै क्योंकि प्रतिग्रह लेनेसे शीघ्रही इसका ब्रह्मतेज नष्टहो जाता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे । प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥ हिरण्यभूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् । प्रतिग्रहं विद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष प्रतिग्रह लेनेमें द्रव्योंकी विधिको धर्ममें हित नहीं जानके क्षुधासे पीडित होनेसेभी प्रतिग्रह दान नहीं लेवे ॥ १८७ ॥ वेदको नहीं पढाहुआ ब्राह्मण सुवर्ण भूमि अश्व गौ अन्न वस्त्र तिल घृत इन्हींका प्रतिग्रह दान लेनेसे काष्ठकी तरह भस्म हो जाता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् । अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥ अतपास्त्रनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

अर्थ—सुवर्ण और अन्नका प्रतिग्रह लेनेवालाकी आयुको सुवर्ण और अन्न हरता है भूमि गौ ये शरीरको जलाते हैं अश्व नेत्रोंको वस्त्र त्वचाको घृत तेजको तिल प्रजाको दग्ध करता है ॥ १८९ ॥ तप विद्या वेदका पढना इनसे रहित ब्राह्मण जो प्रतिग्रहमें इच्छा करता है वह द्विज जैसे पानीमें पत्थरकी भरीहुई नौकापे बैठके तिसके साथही डूब जाता है तैसे नष्ट हो जाता है ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहं । स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥ न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैदालव्रतिके द्विजे । न वक्रव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

अर्थ—जोकि स्वल्पही प्रतिग्रह दानलेनेसेही मूर्ख ब्राह्मण कीचमें धसकीहुई गायकी तरह नरकमें धसकागिरा रहता है इसवास्ते विना पढाहुआ ब्राह्मणको प्रतिग्रह दानसे डरना चाहिये ॥ १९१ ॥ धर्मको जाननेवाला पुरुष पहले कहा

हुआ बिडाल अर्थात् बिलावकी वृत्तिवाला और बकवृत्तिवाला ब्राह्मणके अर्थ वा वेदको नहीं जाननेवाला ब्राह्मणके अर्थ जलकाभी दान नहीं देवै ॥ १९२ ॥

त्रिष्वपेक्षेण दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय प-
रत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥ यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।

तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त बिडालवृत्तिवाले आदि तीन ब्राह्मणोंके अर्थ न्यायसे संचित कियाहुआभी धनका दान देनेसे दाताको और ग्रहणकरनेवालेको अनर्थ होता है अर्थात् नरक प्राप्त होता है ॥ १९३ ॥ जैसे पत्थरकी नौकामे बैठके तिरताहुआ मनुष्य तिस नौकासहित डूब जाता है तैसेही कुपात्रके अर्थ दान देनेवाला दाता और गृहीता दोनों नरकमें जाते हैं ॥ १९४ ॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छात्रिको लोकदम्भकः । बैडालव्रतिको ज्ञेयो
हिंसः सर्वाभिसंधकः ॥ १९५ ॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाध-
नतत्परः । शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

अर्थ—जो धर्मध्वजी है अर्थात् सबको दिखाके बड़ाईकेवास्ते धर्म करता है वा लोभी छल करनेवाला लोगोंको ठगनेवाला बिलाव सरीखी वृत्तिवाला हिंसक सबको विसराहनेवाला है ॥ १९५ ॥ अपनी विख्याति जनानेकेवास्ते जो निरंतर नीचेको दृष्टि रखता है वह और कठोर पुरुष अपने मतलबको सिद्ध करनेवाला शठ झूठा विनय करनेवाला बुगला सरीखी वृत्तिका आचरण करनेवाला द्विज ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः । ते पतन्त्यन्धतामि-
स्त्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥ न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा
व्रतं चरेत् । व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—जो द्विज बुगलाकी वृत्तिवाले हैं और जो मार्जारवृत्तिवाले हैं वे सब पूर्वोक्त पुरुष तिस पापकर्म प्रतिग्रह लेनेसे अंधतामिश्र नरकमें गिरते हैं ॥ १९७ ॥ धर्मका मिसकरके पापकोकर व्रतका आचरण नहीं करै व्रतकरके पापको आच्छादन कर स्त्री शूद्र आदिकोंको मोहताहुआ नर है ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः । छद्मनाचरितं यच्च

व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१९९॥ अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमु-
पजीवति । स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

अर्थ—पर लोकमें तथा इस लोकमें ये पूर्वोक्त जन ब्रह्मवादियोंकरके निन्दित होते हैं और कपटकरके जिस व्रतका आचरण किया जाता है तिसको राक्षस ग्रहणकर लेते हैं ॥ १९९ ॥ और जो मूर्ख द्विज मेखला कमंडलु आदिसे युक्त हो ब्रह्मचारीके वेश करके आजीविका करता है वह ब्रह्मचारियोंके सब पापोंको ग्रहणकर लेता है और कुत्ता आदि बुरी योनियोंमें जन्मता है ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन । निपानकर्तुः स्नात्वा तु
दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥२०१॥ यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यान-
गृहाणि च । अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥

अर्थ—दूसरेके बनायेहुए नदी नाले आदिमें कभीभी स्नान नहीं करै दूसरेके जलाशयमें स्नान करनेवाला पुरुष बनानेवालेके चौथे हिस्सेके पापसे लिप जाता है ॥ २०१ ॥ शवारी शय्या आसन कूवा बगीचा घर इनको विनादिये हुयोंको भोगनेवाला पुरुष उस मालिकके चौथे हिस्सेके पापको भोगता है ॥२०२॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं ग-
र्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥ यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमा-
न्बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

अर्थ—नदीमें देवखात तलावोंमें सरोवरोमें वा, जहां झरनाका पानी आता हो तहां नित्य प्रति स्नान करै ॥ २०३ ॥ यमोंको निरंतर करे और नियमोंको नित्य नहीं करै जो पुरुष यमोंको नहीं करता है और केवल नियमोंको ही करता है वह गिरजाता है हिंसा न करना, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्यमें रहना, क्रोध न करना चोरी न करना ये ५ यम हैं गुरुकी टहैल शुचि थोडा हलका भोजन स्त्रीके पास सर्वदा न रहे ये नियम हैं ॥ २०४ ॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते
भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥ अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र
जुह्वत्यमी हविः । प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥२०६॥

अर्थ—वेदको न जाननेवालेसे कियेहुए यज्ञमें वा बहुतोंका यज्ञ करनेवालेके य-

ज्ञमें वा स्त्रीसे कियाहुये तथा नपुंसकका कियाहुये यज्ञमें ब्राह्मण कभीभी भोजन नहीं करै ॥ २०५ ॥ पूर्वोक्त अश्रोत्रिय आदिक जिस यज्ञमें होम करते है तहां श्रेष्ठ पुरुषोंको शुभदायक नहीं है और देवताओंको अप्रिय है इसवास्ते ऐसा न करे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नं च पदास्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥ भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया । पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

अर्थ—मदोन्मत्त क्रोधी रोगी इनके अन्नको कभीभी भोजन न करे और जिस भोजनमें बाल पडा हो वा कीट पतंग आदि जीव पडा हो जिसके पैर लगगया हो तिसको भोजन नहीं करै ॥ २०७ ॥ भ्रूणहत्यावाला तथा पशुवध आदि हत्यावाला पुरुषसे देखाहुआ वा रजस्वला स्त्रीसे स्पर्श कियाहुआ अन्नको वा पक्षीसे खायाहुआ वा कुत्तासे स्पर्श कियाहुआ अन्नको भोजन नहीं करै ॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घृष्टान्नं च विशेषतः । गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥ स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

अर्थ—गौ करके सूंघाहुआ अन्न वा कौन भोजन करेगा ऐसे बारंबार कहनेसे घृष्टान्न बहुतसे पुरुषोंका अन्न वेश्याका अन्न विद्वान् ब्राह्मणोंको भोजन करना निंदित है ॥ २०९ ॥ चोरी वा गायन विद्यासे आजीविका करनेवालेका अन्न तक्षकी अर्थात् सुतारकी वृत्तिसे जीविका करनेवालेका अन्न वा व्याजकी वृत्तिवालेका अन्न वा यज्ञमें दीक्षित हुआ पुरुषका अन्न वा निंदित पुरुष वा बेडी आदिसे बंधाहुआ पुरुषका अन्नको भोजन नहीं करे ॥ २१० ॥

अभिशस्तस्य षण्डस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥ चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः । उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ २१२ ॥

अर्थ—जो महापातक आदिकोकरके संसारमें निंदित हुआ पुरुषका अन्न नपुंसकका अन्न जारस्त्रीका अन्न दाम्भिक अर्थात् कपट करनेवालेका अन्न शुक्त पदार्थ खमीर आदि वासी, शूद्रका अन्न, जूठा अन्न, इनको भोजन नहीं करे ॥ २११ ॥ वैद्यका अन्न कसाईका अन्न क्रूर स्वभाववालेका तथा जूठा भोजन क-

रनेवालेका अन्न उग्र पुरुषका वा सूतिका स्त्रीकेवास्ते कियाहुआ अन्न और एक पंक्तिमें भोजन करतेहुए जो एक आदमी आचमन करलेवे वह अन्न दश-दिनतक सूतिकवालेका अन्न भोजन न करे ॥ २१२ ॥

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः । द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतिता-
न्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥ पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

अर्थ—पूजन करनेवालेको विना पूजन किये दियाहुआ अन्न वृथा मांस जिस स्त्रीके पुत्र पति न हो उसका अन्न वैरीका अन्न शहरकी पंचायतका अन्न, पतित पुरुषका अन्न जिसके उपर छींक दियाहो वह अन्न भोजन नहीं करे ॥ २१३ ॥ चुगलखोर वा झूठ बोलनेवालाका अन्न यज्ञके फलको बेचनेवालेका अन्न नट वा दरजीका अन्न वा कृतघ्नी पुरुषका अन्न भोजन नहीं करे ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्र-
विक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥ श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णे-
जकस्य च । राज्ञकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

अर्थ—लोहकार निषाद जाति नट गायन आदि तमासा करनेवाला सुनार इनका अन्न वांस काटनेवाला वा शस्त्र बनानेवालेका अन्न ॥ २१५ ॥ सिकारी कुत्ते पालनेवालोंका मदिरा बेचनेवालोंका वा धोबीका तथा वस्त्र रंगनेवालेका वा क्रूर पुरुषका अन्नको और जिसके घरमें जार पुरुष रहता हो तिसके घरका अन्नको भोजन नहीं करे ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः । अनिर्दशं च प्रेता-
न्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मव-
र्चसम् । आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

अर्थ—घरमें जार पुरुषको जानके तिसको जो सह लेते हैं तिनका अन्न और स्त्रीसे जीतेहुए पुरुषोंका अन्न जिसका दशदिनतक सूतक नहीं निकसा हो तथा पातकी पुरुषका अन्न और जिस अन्नसे तुष्टि न हो वह अन्न भोजन नहीं करना चाहिये ॥ २१७ ॥ राजाका अन्न तेजका नाश करता है शूद्रका अन्न वेदाध्ययन आदि तेजको नाशता है सुनारका अन्न आयुका नाश करता है चमारका अन्न यशका नाश करता है ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च । गणान्नं गणिकान्नं
च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥२१९॥ पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्या-
स्त्वन्नमिन्द्रियम् । विष्टा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् २२०

अर्थ—सूप आदि बनानेवालोंका अन्न संतानको नाशता है धोबीका अन्न बलको नाशता है बहुतसे सामिलहुए पुरुषोंसे दियाहुआ अन्न वा वेश्याका अन्न स्वर्ग आदि लोकोंसे गिरा देता है ॥ २१९ ॥ वैद्यका अन्न पीवके समान है जार स्त्रीका अन्न इंद्रियके वीर्यके समान है व्याजकी वृद्धिसे आजीविका करनेवालेका अन्न विष्टाके समान है शस्त्र बेचनेवालेका अन्न मैलके समान है ॥ २२० ॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः । तेषां त्वगस्थिरो-
माणि वदन्त्यन्नमनीषिणः ॥२२१॥ भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नमम-
त्या क्षपणं त्र्यहम् । मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च २२२

अर्थ—ए जो कहेहुए मनुष्य है और अन्य जो नहीं भोजन करनेलायक क्रमकरके कहदिये है तिन्होंके अन्नको भोजन करनेवाला पुरुष तिनकी त्वचा ह-
ड्डी रोम इनको भोजन करते है ऐसे पंडित जन कहते है ॥ २२१ ॥ इन पहले कहे हुयोंमें विना जानेंहुए जो किसीका अन्न भोजन कर लेवे तो तीन दिन उप-
वास व्रत करे और जानके भोजन कर लेवे तो कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करै ऐसेही वीर्य विष्टा मूत्र इनके भक्षण करनेमें प्रायश्चित्त कहा है ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः । आददीताममेवा
स्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥ श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्य-
स्य च वार्धुषेः । मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥

अर्थ—विद्वान् पुरुष पंचमहा यज्ञोंको नहीं करनेवाले शूद्रकै पकाये हुए अन्नको भक्षण नहीं करै किंतु अन्यका अन्न नहीं मिले तो एक रात्रिके निर्वाहकेवास्ते इस शूद्रसे कच्चा अन्नको ले लेवे ॥ २२३ ॥ श्रोत्रिय वेदका पढाहुआ पंडित कृपण हो और दान देनेवाला पुरुष व्याजकी वृद्धिकी आजीविका करनेवाला हो इनदोनु-
वोंके अन्नको देवते विचारके समान कहते है अर्थात् बराबर दोष है ॥ २२४ ॥

तान्प्रजापतिराहैत्यमाकृध्वं विषमं समम् । श्रद्धापूर्तं वदान्यस्य ह-

तमश्रद्धयेतरत् ॥२२५॥ श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।

श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अर्थ—ऐसे विचार करतेहुए देवताओंकेपास ब्रह्माजी आके बोलेकि तुम विषमको समान मत करो क्योंकि श्रद्धासे दियाहुआ वृद्धिजीविका अन्न पवित्र है और कृपण श्रोत्रियका अश्रद्धा करके दियाहुआ अपवित्र है इसवास्ते समान नहीं किंतु हत है ॥ २२५ ॥ श्रद्धाकरके और आलस्य रहित होके यज्ञआदिक और कूवा तलाव आदि सर्वदा करे क्योंकि न्यायसे संचित कियाहुआ धनसे श्रद्धाकरके कियेहुए ए दोनों अक्षय फलदायक अर्थात् मोक्षदायक होते है २२६

दानधर्म निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् । परितुष्टेन भावेन पात्र-
मासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेना-
नसूयया । उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

अर्थ—सत्पात्र ब्राह्मण प्राप्त हो जावे तब नित्य प्रति ऐष्टिक यज्ञादिक और पौर्तिक अर्थात् कूवा तलाव आदि करै और दानधर्मको आनंदसे युक्त होके करै ॥ २२७ ॥ मांगनें वालेको शक्तिके अनुसार कलु अन्न देवै और दूसरेकी निंदा और गुन नहीं करै क्योंकि ऐसे करनेसे कभी तैसाही पात्र मिल जावेगा जोकि सब संसारसे उतार देवेगा ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दी-
पदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥ भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हि-
रण्यदः । गृहदोऽग्न्याणि वेश्मानिरूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

अर्थ—जलका दान करनेवाला पुरुष पर लोकमें तृप्तिको प्राप्त होता है और अन्नको देनेवाला अक्षय सुखको प्राप्त होता है तिलोंका दान करनेवाला मनो-वांछित संतानको प्राप्त होता है ॥ २२९ ॥ पृथ्वीका दानकरनेवाला पुरुष अन्य जन्ममें पृथ्वीकोही प्राप्त होता है सुवर्णका दान देनेसे बड़ी आयु होती है घरका दान देनेसे उत्तम मकान प्राप्त होते है रूपयोंके दान देनेसे सुंदर रूपवान् होता है ॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुदः श्रियं पुष्टां
गोदो ब्रघ्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥ यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यम-

भयप्रदः । धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

अर्थ—वस्त्रका दान देनेवाला पुरुष चंद्रमाके समान लोंकोको प्राप्त होता है घोडाका दान देनेवाला अश्विलोकको प्राप्त होता है बैलका दान देनेवाला अत्यंत लक्ष्मीको प्राप्त होता है गौका दान करनेवाला सूर्य लोकको प्राप्त होता है ॥ २३१ ॥ रथआदि सवारी और शय्याका दान देनेवाला स्त्रीको प्राप्त होता है अभयदान देनेवाला ऐश्वर्यको प्राप्त होता है धान्यको देनेवाला बहुत कालतक सुखको प्राप्त होता है वेदका दान अर्थात् पढ़ानेवाला पुरुष ब्रह्मकी समानताको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीवासस्ति लकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥ येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्र- यच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

अर्थ—जल अन्न गौ भूमि वस्त्र तिल सुवर्ण घृत इन सब दोनोंमें वेदका दान विशेष कहा है ॥ २३३ ॥ जिस जिस अभिप्राय करके जो जो दान देता है उसी उसी भाव करके दूसरे जन्ममें पूजितहुआ प्राप्त होता है अर्थात् जन्मांतरमें उसी फलको प्राप्त होता है ॥ २३४ ॥

योर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥ न विस्मयेत तपसा वदेदिष्टा च ना- नृतम् । नातोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो विधि करके पूजित कियाहुआ दानको लेता है और जो दाता विधिसे दानको देता है वे दोनों स्वर्गमें जाते हैं और इनसे विपर्यय ऐसे नहीं करनेवाले नर- कमें जाते हैं ॥ २३५ ॥ चांद्रायण आदि तप करके यह दुष्कर अनुष्ठान मैंने कैसे किया ऐसा आश्चर्य नहीं करें और यज्ञ करके झूठ न बोले और पीड़ितहुआ भी ब्राह्म ह्यणोंकी निंदा न करे और दान देके किसीके आगे कहै नहीं ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् । आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥ धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव उत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

अर्थ—झूट बोलनेसे यज्ञका नाश हो जाता है आश्चर्य करनेसे तप नष्ट हो जाता है ब्राह्मणोंकी निंदा करनेसे आयु नष्ट हो जाती है कहनेसे दान नष्ट हो जाता है ॥२३७॥ परलोकमें हितकेवास्ते सब प्राणियोंको पीडा नहीं देताहुआ शनैः शनैः धर्मको इकट्ठा करे जैसे दीमक बांमीको बनाती है तैसें संचित करे ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥ एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

अर्थ—परलोकमें सहायकेवास्ते पिता माता नहीं ठहरते हैं और पुत्र स्त्री ज्ञाति बांधव येभी परलोकमें सहाय नहीं करते हैं किंतु अकेला धर्मही ठहरता है २३९ यह प्राणी अकेला जन्मता है और अकेलाही मरजाता है अकेलाही सुकृतको भोगता है और अकेलाही दुष्कृत अर्थात् बुरे कर्मको फलभोगता है ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥ तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—मृत शरीरको काष्ठलोहाका खंघर आदिकी तरह पृथ्वीमें त्यागके सब विरादर विमुख होके चलेजाते हैं अर्थात् जिवा नहीं सकते और कियाहुआ धर्म तिसके संग चलता है ॥ २४१ ॥ जोकि धर्मकी सहाय करके पुरुष दुस्तर नरकको तिर जाता है इसवास्ते शनैःशनैः नित्यप्रति सहायकेवास्ते धर्मको संचित करै ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् । परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ २४३ ॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह । निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधर्मास्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

अर्थ—धर्ममें तत्पर हुआ पुरुष तपकरके पापका नाशकरके स्वर्ग आदि परलोकको प्राप्त हो जाता है अथवा शरीररहित आनंदयुक्त ब्रह्म स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ २४३ ॥ अपने कुलकी उन्नतिकी इच्छा करनेवाला पुरुष सदा उत्तम पुरुषोंके साथ कन्यादान आदि संबंध करै और अधम पुरुषोंको छोड़ देवै ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति
प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥ दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैः-
संवसन् । अहिंसो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

अर्थ—उत्तम पुरुषोंके साथ संबंध करताहुआ और हीन पुरुषोंको त्यागताहुआ
ब्राह्मण श्रेष्ठताको प्राप्त होता है और इसके विपरीत हीन पुरुषोंका संग करनेसे
शूद्रकी तुल्य हीनताको प्राप्त हो जाता है ॥ २४५ ॥ निश्चय करनेवाला अर्थात्
प्रारब्धको मुख्य माननेवाला कोमल स्वभाववाला शीतलता गरमपनाको सहने-
वाला हिंसाकरके रहित क्रूर आचरणवाले पुरुषोंका संगको त्यागताहुआ ऐसा
पुरुष दम अर्थात् इंद्रियसंयम और दानकरके स्वर्गलोकको जीत लेता है ॥ २४६ ॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृहीयान्म-
ध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥ आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्ताद-
प्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

अर्थ—काष्ठ जल फल मधु अन्न और अभयदक्षिणा ये जो अयाचितवृत्ति-
से लब्ध होवे तो अर्थात् विना मांगेहुए मिले तो सबसे ग्रहण करे ॥ २४७ ॥ दे-
नेकी जगह ल्याईहुई सामने रखीहुई और लेनेवालेको पहले नहीं मांगीहुई ऐसी
सुवर्ण आदिकी भिक्षाको पाप करनेवालेसेभी ग्रहण करे यह ब्रह्माजीका मत है ॥ २४८ ॥

नाश्रन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च । न च हव्यं वहत्यग्नि-
र्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥ शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं
मणीन्दधि । धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥

अर्थ—जो तिस भिक्षाको ग्रहण नहीं करता है तिसके कियेहुए श्राद्धमें पितर
पंद्रह वर्षतक भोजन नहीं करते हैं और अग्नि उसके हवीको ग्रहण नहीं करता है
॥ २४९ ॥ शय्या घर कुशा कपूर आदि गंध जल पुष्प मणि दही धान मत्स्य दूध
मांस शाक इन्हींका तिरस्कार न करे अर्थात् विना मांगेहुए कोई देवे तो उलटा
लौटावे नहीं ॥ २५० ॥

गुरुन्भृत्याश्चोजिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीनां सर्वतः प्रतिगृहीयान्न
तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥ गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे
वसन् । आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृहीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

अर्थ—माता पिता आदि गुरु स्त्री आदि भृत्य क्षुधासे पीडितहुए इनकेवास्ते प-
तित पुरुषोंकेविना सबसे दान ग्रहण करे और देवता अभ्यागत इनके पूजनके-
वास्तेभी ग्रहण करे परंतु अपनीही तृप्तिकेवास्ते सबसे ग्रहण न करे ॥ २५१ ॥
गुरु अर्थात् माता पिताआदि मर जावे तब अथवा तिनके जीवतेहुएही उनसे
जुदा अन्य घरमें वसताहुआ पुरुष अपनी आजीविकाकेवास्ते सदा श्रेष्ठ पुरुषोंसे
दान ग्रहण करे ॥ २५२ ॥

**आर्थिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ । एते शूद्रेषु भो-
ज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥ यादृशोऽस्य भवेदात्मा
यादृशं च चिकीर्षितमायथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् २५४**

अर्थ—जो जिसकी खेती करता हो और कुलका मित्र गोपाल और जिसका
जो नाई हो वा दास हो अथवा जो अपनी आत्माको निवेदन करदेवे कि मैं
सदा आपहीके समीप वसूंगा ये सब शूद्रोंमें भोज्यान्न है अर्थात् जिसका जो दा-
स नाई आदिहै उसका अन्न भोजन करनेके योग्य है ॥ २५३ ॥ जिसका जैसा
कुल शील आदि हो और जो कर्म करनेकी इच्छा करता हो और जैसी इसको
सेवाकरनी योग्य हो तैसेही सब निवेदन करे अर्थात् मैं फलानाहूं फलाना
काम करूंगा इत्यादि कहदेवे ॥ २५४ ॥

**योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते । स पापकृत्तमो लोके
स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥ वाच्यार्था नियताः सर्वे वाङ्मूला
वाग्विनिःसृताः । तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः २५६**

अर्थ—जो शूद्र अन्यकोई श्रेष्ठपुरुषोंमें अपनेको अन्यथा बतलाताहै अर्थात् झूठ
बोलके नीच कुल आदिको उत्तम बतला देता है वह अत्यंत पापकरनेवाला चोर
है क्योंकि तिसनें सर्व प्रधान आत्माकी चोरी करी ॥ २५५ ॥ संपूर्णशब्द वाणी-
में बंधेहुए है और सबका मूल वाणीही है वाणीसेही निकलते है इसवास्ते जो मनुष्य
तिसवाणीको चोरता है वह संपूर्ण चोरी करनेवाला है ॥ २५६ ॥

**महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि । पुत्रे सर्वे समासज्य
वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते
हितमात्मनः । एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति २५८**

अर्थ—महर्षि पितर देवता इन्होंका ऋण यथाविधिसे देके अर्थात् स्वाध्याय पु-

त्रोत्पादन यज्ञकरनेसे इनका ऋणको दूरकर संपूर्ण कुटुंबके भारमें पुत्रको सौंपके सबमें-
ममता त्यागके ब्रह्मबुद्धिसे समदर्शी होके घरमेंही वास करै ॥ २५७ ॥ निर्जन ए
कांत स्थानमें अकेला नित्य आत्माके हितको चिंतवन करे क्योंकि अकेला होके
वेदोक्त ब्रह्मका अभ्यास करताहुआ पुरुष परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती । स्नातकव्रतकल्पश्च
सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥ अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेद-
शास्त्रवित् । व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

अर्थ—इस प्रकार यह गृहस्थ आश्रमवाले ब्राह्मणकी नित्य वृत्ति कही है और
स्नातकके व्रतकी विधि सतोगुणकी वृद्धिकरनेवाली श्रेष्ठ कही है ॥ २५९ ॥ इस-
विधिसे वर्तताहुआ वेदशास्त्रको जाननेवाला ब्राह्मण नित्य कर्मके अनुष्ठानसे पा-
परहित होके ब्रह्मलोकमें प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां चतुर्थो
ऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् । इदमृचुर्महात्मान-
मनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥ एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठ-
ताम् । कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

अर्थ—ऋषिलोग यथार्थ विधिसे कहेहुए स्नातकके इन धर्मोंको सुनके महात्मा
और अग्निसे उत्पन्न होनेवाले भृगुजीके प्रति यह बोलते भये किसी पुराणमें
भृगुजीकी उत्पत्ति अग्निसेभी कही है इसवास्ते यहां अग्निसे होनेवाले कहे ॥ १ ॥
हे प्रभो इस प्रकार कहेहुए धर्मका आचरण करतेहुए ब्राह्मणोंकी और वेदशास्त्र-
को जाननेवालोंकी मृत्यु कैसे होजाती है अर्थात् वेदोक्त पूर्ण आयु क्यों नहीं
होती है पहले मृत्यु क्यों होजाती है ॥ २ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः । श्रूयतां येन दोषेण
मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥ अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च
वर्जनात् । आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

अर्थ—मनुके पुत्र धर्मात्मा भृगुजी तिन ऋषियोंकेप्रति बोले कि जिस दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको अल्पकालमें मारता है सो आप सुनो ॥ ३ ॥ वेदोंका अभ्यास न करनेसे आचारके त्यागनेसे आलस्यसे शूद्रादिकोंके अन्नके दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको मार देता है ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च । अभक्ष्याणि द्विजाती-
नाममेध्यप्रभवानि च ॥ ५ ॥ लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्नप्रभवां-
स्तथा । शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ—लस्सन गाजर पियाज कukur मुत्ता ये अभक्ष्य शाक और विष्ठा मूत्र आदि अपवित्र जगहमें उत्पन्न हुआ चौलाई आदि शाकको द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये भक्षण न करे ॥ ५ ॥ लाल वर्णोंका वृक्षोंका गोंद और वृक्षोंके छेदन करनेसे निकसाहुआ गोंद आदि, शिवाल नवीन व्याईहुई गौका दूध खीश किनारि आदि ये सब यतनसे छोड़देवै ॥ ६ ॥

वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च । अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि
हवींषि च ॥ ७ ॥ अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

अर्थ—देवताके उद्देशविना तिलसहित खिचड़ी आदि पकाना वह वृथा कृसर कहाता है सो औ मोहनभोग खीर मालपूआ इत्यादिक सब पकान्न देवताके अर्पण कियेविना भोजन नहीं करने चाहिये और यज्ञमें उपाकृत कियेहुए पशुके मांसकेविना अन्यमांसको देवताके उद्देशके नैवेद्य आदि और निवेदन किये पहले पुरोडाश आदि हवि इनको भक्षण नहीं करै ॥ ७ ॥ दशदिन भीतरतक व्याईहुई गौ आदिका दूध वा, ऊंटनी घोड़ी वगैरे एक खुरवाले पशुका तथा भेडका दूध और ऋतुकाल होनेके समय गौ आदिका दूध तथा वच्छासे रहित गौका दूधको छोड़देवै ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्या-
नि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वे च
दधिसंभवम् । यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

अर्थ—भैसकेविना वनमें रहनेवाले मृग आदि सब पशुओंका दूध स्त्रीका दूध सड़ायाहुआ दहीका पानी इनको वर्जदेवै अर्थात् पीवे नहीं ॥ ९ ॥ शुक्त पदा-

थोंमें दही भक्षण करनेके योग्य है और दहीमें उत्पन्नहुए तक्र आदि तथा जो शुभ अर्थात् अविकारी पुष्प मूल कंद फल इन्होंको सडाके छानके पदार्थ बन-
ता है वहभी भक्षण करनेको योग्य है ॥ १० ॥

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वास्तथा ग्राम निवासिनः । अनिर्दिष्टांचैकश
फांष्टिद्विभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥ कलविङ्क प्लवं हंसं चक्राङ्गं
ग्रामकुक्कुटम् । सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

अर्थ—कच्चे मांसको खानेवाले गृध्र आदि सब पक्षियोंको वा ग्राममें रह-
नेवाले जीवोंको तथा गधा आदि अनिर्दिष्ट जीवोंको वा एक खुरवाले जीवोंके
मांसको वा टीडीके मांसको वर्ज देवै ॥ ११ ॥ चिडा परेव हंस चक्रवा ग्रा-
ममें रहनेवाला मुरगा सारस रज्जवाल पक्षी पपैया तोतामैना इनको वर्ज देवै
अर्थात् इनका मांस भक्षण न करे ॥ १२ ॥

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् । निमज्जतश्च मत्स्यादा-
न् शौनं वद्धूरमेव च ॥ १३ ॥ बकं चैव बलाकां च काकोलं
खञ्जरीटकम् । मत्स्यादान्विड्मराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रतुदसंज्ञक पक्षी अर्थात् चोचसे फाडके खानेवाले कोमल कपोत खा-
ती चिडा इत्यादिक पक्षी और पैरोंमें जालवाले वाज आदि पक्षी टिटवी पक्षी
नखसे फाडकर खानेवाले पक्षी वा पानीमें डूबके मछलीको खानेवाले पक्षी
इन सबका मांस मारनेके स्थानमें स्थितहुआ मांस वा सूखा मांस इनको भक्षण
न करे ॥ १३ ॥ बुगला बलाका करेखवा खंजनापक्षी मच्छोंको खानेवाले जीव
विष्ठाको खानेवाला सुवर सब प्रकारके मत्स्य इनका मांस भक्षण न करे ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद् उच्यते । मत्स्यादः सर्वमां-
सादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥ पाठीनरोहितावाद्यौ
नियुक्तौ हव्यकव्ययोः । राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥

अर्थ—जो जिसका मांसको खाता है वह उसीके मांसको खानेवाला कहाता है
और मत्स्यके मांसको खानेवाला पुरुष सबका मांस खानेवाला कहाता है इसवा-
स्ते तिनके मांसको वर्जदेवै ॥ १५ ॥ पाठीन और रोहू ये दो प्रकारकी मछली
देवकर्म हव्य और श्राद्धकर्ममें लीगई है तहां भक्षण करनी योग्य है और राजीव-
न रेषावाली मछली सिंहतुंडा मछली न्यायसे प्राप्तहुई इनको भक्षण करै ॥ १६ ॥

५ शाल्काजीतिवाली

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् । भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वा
न्यञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥ श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशा-
स्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वहुरनुष्टांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

अर्थ—अकेले विचरनेवाले सर्पादिक और विनाजानेहुए मृग पक्षी और भक्ष्य जीवों-
में कहेहुएभी विनाजाने सब पक्षी पंच नखोंवाले अर्थात् वानर आदि जीव इन-
को भक्षण न करे ॥ १७ ॥ सेह शल्यक सेहका भेद गोह गैदा कछुवा सूसा ये पां-
च नखवाले जीव भक्षण करने कहे है और एक तर्फको दांतोंवाले जीव ऊंट इ-
नको वर्जदेवै ॥ १८ ॥

छत्राकं विद्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृञ्जनं चैव
मत्या जग्ध्वा पतेद्विजः ॥ १९ ॥ अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं
सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

अर्थ—छत्राकशाक ग्राममें रहनेवाला सुवर लस्सन ग्राममें रहनेवाला मुरगा पि-
याज गाजर इनको दोषवाले जानकरकेभी जो द्विज अभ्याससे नित्य भक्षण कर-
ता है वह पतित होजाता है ॥ १९ ॥ इन पूर्वोक्त छहोंको विनाजानेहुए भक्षण
करके ग्यारहवा अध्यायमें कहाहुआ कृच्छ्र सांतपन व्रतको करै अथवा यतिचान्द्रा-
यण व्रतको करे इससे अलग लाल गोंद आदिको भक्षण करनेवाला पुरुष एक
दिन व्रत करे ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञा-
तस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥ यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग-
पक्षिणः । भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्यचरत्पुरा ॥ २२ ॥

अर्थ—द्विजाति पुरुष विनाजाने निषिद्ध वस्तुके खानेके दोषकी शांतिकेवास्ते
वर्षदिनमें एक प्राजापत्याख्य कृच्छ्र व्रतको करै और जानके खावे तो इससे वि-
शेष प्रायश्चित्त करे ॥ २१ ॥ ब्राह्मणोंको यज्ञकेवास्ते यथार्थ शास्त्रमें विहित मृ-
गपक्षी मारने चाहिये और अवश्य पालनाकरनेके योग्य मातापिता आदि भृत्यों-
केवास्तेभी मारनेयोग्य है क्योंकि पहले इसप्रकार अगस्त्यमुनि करते भये ॥ २२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् । पुराणेष्वपि यज्ञेषु
ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥ यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमग-

हितम् । तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—जो कि पहले पुराचीन ऋषियोंके यज्ञमें भक्ष्य मृगपक्षियोंके मांसकरके पुरोडाश होतेभये इसवास्ते अबके ब्राह्मणोंकोभी यज्ञकेवास्ते मृगपक्षियोंका वध करना योग्य है ॥ २३ ॥ जो कुछ मोदक आदि भक्ष्यपदार्थ अथवा भोज्यपदार्थ अनिदित है अर्थात् योग्य है वह वासी होजावे तो घृत आदि तथा दही आदिसे मिलाके खावे और पुरोडाशादि बाकी रहे चरुको स्नेह मिलायेबिनाही भक्षण करलेवे ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः । यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥ एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः । मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

अर्थ—जब गेहूं दूध इनसे बनाईहुई मिठाई कई दिनकी वासीभी हो और घृतसे रहित हो तोभी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनको भक्षण करनी योग्य है ॥ २५ ॥ द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनका भक्ष्याऽभक्ष्य अर्थात् भक्षण करनेके लायक वा नहीं भक्षण करनेके लायक संपूर्ण वस्तु कही है अब मांस भक्षणका निषेध और विधिको कहेंगे ॥ २६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया । यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥ प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् । स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंकी मांस खानेकी इच्छा हो तो प्रोक्षित कियेहुए अर्थात् यज्ञमें प्रोक्षणविधिसे शुद्ध कियेहुए मांसको भक्षण करे और जब प्राणोंका नाश होता है तब पीडाकी निवृत्तिकेवास्ते विधिके नियमसे मांस भक्षण करे ॥ २७ ॥ जीवके प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते यह सब अन्न ब्रह्माजीने बनाया है स्थावर धान्यव्रीहि-आदिक जंगम पशु आदिक यह सब प्राणोंका भोजन है इसवास्ते जीवकी रक्षाकेवास्ते मांसभोजन करे ॥ २८ ॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥ नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि । धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

अर्थ—हिरन आदिक जंगमजीवोंका अन्न तृण आदि कहे हैं और सिंह आदिके वास्ते हिरण आदि भक्षण है और हाथोंवालोंकेवास्ते विना हाथोंवाले मृग आदिक सुवर वीरोंकेवास्ते डरपोक ऐसे एकका एक भोजन हैं ॥ २९ ॥ भक्षण करनेके योग्य प्राणियोंको दिनदिन प्रति भक्षण करताहुआभी पुरुष दोषको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि विधाताकोही भक्षण करनेके योग्य प्राणी और तिनको भक्षण करने पुरुष रचदिये है ॥ ३० ॥

यज्ञाय जग्धिर्मां सस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः । अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥३१॥ क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्यपरोपकृतमेव वा । देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥

अर्थ—यज्ञकी संपत्तिकेवास्ते यज्ञनिमित्तक जो मांसका भक्षण कियाजाता है यह दैवविधि कहाती है इससे अन्यथा यज्ञकेविना जो मांस भक्षण कियाजाता है यह राक्षसी विधि है ॥ ३१ ॥ मोल लेके अथवा आप उत्पादन करके अथवा अन्य किसीने ल्याके दिया हुआ मांसको देवता पितर इनके अर्पण करके खाता हुआ पुरुष दोषको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः । जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः । यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ३४

अर्थ—विधिको जाननेवाला द्विज आपत्तिकालके विना देवता पितर आदिकोंके अर्पण कियेविना मांसको भक्षण नहीं करे और जो द्विज इस विधिके विना मांसको भक्षण करता है वह मरके जिनका मांस खाया है उन प्राणियोंकरके अवश हुआ भक्षण कियाजाता है ॥ ३३ ॥ धनकेवास्ते मृगोंको मारनेवाले व्याधको वैसा पाप नहीं है जैसा वृथा मांस अर्थात् यज्ञादिकके विना मांसको भक्षण करनेवालेको पाप है ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः । स प्रेत्य पशुतो याति संभवानेकविंशतिम् ॥३५॥ असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन । मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—श्राद्धमें अथवा मधुपर्कमें विधियुक्त मांसको जो मनुष्य भक्षण नहीं करता है वह मरके इक्कीस जन्मोंतक पशुयोनिमें प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ वेदविहित

मंत्रोंकरके विना संस्कार कियेहुए पशुओंके मांसको विप्र कभीभी नहीं भक्षण करे और मंत्रोंकरके संस्कार कियेहुए पशुवोंको यज्ञ आदिकमें नित्य भक्षण करे ॥ ३६ ॥

कुर्याद्धृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा । न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥ यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् । वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

अर्थ—घृतका पशु बनाके अथवा मैदा आदिकी पीठीका पशु बनाके तिसको भक्षण करै परंतु वृथा पशुको मारनेकी कभीभी इच्छा न करे ॥ ३७ ॥ देवताके उद्देशके विना जो वृथा अपनेहीवास्ते पशुको मारता है वह मरके जितने पशुके शरीरमे रोम है उतनेही जन्मोंमें माराजाता है इसवास्ते वृथा पशुवध न करे ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञस्य भूतयै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥ ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

अर्थ—ब्रह्माजीनें यज्ञके सिद्धिकेवास्ते आपही पशु रचे हैं यज्ञमें पशुवध करनेसे सब जगत्की वृद्धि होती है इसवास्ते यज्ञमें पशुवधका दोष नहीं है ॥ ३९ ॥ यज्ञकेवास्ते नाशको प्राप्त हुए व्रीहि यव आदि औषध पशु वृक्ष कछुवा आदि जीव पक्षी ये सब फिर अन्य उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥

मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥ एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्विजः । आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—मधुपर्क कर्म, अग्निष्टोमादिक यज्ञ पितृकर्म वा दैवकर्म इनमेंही पशुवध करनेयोग्य है अन्य जगह नहीं ऐसे मनुजीने कहा है ॥ ४१ ॥ इन मधुपर्क आदि कर्मोंमें पशुको मारता हुआ वेदके तत्वको जाननेवाला द्विज अपने आत्माको और पशुको दोनोंको उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः । नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥ या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे । अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

अर्थ—गृहस्थाश्रममें अथवा ब्रह्मचर्य आश्रममें वसता हुआ जितेंद्रिय द्विज वेदमें नहीं विहितकी हुई हिंसाको आपत्कालमेंभी न करे ॥ ४३ ॥ जो इस जगत्में वेदमें विहितकी हुई हिंसा है अर्थात् यज्ञादिकमें पशुवध आदि कहा है उसको अहिंसाही जानें क्योंकि वेदसे तो धर्मका प्रकाश होता है ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृत-
श्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥ यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न
चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो पुरुष बिना मारनेके योग्य हिरन आदि जीवोंको अपने सुखकी इच्छाकरके मारता है वह जीवता हुआ अथवा मरा हुआ कभीभी सुख नहीं पाता है ॥ ४५ ॥ जो पुरुष बांधना मारना इत्यादिक प्राणियोंके क्लेशोंको करनेकी इच्छा नहीं करता है वह सब जीवोंके हितकी इच्छा करनेवाला पुरुष अत्यन्त सुखको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यद्व्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्ययत्नेन यो
हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्प-
द्यते क्वचित् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—कछु हिंसा नहीं करनेवाला पुरुष जो कुछ धर्म आदि ध्यावता है और जो कुछ करता है अथवा जहां धर्म आदिमें धारणा करता है वह सब धर्म तिसको बिना यतन किये प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ प्राणियोंकी हिंसा किये हुए बिना कभीभी मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणियोंकी हिंसा करनी स्वर्गमें हित नहीं है इसवास्ते मांसको वर्ज देवै ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत
सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा
पिशाचवत् । स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

अर्थ—मांसकी उत्पत्तिको शुक्र शोणितके संगमसे जानके और तहां देहधारियोंके वध बंधनको देखके संपूर्ण मांसके भक्षणसे निवृत्त हो जावे अर्थात् किसी जीवका मांस भक्षण न करे ॥ ४९ ॥ जो पुरुष विधिको त्यागके पिशाचकी तरह मांसको भक्षण नहीं करता है वह जगत्में प्यारा होता है और रोगोंकरके पीडित नहीं होता है ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता
च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥ स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयि-
तुमिच्छति । अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ५२

अर्थ—जिसकी मरजी बिना मार न सके वह और पशुके अंगोंको काटके अलग
अलग करनेवाला मारनेवाला खरीदनें बेचनेवाला पकानेवाला वा हरनेवाला
खानेवाला ये सब पशुघातक है ॥ ५१ ॥ जो पुरुष देवता पितर आदिके
अर्पण कियेबिना पराये मांसकरके अपने शरीरके मांसको बढ़ानेकी इच्छा क-
रता है तिससे दूसरा कोई पापकारी नहीं है ॥ ५२ ॥

वर्षे वर्षेऽऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादे-
द्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥ फलमूलाशनैर्मध्वैर्मुन्यन्नानां
च भोजनैः । न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो पुरुष वर्ष वर्ष प्रति सौ वर्षतक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो को-
ई मांसोंको नहीं खाता है इन दोनोंको पुण्यका फल समान है ॥ ५३ ॥ पवि-
त्र फल मूल तथा सामक आदि मुनियोंके अन्नोके भोजन करके वह फल नहीं
प्राप्त होता है जोकि मांसके त्यागनेसे फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाइयहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं
प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥ न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च
मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिसका मांसको हम इस लोकमें भक्षण करते हैं वह हमको परलोकमें
भक्षण करेगा यह मांस खानेवालाका मांस भक्षयिता इसका अर्थ मुनि जनोंने
कहा है ॥ ५५ ॥ मांसके भक्षणमें दोष नहीं है और मदिराके पीनेमें तथा मैथुन-
में दोष नहीं है यह सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति स्वभावसेही है और इनकी निवृत्ति
अर्थात् त्याग करनेका महाफल है ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च । चतुर्णामपि वर्णानां य-
थावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थि-
ते । अशुद्धा बान्धवाः सर्वे स्रतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

अर्थ—चारों वर्णोंके यथावत् क्रमके अनुसार प्रेतशुद्धिको और द्रव्योंकी

शुद्धिको आगे कहेंगे ॥ ५७ ॥ दांत जांमें हो अथवा दांत उत्पन्न होनेके अनंतर वा चूडाकर्म होनेके अनंतर वा उपनयनकर्म होनेके अनंतर मरनेमें संपूर्ण सपिंड बांधव अशुद्ध हो जाते हैं और तैसेही सूतककालमें अशुद्ध हो जाते हैं ५८

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । अर्वाक् संचयनादस्था-
त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त-
ते । समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरेवेदने ॥ ६० ॥

अर्थ—सपिंड बांधवोंमें मृत पुरुषका अशौच पातक दशदिनतक लगता है और जो अग्निहोत्री और वेदकरके युक्त हो तिसके एकही दिनका अशौच है और तिससे हीन गुणवालेके तीन दिनतक तिससेभी हीन गुणवालेके अस्थिसंचयन-तक चार दिनका अशौच है और सब गुणोंसे रहित हो तो दशदिनतक होता है ॥ ५९ ॥ सात पुरुष व्यतीत हो लें तब अर्थात् सातवी पीढीमें सपिंडताका भाव छूट जाता है और जन्मकी तथा नामकी मालूम न रहे तब समानोदकभाव छूट जाता है अर्थात् सात पीढीके ऊपरके पुरुषोंकेवास्ते जलदानका प्रयोजन रहता है ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । जननेऽप्येवमेव स्या-
न्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥ सर्वेषां शावमाशौचं मातापि-
त्रोस्तु सूतकम् । सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जैसे यह शावाशौच कहा है अर्थात् मरनेमें सपिंड पुरुषोंमें अशुद्धि कही है तैसेही शुद्धिकी इच्छावाले पुरुषोंने जन्ममेंभी दशदिनतक अशुद्धि कही है ॥ ६१ ॥ मरनेमें जो अस्पृश्य अशौच है वह सब सपिंड पुरुषोंके समान है और बालकके जन्ममें अस्पृश्य अशौच मातापिताके है तिनमें पिता स्नान करनेसेही स्पर्श करनेको पवित्र है और माता दशमें दिन शुद्ध होती है ॥ ६२ ॥

निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति । बैजिकादभिसंब-
न्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥ अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरा-
त्रैरेव च त्रिभिः । शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

अर्थ—वीर्य निकलजानेमें स्नान करनेसे शुद्धि होती है और अन्यकी स्त्रीमें गर्भाधान करनेसे तहां वीर्यके निकसनेसे तीन दिनतक अशुद्धि रहती है ॥ ६३ ॥

जो सगोत्री पुरुष, मृतपुरुषका स्नान कराते है वे दशदिनमें शुद्ध होते है और जो जलदान देनेवाले है वे तीनदिनमें शुद्ध हो जाते है ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् । प्रेतहारैः समं तत्र द-
शरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥ रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे वि-
शुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

अर्थ—असपिंड गुरु मरजावे तिसका अंतेष्टीकर्म करनेवाला शिष्य गुरुके सपिंड पुरुषोंके समान दशदिनमें शुद्ध होता है ॥ ६५ ॥ तीसरे महीनेसे लेके छठे महीनेतक गर्भस्त्राव हो जावे तो जितने महीनोंका गर्भ होवे उतनेही दिनका अशौच है और रजस्वला स्त्री रजस्त्राव बंद होनेपर पांचवे दिन स्नान करनेसे शुद्ध होती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता । निर्वृत्तचूडकानां तु
त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥ ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा
बहिः । अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिनका चूडाकर्म न हुआ तिन बालकोंके मरनेमें सपिंड पुरुषोंके एकदिन रातकी अशुद्धि है और जिनका चूडाकर्म हो चुकाहो तिनके मरनेमें तीन दिनकी अशुद्धि है ॥ ६७ ॥ जो बालक पूरे दो वर्षका नहीं हुआ हो तिसको मरनेमें बांधवजन ग्रामसे बाहिर लेजाके मालाआदिकोसे भूषित कर शुद्धभूमिमें स्थापित कर देवें और कालांतरमें हड्डी गलजावे तब तिसका अस्थिसंचयन न करे ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठव-
त्यक्त्वा क्षपेयुर्यहमेव च ॥ ६९ ॥ नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवै-
रुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाग्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

अर्थ—इस बालकका अग्निदाहकर्म नहीं करना चाहिये और जलांजलिदान न देवै किंतु काष्ठकी तरह वनमें फैंक देवै और तीन दिनतक अशौच रखे ॥ ६९ ॥ तीन वर्षका बालक मरजावे तो उसकी जलांजलिक्रिया बांधवोंको न करनी चाहिये और जिसके दांत जामेंहुए हो अथवा नामकर्म किया गया हो उसकी करै ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् । जन्मन्येकोदकानां तु

त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥७१॥ स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्य-
न्ति बान्धवाः । यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥७२॥

अर्थ—सहाध्यायि ब्रह्मचारीके मरनेमें एकदिनका अशौच है और समानोदक
अर्थात् सात पीढीसे परै हों उनके जन्ममें तीन दिनका अशौच है ॥ ७१ ॥
जिस कन्याकी सगाई होगई हो और विवाह न हुआ हो उसके मरनेमें उसके
पति आदिकोंको तीन दिनका अशौच है और पिता आदिकोंकोभी तीन दिन-
का है विवाह होनेके पीछे सब अशौच पति आदिकोंकै है ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम् । मांसाशनं च नाश्रीयुः
शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥ सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौच-
स्य कीर्तितः । असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिवान्धवैः ॥७४॥

अर्थ—क्षार लवण अर्थात् कृत्रिम नमकसे रहित अन्नको भोजन करे और तीन
दिनतक नदी आदिकोंमें स्नान करे मांसको भक्षण न करे और अकेला पृथ्वीपे
सोवै ॥ ७३ ॥ यह जो मरनेमें अशौच कहा है सो पास रहनेवालोंको कहा है
और जो परदेशमें मराहो उसका अशौचसंबंधी बांधवोंकेवास्ते आगे कहेंगे ॥७४॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् । यच्छेषं दशरात्रस्य
तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥ अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशु-
चिर्भवेत् । संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो विदेशमें मराहो तिसको दशदिन नहीं हुएहो किंतु सुनें उस दिन-
से दशदिन पूरे होनेमें जो बाकी दिन रहे हों उतनेही दिनका अशौच है ऐसेही
जन्ममेंभी जाने ॥ ७५ ॥ दश दिन व्यतीत हो जानेंपर मृत पुरुषको सुनेंमें अ-
थवा बालकके जन्मको सुननेमें तीन दिनकी अशुद्धि है और वर्षदिन व्यतीत
होनेके बादपर देशके मृत पुरुषके सुननेमें सर्पिड बांधव स्नान मात्रसे शुद्ध हो
जाते है ॥ ७६ ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च । सवासा जलमाप्नुत्य
शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥ बाले देशान्तरस्थे च पृथक् पिण्डे
च संस्थिते । सवासा जलमाप्नुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

अर्थ—दश दिन व्यतीत होनेके पीछे मरनेको सुनके अथवा पुत्र जन्मको सु-

नके सपिंड बांधव वस्त्रसहित सचैल स्नान करके शुद्ध होजाते है ॥ ७७ ॥ जिसके दांत नहींहुए हों ऐसा बालक परदेशमें मरजावे और पृथक् पिंड अर्थात् सात पीढीसे बाहिर हो उसको सुनके वस्त्रसहित स्नान करनेसे बांधव मनुष्य शुद्ध होजाते है ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्याता चेत्पुनर्मरणजन्मनी । तावत्स्यादशुचिर्विप्रो
यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥ त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते
सति । तस्य पुत्रे च पत्न्या च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

अथ—दश दिनके भीतर जो यदि फिर मरना होजावे अथवा बालकके जन्म-
से दशदिन भीतर फिर अन्य बालकका जन्म होजावे तो तिस पहले वालेके
दशदिन होवें तबतक अशुद्धि रहती है ॥ ७९ ॥ आचार्य मरजावे तब शिष्यके
तीन रात्रीका अशौच है और आचार्यका पुत्र मरे अथवा स्त्री मरे तब एक दि-
नरातका अशौच है ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । मातुले पक्षिणीरात्रिं शि-
ष्यर्त्विग्वान्धवेषु च ॥ ८१ ॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्वि-
षये स्थितः । अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

अर्थ—वेदशास्त्रको पढानेवाला श्रोत्रियके मरनेमें तीन रात्रितक अशुद्धि रहती
है और मामा शिष्य ऋत्विक् असपिंड बांधव इनके मरनेमें डेढ दिनका अशौच
रहता है ॥ ८१ ॥ ब्राह्मण आदिवर्ण जिस राजाके राज्यमें वसते हों वह राजा
मर जावे तब उनके एकदिनका अशौच है दिनके मरनेमें दिनभरका रात्रिके म-
रनेमें रात्रिभरका और वेदका पढाहुआ श्रोत्रियके मरनेमें तीनदिनका बिनापढा-
हुआ श्रोत्रिय जिसके घरमें मरजावे उसके एकदिनका और वेदको पढानेवाला
गुरुके मरनेमें एकदिनका अशौच है ॥ ८२ ॥

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन
शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥ न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्नि-
षु क्रियाः । न च तत्कर्म कुर्वाणः स नाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके सपिंड पुरुष मरनेमें दशदिनका अशौच है क्षत्रिय बारह दि-
नमें शुद्ध होता है और वैश्य १५ दिनमें शुद्ध होता है शूद्रके अशौच होनेमें १ म-
हीनामें शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ अशौचके विशेष दिन नहीं बढ़ावे क्योंकि अ-

स्थिसंचयनसे पहलेतक अशौच रहता है यह अशौचका संकोचकाल पहले कह-
दिया है इसवास्ते अग्निहोत्र आदि कर्मोंको करे और आप न कर सके तो पु-
त्र आदिकोंसे करवावै अग्निहोत्र आदि कर्म करताहुआ पुरुष अशुचि नहीं
होता है ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्या च पतितं स्नानं तथा । शवं तत्स्पृष्टिनं
चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यं ज-
पेदशुचिदर्शने । सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तिः ८६

अर्थ—चांडाल रजस्वला स्त्री ब्रह्मघाती आदि पतित दश दिनतक प्रसूस्त्री मुरदा
मुरदाको स्पर्श करनेवाला पुरुष इनके छूनेसे स्नान करके शुद्ध होता है ॥ ८५ ॥
श्राद्धआदि करनेकी इच्छावाला पुरुष स्नान आचमन आदि करके शुद्ध हो रहा
हो तब चांडाल आदिके दर्शनहो जानेमे उदुत्यं जात वेदसे, इत्यादिक सूर्य दे-
वताके मंत्रोंको यथाशक्ति जपै ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति । आचम्यैव तु
निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७ ॥ आदिष्टी नोदकं कुर्या-
दाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ८८

अर्थ—स्नेहयुक्त मनुष्यकी हड्डीको स्पर्श करनेमे स्नान करनेसे शुद्ध होता है
और स्नेहविना मनुष्यकी हड्डीछुह लेवे तो आचमन कर गौका स्पर्शकर और सू-
र्यके दर्शनकर शुद्ध हो जाता है ॥ ८७ ॥ व्रतके आदेशवाला ब्रह्मचारी व्रतकी
समाप्तिपर्यंत उदकदान अर्थात् षोडशी आदि प्रेतकर्म नहीं करे और व्रतकी स-
माप्ति हो जावे तब प्रेतोदकदान करके तीन दिनतक अशुद्ध रहता है यह विषय
मातापिताके मरनेसे अन्य जगह है ॥ ८८ ॥

वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् । आत्मनस्त्यागिनां
चैव निवर्ततोदकक्रिया ॥ ८९ ॥ पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां
च कामतः । गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

अर्थ—वे प्रयोजन विशेष करके अपने धर्मको त्यागनेवाले संकरोंकी अर्थात्
हीन वर्ण करके उत्तम स्त्रियोंमें जन्मेंहुए वर्ण संकरोंकी और जहरखानें आदिसे
अपने शरीरको त्यागनेवालोंकी और वेदके पढ़ेहुएविना गेरूमें कपड़े रंगके सं-
न्यास धारण कियेहुयोंकी षोडशी आदि उदक क्रिया, प्रेत क्रिया नहीं करनी

चाहिये ॥ ८९ ॥ जो पुरुष गेरू आदिमें कपड़े रंगके पाषंड धारण करके विचरते हैं और वेदसे विरुद्ध रहनेवाले हैं उनकी और इच्छापूर्वक विचरनेवाली जार स्त्रियोंकी और गर्भपात करानेवाली तथा भर्त्तासे द्रोह करनेवाली वा, मदिरा पीनेवाली स्त्रियोंकी प्रेतक्रिया न करे ॥ ९० ॥

आचार्य स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् । निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न
व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ।

पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

अर्थ—उपनयन करानेवाला संपूर्ण वेदको पढ़ानेवाला अपना आचार्य, किंवा पिता माता गुरु इन्हींकी प्रेतक्रिया दश रात्र कर्म करनेसे ब्रह्मचारीके व्रतका लोप नहीं होता है ॥ ९१ ॥ मरेहुए शूद्रको ग्रामके दक्षिणकी तर्फवाले दरवाजेसे निकाले वैश्यको पश्चिमके दरवाजेसे क्षत्रियको उत्तरके दरवाजेसे और ब्राह्मणके मुरदेको पूर्वके दरवाजेसे निकाले ॥ ९२ ॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् । ऐन्द्रं स्थानमुपा-
सीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥ राज्ञो माहात्मिके स्थाने
सद्यः शौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चान्नकारणम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—राजाके सपिंड पुरुषके मरने जन्मनेमेंभी सूतक नहीं लगता है क्योंकि राजाओंके राज्याभिषेक इंद्रका स्थान प्राप्त हो जाता है और चांद्रायण आदि व्रत करनेवाले वा यज्ञ करनेवालोंकेभी सूतक नहीं लगता है क्योंकि ये सदा ब्रह्मके समान निष्पाप रहते हैं ॥ ९३ ॥ राजाओंके माहात्मिक स्थान अर्थात् महात्माका स्थान यह राज्यकी पदवी है तिसमें स्थितहुए राजाकी तात्काल शुद्धि हो जाती है क्योंकि प्रजाकी रक्षाका और दुर्भिक्ष आदिमें अन्नदान देनेका हेतु यह राज्यका आसन है और राज्यसे रहित क्षत्रियोंके तात्काल शुद्धि नहीं है ॥ ९४ ॥

डिंवाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च । गोब्राह्मणस्य चैवार्थे
यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ता-
पत्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

अर्थ—विनाराजाके युद्धमें मरेहुयोंका और बिजलीसे मरेहुयोंका तथा राजाको दंड देके फांसी आदिसे मराये हुयोंका गौ ब्राह्मणकेवास्ते मरनेवालोंका और जिसको राजा अपना पुरोहित आदि मानता हो उसका सूतक नहीं लगता है

॥ ९५ ॥ सोम अग्नि सूर्य वायु इंद्र यम द्रव्यका पति कुबेर, वरुण इन आठ लोक पालोंका संबंधी देहको राजा धारण करता है ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

अर्थ—इंद्रआदि लोकेशोंके अंशसे राजा होता है इसवास्ते इस राजाके अशौच नहीं है क्योंकि मनुष्योंका शौच अशौच जो है वह लोकेशों करके नष्ट हो जाता है इसवास्ते लोकेश्वरोंके रूपवाला राजाके अशौच कहां है ॥ ९७ ॥ युद्ध होतेहुए सन्मुख होके जो शस्त्रों करके मरजाता है क्षत्रधर्ममें रत रहता है तिसको तात्काल अग्निष्टोमादिक यज्ञका फल प्राप्त होता है और तात्कालही उसका सूतक निवृत्त हो जाता है यह इस शास्त्रमें मर्यादा है ॥ ९८ ॥

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥ एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः । असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

अर्थ—अशौचके अंतमें श्राद्धआदि क्रिया करनेवाला विप्र जलका स्पर्श आचमन करके शुद्ध हो जाता है और क्षत्रिय वाहन शस्त्र आदि स्पर्श कर वैश्य बैलके हांकनेके चाबुकको पकड़के शूद्र लाठीको पकड़नेसे शुद्ध होता है ॥ ९९ ॥ हे द्विजाहो आपके आगे सपिंड पुरुषोंमें होनेवाला यह अशौच सूतक कहा है अब असपिंड अर्थात् सात पीढ़ीसे बाहिरके पुरुषोंमें होनेवाली प्रेतशुद्धिको सुनों १००

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् । विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुरासांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥ यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति । अनदन्नन्नमहैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण असपिंडमें मरेहुए द्विजकी स्नेहकरके प्रेतक्रिया करनेसे अथवा माताके बांधवआदि वा बहैन आदिकोंकी दाहआदि क्रिया करनेसे तीन दिनमें शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥ असपिंड पुरुषकी दाहआदि क्रिया करनेवाला पुरुष जो यदि मृत पुरुषके घरमें रहे और अन्न खावे तो दशदिनमें शुद्ध होता है यदि तिनका अन्न न खावे और तिनके घरमें न रहे तो एकदिनका है जो यदि तिनके घरमें रहै और अन्न न खावे तो पूर्वोक्त तीन दिनका सूतक है ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च । स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं
घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥ न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण
नाययेत् । अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

अर्थ—मरेहुए सगोत्री मुरदेके संग अथवा विना गोत्रके मुरदेकेसंग दाहकर्ममें जाके सब वस्त्रोंसहित स्नानकर अग्निका स्पर्शकर घृतका भोजन करनेसे शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ अपनी उत्तम जातिके जन होतेहुए ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णके मुरदेको शूद्र करके ले जाके नहीं जलावे क्योंकि शूद्रके स्पर्श करके दूषित होनेसे शरीरकी आहुति स्वर्गकेवास्ते हित नहीं होती है ॥ १०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपांजनम् । वायुः कर्मार्ककालौ च
शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं
स्मृतम् । योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्धारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥

अर्थ—ज्ञान तप अग्नि आहार मृत्तिका मन जलका मसलना वायु यज्ञादिक कर्म सूर्यकाल ये सब करनेवालोंकी शुद्धि करनेवाले हैं ॥ १०५ ॥ इन पूर्वोक्त सब शुद्धियोंमें द्रव्यका शौच परमश्रेष्ठ है अर्थात् अन्याय करके पराये धनको हरनेकी इच्छाको छोड़देवे यह श्रेष्ठ है जो इस प्रकार धनमें शुचि है वही पवित्र है जो मृत्तिकासे अथवा जलसे पवित्र रहता है और इस प्रकार धनमें शुचि नहीं है वह अशुद्धही है ॥ १०६ ॥

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः । प्रच्छन्नपापा
जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥ मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी
वेगेन शुद्ध्यति । रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः १०८

अर्थ—क्षमा करके विद्वान् शुद्ध होजाते हैं अकर्तव्यकर्मको करनेवाले पुरुष दान देनेसे शुद्ध होते हैं जिनके गुप्त पाप हों वे अप्रकट पापवाले पुरुष गायत्री आदि जप करके शुद्ध होते हैं वेदको जाननेवाले विद्वान् तप करके शुद्ध होते हैं १०७ मल आदिकोंसे दूषित हुई वस्तु मृत्तिकासे और जलसे शुद्ध होती है और परपुरुषके संग मैथुनकी इच्छा करनेवाली मनसे दूषित हुई स्त्री महीना महीनाके आर्त वसे शुद्ध होती है और संन्यास करके द्विजोत्तम शुद्ध होता है ॥ १०८ ॥

अग्निर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति । विद्यातपोभ्यां

भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥ एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारी-
रस्य विनिर्णयः । नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ११०

अर्थ—जल करके शरीर शुद्ध होते हैं सत्य वचन बोलनेसे मन शुद्ध होता है
ब्रह्मविद्या करके और तप करके जीवात्मा शुद्ध होता है ॥ १०९ ॥ यह शरीर-
संबंधी शौचका निर्णय हमने आपके प्रति कहा अब अनेक प्रकारके द्रव्योंकी
शुद्धिके निर्णयको सुनो ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीना च सर्वस्याश्ममयस्य च । भस्मनाद्भिर्मृदा चैव
शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥ निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव
विशुद्ध्यति । अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—सुवर्ण आदि धातु मरकत आदि मणि सब प्रकारके पत्थर इनकी शुद्धि
राख मिट्टी जल इन करके होती है ऋषिजनोंकरके ऐसे कही है ॥ १११ ॥ जिसमें
उच्छिष्ट न लगा हो वह सोनेका बरतन सीप मोती शंख इत्यादि जलमें होनेवाले
और पत्थरके बरतन वा जिसमें नखासी, न कीहो, वे चांदीके बरतन ये सब रा-
खकेबिना जलसेही शुद्ध हो जाते हैं ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्वभौ । तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव
निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥ ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः
सीसकस्य च । शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ११४

अर्थ—अग्नि और जलके संयोगसे चांदी सोना हुआ है इसवास्ते इन दोनों-
की शुद्धि अग्नि जल इन करके करै क्योंकि अपने कारण करके शुद्धि करना यह
अति श्रेष्ठ है अग्निसे तपाके जलसे धोवै यह प्रकार है ॥ ११३ ॥ तांबा लोहा
कांसी पीतल रांग सीसा इनकी शुद्धि क्षार खटाईका पानी और पानी इन कर-
के यथायोग्य देखके करै जैसे तांबाको खटाईसे, कांसीको राखसे इत्यादि
क्रमसे ॥ ११४ ॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानां च
दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना
यज्ञकर्मणि । चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

अर्थ—काक कीट आदिसे दूषित हुए घृत तैल आदि द्रव पदार्थोंकी शुद्धि

पिघलाके छाननेसे और कुशासे उत्प्लवन करनेसे शुद्धि होती है शय्या आदिकों-
की प्रोक्षण करनेसे शुद्धि होती है काष्ठ लकड़ी आदिकी छीलनेसे शुद्धि होती
है ॥ ११५ ॥ यज्ञके चमस संज्ञक और ग्रहसंज्ञक पात्रोंकी शुद्धि धोनेसे होजाती
है और यज्ञके अन्य पात्रोंकी शुद्धि हाथसे मार्जन करनेसे होजाती है ॥ ११६ ॥

चरुणां सुक्खुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा । स्फ्यशूर्पशकटानां
च मुसलोद्धखलस्य च ॥ ११७ ॥ अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां
धान्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ११८

अर्थ-चरु घृतसे युक्त साकल्य सुवा इन यज्ञकी सामग्रियोंकी शुद्धि गरम
जलसे धोनेसे होती है और स्फ्य यज्ञका पात्र विशेष रूप गाढा मूसल ऊखल
इनकी शुद्धिभी गरम जलके धोनेसे होती है ॥ ११७ ॥ बहुतसा इकट्ठा धान्य
और बहुतसे वस्त्रोंकी शुद्धि जलके छिड़क देनेसे हो जाती है और थोड़े धान्य
वस्त्रोंकी शुद्धि जल करके धोनेसे होती है ॥ ११८ ॥

चेलवच्चर्मणां शुद्धिर्बैदलानां तथैव च । शाकमूलफलानां च धा-
न्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥ कौशेयाविकयोरूपैः कुतपानाम-
रिष्टकैः । श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

अर्थ-स्पर्श करनेके योग्य चमड़ेकी शुद्धि और चटाई आदिकी शुद्धि वस्त्रकी
तरह होती है और शाक मूल फल इनकी शुद्धि धान्यकी तरह होती है ॥ ११९ ॥
पाटके वस्त्रोंकी और भेड़के उनके कंवल आदिकोंकी शुद्धि क्षार वा उपर भूमि-
मृत्तिकासे होती है और नैपालके कंवल आदिकोंकी शुद्धि रींठीसे होती है
और तृणआदिकोंके कपडोंकी शुद्धि बेलफल लगाधोनेसे होती है रेशमी वस्त्रों-
की शुद्धि पीले सरसवके चूर्ण लगाधोनेसे होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छंखशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च । शुद्धिर्विजानता कार्या
गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥ प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव
शुद्ध्यति । मार्जनोषाञ्जनैर्वैश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

अर्थ-शंख सींग हस्तीदांतआदि अस्थि इनकी शुद्धि रेशमी वस्त्रकी तरह करै
अथवा जाननेवाले पुरुषको गोमूत्र और जल करके शुद्धि करनी चाहिये ॥ १२१ ॥
घास, लकड़ी और फूसआदिकी शुद्धि छिड़कनेसे होती है और लीपनेसे घरकी

शुद्धि होती है और मृत्तिकाका वर्त्तन अर्थात् वखेसकोरे आदिकी शुद्धि फिर आगमें देनेसे होती है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा शीवनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः
पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥ संमार्जनोपाजनेन सेकेनोलेखनेन
च । गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

अर्थ—शराव, मूत्र, विष्ठा, थूक, पीव, और रक्त इन करके विगडाहुआ मि-
ट्टीका पात्र फिर पकानेसेभी नहीं शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ वहारनेसे लीपनेसे
गोमूत्रआदिके छिडकनेसे कुछ जमीन खोदनेसे और गौवोंके वसनेसे इन पांचों-
से भूमिकी शुद्धि होती है ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम् । दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षे-
पेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च
तत्कृतः । तावन्मृद्धारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

अर्थ—पक्षी करके खायाहुवा है कोई भाग जिसका और गौ करके सूंघा हुआ
और पैर करके मसलाहो या ऊपर उसके छींक दिया हो और किडे तथा केश
अर्थात् बाल इन करके दूषित होतो ऐसे अन्नमें मृत्तिका डालनेसे शुद्धि होती है
॥ १२५ ॥ अमेध्य अर्थात् विष्ठा मूत्र आदिकी दुर्गंध और लेप नहीं जाय, तब-
तक उसके मिट्टी लगाके जलसे धोवे तब संपूर्ण द्रव्यकी शुद्धि होती है ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्भिर्नि-
र्णितं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥ आपः शुद्धा भूमिगता
वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् । अव्यसाश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः २८

अर्थ—देवताओंने ब्राह्मणोंके ये तीन पवित्र कहे हैं एकतो जो नहीं देखाहो
दूसरा जलसे धो लिया है ३ ब्राह्मणकी वाणी करके ठीक ठीक सराहा गयाहो ये
तीन हैं ॥ १२७ ॥ जिस जल करके प्यासी गौ तृप्त होजावे और विष्ठा आदि
अपवित्र वस्तुसे लिप्त न हो गंध वर्ण रस इनसे युक्त हो ऐसा जल शुद्ध भूमिमें
स्थित हो वह शुद्ध है ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् । ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं
नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥ नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणा

शकुनिः फलपातने।प्रसवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः १३०

अर्थ—मालाकार आदिकोंका हाथ सदा शुद्ध है और दुकानमें जो बेचनेको रक्खा है वह सब शुद्ध है और ब्रह्मचारीकी भिक्षा सदा पवित्र है ऐसी यह इस शास्त्रमें व्यवस्था है ॥ १२९ ॥ स्त्रियोंका मुख सदा शुद्ध है और चोंचसे वृक्ष परसे फलके गिरानेमें काक आदि पक्षी शुद्ध है गौको दुहनेमें बछरा शुद्ध है और मृगकी सिकार पकड़नेके समय कुत्तेको मुख शुद्ध है ॥ १३० ॥

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् । क्रव्याद्विश्र हतस्या-
न्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः॥१३१॥ ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि
मेध्यानि सर्वशः । यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाश्चैव मलाश्च्युता १३२

अर्थ—कुत्ताकरके माराहुआ मृगआदिका जो मांस है वह पवित्र है ऐसे मनु-
जीनें कहा है और व्याघ्र चील्ह चांडाल कसाई इत्यादिकोंसे हत कियाहुआ का-
भी मांस पवित्र है परंतु यह व्यवस्था पूर्वोक्त श्राद्धादिकोंमेंही है ॥ १३१ ॥ ना-
भिसे ऊपरके जितने मनुष्यके शरीरमें छिद्र है वे सब पवित्र है और नाभिसे नी-
चेके छिद्र अशुद्ध है और शरीरसे निकसेहुए मल अशुद्ध है ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषच्छाया गौरश्वः सूर्यरशमयः । रजो भूर्वायुरग्निश्च
स्पर्शे मेद्व्यानि निर्दिशेत्॥१३३॥ विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्या-
देयमर्थवत् । दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि १३४॥

अर्थ—मांखी बोलनें समय मुखसे निकसे सूक्ष्म सूक्ष्म जलके कणके छाया गौ
अश्व सूर्यकी किरण धूल भूमि वायु अग्नि ये सब चांडाल आदिके स्पर्श हुएभी
स्पर्शमें शुद्ध है ॥ १३३ ॥ मल मूत्रका त्याग कियाजाता है जिससे उसकी शु-
द्धिकेवास्ते अर्थात् गुदा आदिकेवास्ते मिट्टी जलको ग्रहण करे जितनेसे दुर्गंध
आदि जावे उतना ग्रहण करे और शरीरमें होनेवाले जो बारह मल है उनकी
शुद्धिकेवास्ते मृत्तिका और जलको ग्रहण करे ॥ १३४ ॥

४ म वसा शुक्रं सृज्ज्जा मूत्रविट् प्राणकर्णविट् । श्लेष्माश्रु दूषिका
स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥ एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्त-
थैकत्र करे दश । उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

अर्थ—वसा अर्थात् मांसकी चरबी वीर्य रक्त मज्जा मूत्र विष्टा नासिका का-

मल कानका मैल कफ आंखिका मैल पसीना ये बारह शरीरके मल है । १३५ ॥
विष्ठा मूत्रके त्यागके समय जलसहित मृत्तिका पेशावकी जगह एकवार लगाके
धोवे और गुदामे तीन बार मिट्टी लगाके धोवे और शुद्धिकी इच्छा करनेवा-
लेको दोनों हाथोंमें सातवार मिट्टी लगानी चाहिये ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं स्याद्वनस्था-
नां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥ कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्या-
चान्त उपस्पृशेत् । वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्वंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

अर्थ—ये शुद्धि गृहस्थी पुरुषोंकी है और ब्रह्मचारीको इससे दूनी और वनमें
रहनेवालेको तिगुनी और यतीपुरुषोंको चौगुनी इस प्रकार शरीरकी शुद्धि कर-
नी ॥ १३७ ॥ मल मूत्र करनेके पीछे शुद्ध होके आचमन करे और नेत्रादिकों-
को हाथसे स्पर्श करे और वेद पढ़नेके समय तथा भोजनके पीछे निश्चै आच-
मन करे ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् । शारीरं शौचमिच्छ-
न्हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥ शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं
न्यायवर्तिनाम् । वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् १४०

अर्थ—शरीरके पवित्र करनेकी इच्छा करनेवाला आदमी प्रथम तीन आचमन
करे दोवार मुखकों हाथसे पानी लगाके धोवे और शूद्र तथा स्त्री एकही बार
आचमन करनेसे शुद्ध होते हैं ॥ १३९ ॥ यथार्थ शास्त्रकी रीतिसे चलनेवाले
शूद्रको मुंडन महीनेभरमें कराना चाहिये और वैश्योंकी तरह सूतकादिकोंमें तथा
द्विजोंका उच्छिष्ट भोजन करे ॥ १४० ॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः । न श्मश्रूणि गतान्या-
स्यन्ति दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥ स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आ-
चामयतः परान् । भौमिकैस्ते समाज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

अर्थ—मुखसे जो थूकके कणके शरीरमें पड़ते हैं वे शरीरको अशुद्ध नहीं करते
और तैसेही मुखमें गई मूँछेंभी अशुद्ध नहीं होती और दांतोंके अंतरमें अर्थात्
दांतोंके बीचमें रहा हुआ अन्नभी अशुद्ध नहीं कहाता है ॥ १४१ ॥ दूसरेको
आचमन करातेहुए जो बिंदु पैरोंको स्पर्श करती हैं वे भौमिक अर्थात् उच्छिष्ट

भूमिमें गिरेहुए जलकी समान हैं इसवास्ते तिन गिरती हुई बिंदुवोंसे आचमन नहीं करे ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन । अनिधायैव तद्रव्यमा-
चान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥ वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृ-
तप्राशनमाचरेत् । आचामेदेव भुत्कान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् १४४

अर्थ—उच्छिष्ट वस्तुकरके स्पर्श कराहुआ जो गल आदि अंगोंका गहना उसको बिना निकालेही आचमनकरके मनुष्य शुद्ध होता है और वह गहनाभी शुद्ध होजाता है ॥ १४३ ॥ जो मल त्यागनेके समय छर्दिहुई होवे तो स्नान करके कुछिक घृत भोजन करे और भोजन करके वमन किया हो तो आचमन करे और मैथुनकरके स्नान करना चाहिये ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्तवानृतानि च । पीत्वापोऽध्ये-
ष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो
द्रव्यशुद्धिस्तथैव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत १४६

अर्थ—सोकरके, छींकनें करके भोजन करके थूकनें करके झूठ बोलनेकरके जल पीने करके पढनेंके समय शुद्ध हुआ पुरुषभी आचमन करे ॥ १४५ ॥ यह संपूर्ण शौचविधि और द्रव्योंकी शुद्धि तुम्हारे आगे कही अब संपूर्ण वर्णोंकी स्त्रियोंके धर्म सुनो ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता । न स्वातन्त्र्येण क-
र्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥ बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणि-
ग्राहस्य यौवने । पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रमाम् १४८

अर्थ—बालक अवस्थामें अथवा जवान अवस्थामें वा वृद्ध अवस्थामें स्त्रीको घरोंमें अपनी मरजीसे कुछभी कृत्य नहीं करना चाहिये अर्थात् भाई पति पुत्र आदिकोंके आधीन रहै ॥ १४७ ॥ स्त्री बालकपनेमें पिताके वशमें रहै जवान अवस्थामें पतिके वशमें रहै और पति मरजावे तब पुत्रोंके वशमें रहै परंतु स्त्री कभीभी स्वतंत्र अपने आधीन न रहे ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः । एषां हि विरहेण स्त्री
गर्ह्य कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु

दक्षया । सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

अर्थ—स्त्रीको पिता भर्ता पुत्र इनकेसंग वैरकरके वियोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इनसे अलग होनेमें स्त्री दोनों कुलोंको निन्दित करती है ॥१४९॥ सदा भर्ता कुपित होजावे तबभी, घरके कृत्योंमें सुंदर चतुराई करके वरतन आदिकोंको मांजनेंकरके अच्छी तरहसे रहना चाहिये और खरचमें थोडा धन देना ऐसे स्त्रीको रहना चाहिये ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः । तं शुश्रूषेत जीव-
न्तं संस्थितं च न लंघयेत् ॥१५१॥ मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां
प्रजापतेः । प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—इस स्त्रीको पिता जिसकेवास्ते देदेता है अथवा पिताकी आज्ञासे भ्राता देदेता है तिस अपने पतिकी जीवतेहुए सदा सेवा करै और मरेंपीछे इसके श्राद्धादि करे व्यभिचार न करे ॥ १५१ ॥ इन स्त्रियोंको विवाहोंमें जो स्वस्त्ययन और प्राजापत्य होम कियाजाता है सो मंगलकेवास्ते अर्थात् मनोवांछित संपत्तिकेवास्ते है और वाग्दान सगाई करना पतिके मालिक होनेका कारण है ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्वसंस्कारकृतपतिः ॥ सुखस्य नित्यं दातेह
परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥ विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा प-
रिवर्जितः । उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

अर्थ—विवाहहुआ पति, स्त्रीकूं ऋतुसमय तथा संपूर्ण समयमें इस लोकमें सुख देता है तथा परलोकमें सदा सुख देता है इसवास्ते स्त्रीको पतिकी आज्ञामें रहना चाहिये ॥ १५३ ॥ खोटे कर्मोंको करनेवाला तथा परस्त्रीसे गमन करनेवाला वा, गुणोंकरके रहित ऐसाभी पति, उत्तम स्त्रीनें सदा देवताकी समान पूजना चाहिये ॥ १५४ ॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् । पतिं शुश्रूषते ये-
न तेन स्वर्गे महीयते ॥१५५॥ पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो
वा मृतस्य वा । पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥१५६॥

अर्थ—स्त्रीको पतिकी सेवासे पृथक् यज्ञ तथा व्रत वा उपास ये सब कुछभी फल नहीं देते और पतिकी सेवासे स्त्री स्वर्गमें प्राप्त होती है इसवास्ते पतिकी से-

वा करनी चाहिये ॥ १५५ ॥ पतिलोककी इच्छा करनेवाली श्रेष्ठ स्त्री अपने विवाहे पतिका जीवतेका अथवा मरेहुएका कुछभी अप्रिय नहीं करे ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृह्णीयात्प-
त्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥ आसीतामरणात्क्षांता नियता ब्रह्म-
चारिणी । यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—विधवा स्त्री पवित्र पुष्पमूल फलोंकरके उत्तम देहकों क्षीण करे पतिके मरे पीछे जार बुद्धिकरके परपुरुषका नामभी नहीं लेवे ॥ १५७ ॥ एक पतिवा-
ली स्त्रियोंके धर्मकी इच्छा करनेवाली स्त्री मरणपर्यंत क्षमा और नियम तथा ब्र-
ह्मचारि धर्म करके युक्त रहे और विना पुत्रवाली स्त्रीको पुत्रके अर्थभी पर पुरुष-
की सेवा नहीं करनी ॥ १५८ ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणा-
मकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥ मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये
व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

अर्थ—संतान उत्पन्न किये विनाभी सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमारआदि
ब्रह्मचारि ब्राह्मणोंके अनेक सहस्रकुल स्वर्गको प्राप्त हुए हैं इसवास्ते कोई नेम न-
हीं कि पुत्रविना स्वर्गमें नहीं जाता ॥ १५९ ॥ पतिके मरे पीछे ब्रह्मचर्यमें युक्त
रहनेवाली श्रेष्ठस्त्रीविना पुत्रवाली होतोभी स्वर्गको जाती है जैसे वे पूर्वोक्त सन-
कादिक ब्रह्मचारि पुत्रोंविना स्वर्गमें गये तैसे ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति प-
तिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥ नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यप-
रिग्रहे । न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

अर्थ—मेरे पुत्र जन्मै तो तिस पुत्र करके में स्वर्गमें जाऊं इस लोभसे जो परपुरुष-
को सेवती है वेही इसलोकमें निंदाकों प्राप्त होती है. और स्वर्गभी तिस पुत्रकरके
नहीं मिलता ॥ १६१ ॥ दूसरे पुरुष करके जन्मीहुई संतान शास्त्रकी रीतिसे
उस स्त्रीकी नहीं और दूसरी स्त्रीमें जन्म संतान पुरुषकी है इसवास्ते श्रेष्ठ स्त्रियों-
को दूसरा पतिकी संतान शास्त्रमें नहीं कही ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते । निन्द्यैव सा भवेन्नोके

परपूर्वेति चोच्यते ॥१६३॥ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नो-
ति निन्द्यताम् । शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥१६४॥

अर्थ—अपने क्षत्रिय आदि पतिकों त्यागके जो स्त्री ब्राह्मण आदि पतिको से-
वती है वह स्त्री इस लोकमें निन्दित है और संसारमें उसें यह कहते हैं कि यह
दो पुरुषोंकी स्त्री है ॥ १३२ ॥ पर पुरुषसे भोग करने करके स्त्रीकी इस लो-
कमें निंदा होती है और मरके सियारी होती है और कुष्ठ आदि रोगोंकरके दुःखी
होती है ॥ १६४ ॥

पतिं या नाभिचरति मनो वाग्देहसंयता । सा भर्तृलोकमाप्नोति
सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥ अनेन नारीवृत्तेन मनोवा-
ग्देहसंयता । इहाश्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो स्त्री मन वचन देह करके पतिकी आज्ञाको करती है और पतिके
लोकको जाती है और अच्छे पुरुष उस स्त्रीको साध्वी अर्थात् अच्छी कहते हैं
॥ १६३ ॥ मनवाक् देहको रोकके जो इस कहेहुए स्त्रीधर्ममें वर्तती है वह स्त्री इ-
सलोकमें उत्तम कीर्तिको और परलोकमें पतिके लोकको प्राप्त होती है ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण
यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥१६७॥ भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्य-
कर्मणि पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

अर्थ—धर्मको जाननेवाला ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य यथार्थ शास्त्रोंमें कहाहु-
आ स्त्रीधर्ममें चलनेवाली स्त्रीका दाह अग्निहोत्र करके और यज्ञपात्रोंकरके सहि-
त करे ॥ १६७ ॥ अपनेसे पहले मरनेवाली अपनी स्त्रीके निमित्त अग्नि देके वि-
नापुत्रवालेको तथा पुत्रवालेको फिर विवाह करना चाहिये और श्रौत अग्नि त-
था स्मार्त अग्निका होम करे ॥ १६८ ॥

अनेनविधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् । द्वितीयमायुषो भागं
कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

अर्थ—इसप्रकार कहेहुए तीसरे अध्यायसे आदि लेके जो पंचयज्ञ आदि विधि
कही है तिसको नित्यप्रति नहीं त्यागै पीछे आयुके दूसरे भागमें स्त्रीसहित घरमें
वास करै ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहिताया पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः । वने वसेत्तु नियतो
यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमा-
त्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

अर्थ—जिसका समावर्तन कर्म हुआ हो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शास्त्रमें
कहेहुए प्रकारसे घरमें वास करके पीछे निश्चल मन करके इंद्रियोंको जीतके वि-
धिसे वनमें वास करे ॥ १ ॥ गृहस्थी जब अपनी त्वचाको बुढ़ापासे लटक
परी देखे और जराअवस्थामें सफेद वालोंको देखे और पुत्रकै जन्मा हुआ पुत्र-
को देखे तिसी समय वनमें जाकर वास करे ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य
वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरि-
च्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ—ग्रामके अन्न आदि आहारोंको त्यागके और संपूर्ण गौ अश्व शय्या
आदि परिछदोंको छोड़कर और अपने पुत्रोंमें अपनी स्त्रीको छोड़कर वा स्त्रीकरके
साथही वनको गमन करे ॥ ३ ॥ श्रौत अग्निको और अग्निके पात्रोंको लेके और
ग्रामको त्याग वनको जाकर इंद्रियोंको अपने वसकर वनमें वास करे ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मध्येः शाकमूलफलेन वा । एतान्मेव महायज्ञान्नि-
र्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे
तथा । जटाश्च बिभृत्यान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

अर्थ—नानाप्रकारके पवित्र जो मुनियोंके अन्नकरके तथा शाक मूलफल इन्हों
करके इन पांच वड़ी यज्ञोंको शास्त्रकी विधिसे करे ॥ १०५ ॥ मृगआदिकोंकी चर्म
वा वृक्षोंके बल्कलको शरीरमें धारण करे और सायंकाल तथा प्रातःकाल स्नान
करे और नित्यप्रति जटामूछें रोम, नख धारण रखे अर्थात् कटावे नहीं ॥ ६ ॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो ^२ नद्याद्वलिं भिक्षां च शक्तिः । अम्मूलफलभि-
क्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्भ्रान्तो
मैत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भोजन हो उसीमेंसे अपनी श्रद्धापूर्वक वलि तथा भिक्षा देवे और
अपने स्थानमें आपजनोंको जल मूल फल भिक्षाकरके मानें ॥ ७ ॥ नित्य वेद
पढे और जाडा तथा धूपको सहै और सब जीवोंका मित्र तथा मनको जीतनेवा-
ला नित्य दान करनेवाला तथा दानलेनेकरके रहित और संपूर्ण प्राणियोंमें द-
यावाला होवे ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौ-
र्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥ ऋक्षेष्ट्यग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि चा-
हरेत् । उत्तरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

अर्थ—गार्हपत्य कुंडकी अग्निको आहवनीय दक्षिणाग्निमें प्राप्त करनेका नाम
वितान है उसमें हुआ वैतानिक कहाता है तिस वैतानिक अग्निहोत्रको विधिसे
करे अमावस्या तथा पौर्णमासीकोंभी करे और स्त्री रजस्वला हो तबभी अकेला
पुरुष करे ॥ ९ ॥ नक्षत्र इष्टि तथा नवीन सस्यइष्टि तथा चतुर्मासका कर्म और
उत्तरायण दक्षिणायन श्रौतकर्म इन सबको क्रमसे करे ॥ १० ॥

वासंतशारदैर्मध्येर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः । पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधि-
वन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं ह-
विः । शेषमात्मनि युज्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

अर्थ—वसंत ऋतुमें तथा शरदऋतुमें होनेवाले जो पवित्र मुनियोंके अन्न अपने
हाथसे ल्यायेहुए हैं उन्होंने करके सहित पुरोडाश तथा चरुओंको शास्त्रकी विधि-
से तिसी तिसी यज्ञकी सिद्धिके लिये संपादन करे अर्थात् हवन करे ॥ ११ ॥
वनमें उत्पन्न हुए तिस पवित्र हविको अर्थात् पसहीको देवतोंके अर्थ होमिकै
पीछे हवनसे बचे अन्नको आप भोजन करे और कालर, नौन भोजन करे ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च । मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्ने-
हांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥ वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कव-
कानि च । भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

अर्थ—जमीनमें होनेवाले जो शाक तथा यज्ञोंके निमित्त वनमें होनेवाले पवित्र वृक्षोंके पुष्प, मूल, फल, उन्हींको भोजन करे तथा फलोंसे उत्पन्न हुए स्नेहोंका भोजन करे ॥ १३ ॥ सहत तथा मांस तथा जमीनसे निकले शाक, तथा छत्र-केसे आकारवाले कवक शाक तथा भूस्तृणशाक मालवदेशमें प्रसिद्ध है तथा शिशुक अर्थात् सहौंजानाकी कलियोंका शाक बालहीक देशमें प्रसिद्ध है तथा श्लेष्मातकके फल अर्थात् लहेसवे इन सबको भोजन नहीं करे ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ॥ जीर्णानि चैव वा-
सांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्रीयादुत्सृष्ट-
मपि केनचित् । न ग्रामजातान्यार्तोपि मूलानि च फलानि च १६

अर्थ—पहलके इकठ्ठे किये मुनि अन्नको तथा पुरानें वस्त्रोंको तथा शाक मूल फलोंको आश्विनके महीनेमें त्याग देवे ॥ १५ ॥ मालिक करके छोड़ेहुएभी खेतोंमें होनेवाले अन्नको भोजन नहीं करे तथा ग्राममें होनेवाले फलोंको तथा मूलोंको भूँख करके पीड़ितभी हुआ नहीं भक्षण करे ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा । अश्मकुट्टो भवेद्वापि
दन्तोल्लखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥ सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्मास-
संचयिकोऽपि वा । षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा १८

अर्थ—अग्नि करके पकाहुआ जो वनमें होनेवाला अन्न उसको खानेवाला हो-
वे वा अपनी ऋतु करके पकेहुए फलको खानेवाला होवे वा पत्थरोंसे कूटिके खा-
नेवाला होवे वा दांतोंसे चबाके खानेवाला होवे ॥ १७ ॥ एकदिनके अन्नको
संशय करनेवाला वा महीने भरके भोजनको इकट्ठा करनेवाला वा छह महीनेके भो-
जनको इकट्ठा करनेवाला या वर्ष दिनके भोजनको इकट्ठा करनेवाला होवे ॥ १८ ॥

नक्तं चान्नं समश्रीयाद्विवा वादृत्य शक्तितः । चतुर्थकालिको वा
स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥ चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे
च वर्तयेत् । पक्षान्तयोर्वाप्यश्रीयाद्यवागूं कथितां सकृत् ॥ २० ॥

अर्थ—अपनी श्रद्धासमान भोजनको इकट्ठा करके रात्रीमें भोजन करे वा दिन-
में भोजन करे वा चौथे कालमें अर्थात् एक दिन लंघन करके दूसरे दिन सा-
मको भोजन करे अथवा आठवें कालमें अर्थात् तीनदिन लंघन करके चौथे दिन
रातको भोजन करे ॥ १९ ॥ चांद्रायण व्रतकी तरह शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्षको

व्यतीत करै शुक्लपक्षमें एक एक ग्रास घाटावे तथा कृष्णपक्षमें बढावे अथवा पूर्ण-
मासी तथा अमावसमें पकायाहुआ जवका दलिया एकवार भोजन करे रातमें
या दिनमें ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा । कालपक्वैः स्वयंशीणैर्वैखा-
नसमते स्थितः ॥ २१ ॥ भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिन-
म् । स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

अर्थ—अथवा समय करके पकेहुए तथा आपसे पडेहुए जो पुष्प मूल फल के-
वल उन्हींही करके जीवे वानप्रस्थ मनुष्य और वानप्रस्थ धर्मके कहनेवाले शा-
स्त्रोंके कहेहुए धर्ममें स्थित रहै ॥ २१ ॥ निखालस जमीनपर लोटता आवे जावे
वा पैरोंके गुल्फोंकरके दिनभर खडा रहे और स्थान तथा आसनादिमें पर्यटन
करे और कही न विचरै सायं प्रातः मध्यान्ह त्रिकाल स्नान करै ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः । आर्द्रवासास्तु हे-
मन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च
तर्पयेत् । तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

अर्थ—अपना तप बढानेके लिये चारों ओरोंको चार मठ लगावे ग्रीष्मऋतुमें
और पांचमा उपरसे सूर्यका तेजहो इस रीतीसे पंचाग्नि तप करे और वर्षाऋतुमें
जहां मेघ वर्षे तहां बिना छत्री खडा रहै और हेमन्तऋतुमें गीले कपडे पहिनें यह
वर्षादिनका नेम तप है ॥ २३ ॥ प्रातःकाल तथा मध्यान्हकालमें तथा सायंकाल
इन तीनों कालोंमें स्नान करताहुआ देवऋषिपितृतर्पण करे और पंद्रह दिनका
तथा महीनेका इससे आदि बडे बडे व्रतोंकरके तप करताहुआ अपने देहको
सुषावे ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनग्निरनिकेतः
स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी
धराशयः । शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

अर्थ—वैतान नामवाले अग्नियोंको वानप्रस्थोंको शास्त्रकी विधिसे अपने शरीरमें
समारोपण करके तथा संसारकी अग्नि और घरको छोडके वृक्षोंके मूलमें घर ब-
नाके मौन धारण करके मूल फल खानेवाला होवे पसही आदि मुनियोंके अन्न-
भी न खावे यह विधि छह महीनोंसे पीछे है ॥ २५ ॥ सुखकी वस्तुओंमें जतन

नहीं करे तथा ब्रह्मचारी होवे अर्थात् स्त्रीसे भोग नहीं करे तथा जमीनमें सोवे और निवासस्थानमें ममतारहित और वृक्षोंके मूलमें वसनेवाला होवे ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् । गृहमेधिषु चान्येषु द्वि-
जेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥ ग्रामादाहृत्य वाश्रीयादष्टौ ग्रासान्वने
वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

अर्थ—जो यदि वनमें फल न होवे तो वनमें रहनेवाले तपस्वी ब्राह्मणोंसे या औरोंसे अथवा गृहस्थी ब्राह्मणोंसे शरीरके निर्वाहमात्र अर्थात् प्राण वचजावें इतनी भिक्षा लेवे और उसकेभी अभावमें ॥ २७ ॥ ग्रामसे भिक्षान्न लाकर उस अन्नके आठ ग्रास वनाके पत्तेपर वासकोरेपर धरके वा हाथहीसे लेकर वनमें रहताहुआ वानप्रस्थाश्रमी भोजन, करे ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनि-
षदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव
सेविताः । विद्यातपोविवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

अर्थ—वानप्रस्थ ब्राह्मण इन दीक्षाओंको अर्थात् इन नेमोंको तथा इनसें अन्य रहे जो वानप्रस्थ शास्त्रके कहेहुए नेम उन्हींको वनमें वस्ता हुआ करे और ना-नाप्रकारकी जो उपनिषदोंमें पढ़ीहुई श्रुति तथा ब्रह्मकों प्रतिपादन करनेवाले विविधप्रकारके जो वाक्य उनको ब्रह्मकी प्राप्तिके अर्थ पाठ अर्थ सहित अभ्यास करे ॥ २९ ॥ ब्रह्मविद्या अर्थात् अद्वैत ब्रह्मज्ञान तथा तप अर्थात् धर्म इन दोनोंके बढ़नेके अर्थ और शरीरकी शुद्धिकेवास्ते ऋषि ब्राह्मण गृहस्थी इन्होंने इन श्रुतियोंका सेवन किया है इसवास्ते सेवन करनी चाहिये ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्थाय ब्रजेदिशमजिह्मगः । आनिपाताच्छरीरस्य
युक्तोवार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥ आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्य-
तमया तनुम् । वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

अर्थ—कुटिलपनेसे रहित होके ईशान दिशाको आश्रयण करि वायु और ज-लका आहार करता रहै ऐसें शरीर छूटे तबतक करै और कई ऐसे कहते हैं कि असाध्य बीमारी होनेमें ऐसा करे ॥ ३१ ॥ ये जो पहिले कहेहुए महर्षियोंके अनुष्ठान है इनके अन्यनुष्ठान करके जो ब्राह्मण शोक भय करके रहित हुआ अपने शरीरको छोड़ता है वह ब्रह्मलोकमें पूजाको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रवजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

अर्थ—इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनोंमें व्यतीत करके अर्थात् वानप्रस्थ आश्रमसे रागादिकोंकी शांति करके पीछे आयुके चौथे भागमें विषयादि संगोंको छोड़कर संन्यास आश्रमको धारण करे ॥ ३३ ॥ पूर्वपूर्वसे उत्तरोत्तर आश्रममें प्राप्त होके अर्थात् ब्रह्मचारीसे गृहस्थाश्रम तिसरे वानप्रस्थाश्रम इस प्रकार प्राप्त हो यथाशक्ति हवन करताहुआ पुरुष भिक्षादान चिरकालतक सेवा इनसे थका-हुआ पुरुष जो संन्यास धारणकर लेता है वह मरके मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥ अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः । इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ—पहले कहे इन तीन ऋणोंको दूर करके फिर मोक्षसाधक चतुर्थाश्रम संन्यासको धारण करै और तीन ऋणोंको दूर कियेविना जो मोक्षसाधक संन्यासको धारण करता है वह नरकमें प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ वेदोंको विधिपूर्वक पढ़के पुत्रको धर्मसे उत्पादन करि और ज्योतिष्ठोमादि यज्ञोंका अनुष्ठान करि फिर चतुर्थाश्रम संन्यासमें मनको युक्त करै ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् । अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ३८

अर्थ—जो पुरुष वेदोंके पढ़ेहुए विना और पुत्रोंको उत्पादन किये विना यज्ञोंका पूजन किये विना मोक्षकी इच्छा करताहुआ पुरुष नरकमें जाता है ॥ ३७ ॥ यजुर्वेदोक्त सर्वस्व दक्षिणावाली प्रजापतिदेवताके उद्देशवाली इष्टिको अर्थात् यज्ञको करके और उसी उक्त विधान करके अपनेमें अग्निका समारोपण करके फिर ब्राह्मण चतुर्थाश्रम संन्यासको धारण करै ॥ ३८ ॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् । तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥ यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नो-

तप्यते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

अर्थ—जो पुरुष सब स्थावर जंगमआदि सब जीवोंको अभय देके जो गृहाश्रमसे संन्यासाश्रमको धारण करता है तिस तेजकरके ब्रह्मलोक आदिक प्रकाश होते हैं अर्थात् तिनको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥ जिस द्विजसे प्राणियोंको सूक्ष्मभी भय नहीं उत्पन्न होता है तिसको मरनेके पीछे किसीसँभी भय नहीं होता है ४०

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः । समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् । सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अर्थ—घरसे निकसाहुआ पवित्र दंड कमंडलु आदिकोंसे युक्तहुआ मौनी किसी अन्य पुरुषसे समीपमें प्राप्त कियेहुए स्वादु अन्नादिकोंमें इच्छारहित होवे अर्थात् इस प्रकारसे चतुर्थाश्रमको धारण करे ॥ ४१ ॥ संपूर्ण संगोंको त्यागके रहनेवालेको मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे जानताहुआ पुरुष नित्य अकेलाही विचरे अकेला रहनेवाला पुरुष कुछ न छोड़ता है और न कुछ त्याग करके दुःख पाता है ॥ ४२ ॥

अनशिरनिकेतः स्याद्दाममन्नार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता । समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—लौकिक अश्रिके संयोगसे रहित हुआ और घरसे रहित हुआ संन्यासी अन्न केवास्ते ग्रामका आश्रय करे और बीमार होनेमें औषधी आदिका यतन न करे स्थिर चित्त रहै और मुनि धर्ममें समाधान रहै ॥ ४३ ॥ माटीके खपरेल आदिको भिक्षाका पात्र बनावे और रहनेकेवास्ते वृक्षकी जड़ोंका आश्रय लेवे और पुराना कौपीन कंथा वस्त्र धारण रखे सब जीवोंमें समता रखे यह जीवन्मुक्त हुआ पुरुषका लक्षण है ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् । कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥ दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—मरने तथा जीवनेकीभी इच्छा नहीं रखे किंतु अपने कर्मोंके आधीन मरणकालको विचारै जैसे हुकमकी तामीलको नौकर देखता है तैसे समान

रहै ॥ ४५ ॥ दृष्टिसे शोधितकी हुई भूमिमें पैर रक्खे अर्थात् वाल हड्डी आदिकोंपे पैर न रक्खे और वस्त्रमेसे छानके जलको पीवे और सत्यसे पवित्रहुए वचनको कहै ४६

अतिवादांस्तिक्षेत नावमन्येत कंचन । न चेमं देहमाश्रित्य
वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ क्रुद्धयन्तं न प्रतिकुद्धयेदाकुष्टः
कुशलं वदेत् । सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अन्य पुरुषसे कहे हुए तिरस्कारके वचनोंको सहै कलुभी अपना निरादर न माने और इस अस्थिर देहकै आश्रय होके किसीके संग वैर न करे ॥ ४७ ॥ क्रोध करताहुआ आप क्रोध न करे और निंदा करनेवालेको आप अच्छा वचन बोले और पांच ज्ञानेंद्रिय मन बुद्धि इनकरके व्याप्त अर्थात् अपने अपने विषयोंके ग्रहण करनेमें तत्पर ऐसे उन करके युक्त वाणीको झूठ न बोले अर्थात् ऐसी इस वाणीसे असत्य न कहे ॥ ४८ ॥

आध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन
सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥ न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्ष-
त्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ५०

अर्थ—सदा ब्रह्मध्यानमें युक्त रहै और दंड कमंडलु आदिकोंमेंभी विशेष इच्छा न रक्खे विषयोंकी अभिलाष न करे अपने शरीरकी सहायतासे मोक्षके सुखकी इच्छा करताहुआ इस संसारमें विचरै ॥ ४९ ॥ भविष्यत उत्पात भूकंप आदिकोंके कहनेकरके वा नक्षत्र ग्रह आदिकोंके फल कहनेकरके वा हस्तरेषा तथा शास्त्रार्थ कहनेकरके कभीभी भिक्षा लेनेकी इच्छा न करे ॥ ५० ॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैर्वा
न्यैरागारमुपसंत्रजेत् ॥ ५१ ॥ क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी
कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

अर्थ—तपस्वी वनमें रहनेवाले तथा ब्राह्मण वा अन्य मनुष्य तथा पक्षी तथा कुत्ते और मांगनेवाले इन्होंकरके व्याप्त घरोंमें मागनेको न जावे ॥ ५१ ॥ क्लृप्त हैं नख केश श्मश्रु जिसके ऐसा मनुष्य भिक्षा पात्रको लेके तथा दंड और कमंडलु करके युक्त संपूर्ण जीवोंमें किसीको पीडा नहीं देताहुआ संपूर्ण कालमें बिचरता रहै मनको एकाग्र करके ॥ ५२ ॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं

शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥५३॥ आलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं
वैदलं तथा । एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायं भुवोऽब्रवीत् ५४

अर्थ—तिस भिक्षा मागनेवालेके पात्र सुवर्ण आदि धातु करके वर्जित और विच्छिद्रवाले होवें तिन जातियोंके पात्र जलही करके शुद्ध है जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध है इसी प्रकार ॥ ५३ ॥ तुंबीपात्र तथा काष्ठका बनाहुआ पात्र अथवा मिट्टीका पात्र तथा वृक्षकी छालका बनाहुआ इतने पात्र यतियोंके होनेवास्ते स्वायंभुव मनुने कहे हैं ॥ ५४ ॥

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसजेत विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्वि-
षयेष्वपि सज्जति ॥५५॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—एकवार प्राण रहनेके लिये भिक्षाको लावे तबभी घनी भिक्षाको भोजन न करे क्योंकि घनी भिक्षा खानेसे यतीको कामदेवकी वृद्धि होती है और पीछे स्त्री आदि संगोंमें प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ रसोईका धूआं निकलगया हो और मूसलसे कूटना आदि कृत्य जहां बंद होगयाहो तथा पाक बनानेकी अग्नि जहां शांत होगईहो और घरके मनुष्य स्त्री व जीम चुकेहो तथा रसोईके पात्र धरदिये हों तब ऐसे घरोंमें यती नित्य भिक्षा मांगे ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् । प्राणयात्रिकमा-
त्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥ अभिपूजितलाभांस्तु जुगु-
प्सेतैव सर्वशः । अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ॥ ५८ ॥

अर्थ—भिक्षाके अलाभमें अर्थात् न मिले तो दुःख न माने तथा मिलनेमें आ-
नंद न मानें प्राण रहनेमात्र अन्न भोजन करनेवाला होवे और मात्रा संगसे रहित होवे अर्थात् दंडकमंडलुमात्रमेंबी यह अच्छा नहीं इसको तो सागूंगा यह अच्छा है इसको गृहण करूंगा ऐसा संग न करे ॥ ५७ ॥ पूजनपूर्वक भिक्षाको यती निं-
दित मानें अर्थात् ऐसी भिक्षाको न लेवे क्योंकि पूजापूर्वक भिक्षाके लाभसे देनेवालेके स्नेहकी ममताकरके मुक्त होनेसे मुक्तिके समीप प्राप्त हुआभी यतिज-
न्म बंधुको प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च । हियमाणानि विष-
यैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वे-

षक्षयेण च । अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

अर्थ—थोड़े अन्नके खानेसे तथा एकांतस्थानके रहनेसे रूप आदि विषयोंकरके खैची हुई इंद्रियोंको निवर्त करे अर्थात् रोके ॥ ५९ ॥ इंद्रियोंको रोकनेसे तथा मनुष्योंमें प्रीति और वैर न करनेसे और जीव धारियोंको न मारनेसे मोक्षको प्राप्त होनेके योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः । निरये चैव पतनं यात-
नाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाप्रि-
यैः । जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—करनेको योग्य कर्मके न करनेसे तथा खोटे कर्मोंके करनेके दोषसे मनुष्योंको पशु आदि देहोंकी प्राप्ति तथा नरकोंमें पडना तथा यमलोकमें कठोर यातना अर्थात् पीडा इत्यादिक दशाओंको देखे अर्थात् श्रुति पुराणादिकोंमें कहियोंको अनुचितन करे ॥ ६१ ॥ प्यारे जो पुत्र आदि तिनोंसे वियोग होजावे और वैरी जो मारनेवाले तिन्होंसे संयोग होजावे और जरा अर्थात् बुढ़ापाका होना तथा व्याध्यादिकोंसे पीडा ये सब कर्मोंके दोषोंसे होते हैं ऐसे अनुचिंमन करे ॥ ६२ ॥

देहादुक्कमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् । योनिकोटिसहस्रेषु सृ-
तीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरि-
णाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस देहसे इस जीवका निकलना तथा फिर गर्भमें वास करना तथा गी-दड आदि हजारों योनियोंमें जन्म लेना तथा मर्मको छेदन करनेवाले महारोगोंकरके पडा तथा श्लेष्मआदि दोषोंसे रुकाहुआ कंठवालेको बड़ीपीडा ये सब कर्मोंसे होते हैं ऐसे जानें ॥ ६३ ॥ शरीरधारी जीवोंको अधर्मका हेतुसे दुःखका संयोग होता है और अक्षय सुख अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होना यह धर्मार्थके योगसे होता है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहेषु च समुत्पत्तिमु-
त्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे र-
तः । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—योगकरके अर्थात् सब विषयोंसे चित्तकी वृत्तिका निरोधकरके परमात्माके सूक्ष्म रूपको चितवन करै और उत्तम अधम योनियोंमें शुभाशुभ फल भोगनेके-वास्ते जो अधिष्ठान है उसको चितवन करै ॥ ६५ ॥ जिस किसी आश्रममें वस-ताहुआ उस आश्रमकरके दूषित हुआभी अर्थात् दंड कमंडलु आदि चिन्होंसे रहित हुआभी सब जीवोंमें ब्रह्मबुद्धिकरके समदृष्टि है ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य
वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा
सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ—जैसाकि निर्मलीका फल जलको स्वच्छ करदेता है परंतु निर्मली इस शब्दके नाम लेनेसे जल शुद्ध नहीं होता है तैसेही आश्रमके वेष धारण करना मोक्ष हेतु नहीं है किंतु अनुष्ठान करना मोक्षका हेतु है ॥ ६७ ॥ शरीरको क्लेश होनेपरभी पिपीलिका आदि संपूर्ण जीवोंकी रक्षाकेवास्ते रात्रीमें अथवा दिनमें पृथ्वीको देखके विचरे ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून्निहनस्त्यज्ञानतो यतिः । तेषां स्ना-
त्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्पडाचरेत् ॥ ६९ ॥ प्राणायामा ब्राह्मण-
स्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥

अर्थ—जो यति पुरुष विनाजानेंहुए रात्रीमें अथवा दिनमें जीवोंकी हिंसा क-रता है उस पापके उतरनेकेवास्ते स्नान करके छहवार प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥ ब्राह्मणकरके तीनभी प्राणायाम विधिपूर्वक अर्थात् पूरक रेचक कुंभक इनकी विधिसे और व्याहृति प्रणवआदि सहित कियेजाते हैं वही उसका परम तप है ७०

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां
दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥ प्राणायामैर्दहेदोषान्धार-
णाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्याभैरानीश्वरान्गुणान् ॥ ने

अर्थ—जैसे अग्निमें धमानेसे सुवर्ण आदि धातुओंके मल दूर हो जाते हैं तैसेही मन प्राणोंके रोकनेसे इंद्रियोंके दोष दूर हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ पूर्वोक्त प्राणा-यामोंकरके रागादि दोषोंको जलावे परब्रह्ममें मनकी धारणाकरके पापको ज-लावे इंद्रियोंके रोकनेकरके विषयोंका जलावे ध्यानकरके काम क्रोध लोभ मोह इनको जलावे ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ॥ ध्यानयोगेन संपश्येद्वति
मस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥ सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्धय-
ते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

अर्थ—इस जीवकी उत्तम अधम देव पशु आदिक योनियोंमें प्राप्तिको अकृतात्मा
अर्थात् अशास्त्रीय विनाशास्त्रके जाननेवाले पुरुष नहीं जानसकते हैं किंतु इस
अंतरात्माकी गतिको ध्यान योगकरके देखे ॥ ७३ ॥ ब्रह्मको साक्षात्कारक-
रके संपन्न हुआ पुरुष कर्मोंकरके नहीं बंधता है और ब्रह्मदर्शन अर्थात् ब्रह्मज्ञान-
केविना संसारमेंही फिर प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः साध-
यन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणित-
लेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

अर्थ—निषिद्ध हिंसाके वर्जनकरके और इंद्रियोंको विषयोंसे रोकनेकरके
वेदोक्त कर्मोंकरके चांद्रायण आदि तपोंकरके इस संसारमें तत्पद अर्थात् ब्रह्म-
प्राप्तिको साधते हैं अर्थात् इनको करि पीछे ज्ञान करके मोक्ष होते हैं ॥ ७५ ॥
हड्डीकी धूण करके युक्त और नसोंसे युत अर्थात् जेवरीकी तरह लिपट रही
मांस रुधिरसे लिपाहुआ चामसे बंधाहुआ मूत्र मल दुर्गन्धि इनसे भराहुआ ऐसा
शरीर है ॥ ७६ ॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भू-
तावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥ नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा श-
कुनिर्यथा । तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्वाहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ—जरा अर्थात् बुढ़ापा और शोकसे घेराहुआ रोगका घर क्षुधा तृषासे
पीडित रजोगुणसे युक्त नष्ट होनेवाला पंचभूत तत्वोंका स्थान ऐसे इस शरीरको
त्यागदेवे अर्थात् ऐसा करे कि जिस्से फिर यह शरीर प्राप्त न हो ॥ ७७ ॥
जैसे नदीके किनारेका वृक्ष अपने गिरनेको नहीं जानताहुआ नदीके वेगसे गिर-
जाता है तैसेही प्रारब्ध कर्मको नहीं जानताहुआ ब्रह्मउपासक पुरुष अंतसमयमें
इस शरीरको छोडके और और दृष्टांत ज्ञानकर्मकी बाहुलता होनेसे भीष्म आदि-
ककी तरह स्वाधीन मृत्युवाला पुरुष, जैसे पक्षी वृक्षको अपनी इच्छासे छोडदेता
है तैसे इस शरीरको छोडके कष्ट दाई संसाररूपी ग्राहसे छूटजाता है ॥ ७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन
ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥ यदा भावेन भवति सर्वभावेषु
निःस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञानवाला अपने हितकारियोंमें अपना सुकृत तथा अहितकारियोंमें अपना दुष्कृतको प्राप्तकरके ध्यान योगसे सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ७९ ॥ जिस समय विषय दोषकरके संपूर्ण विषयोंमें नहीं करता है तबही इस लोकमें संतोषसे उत्पन्नहुए सुखको तथा परलोकमें मोक्षसुखकों अविनाशि ब्रह्मज्ञानी प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः । सर्वद्वन्द्ववि-
निर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥ ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभि-
शब्दितम् । न ह्यनध्यात्मवित्कश्चिक्रियाफलमुपाश्रुते ॥ ८२ ॥

अर्थ—पुत्र तथा स्त्री तथा घर इन्होंमें ममता आदि संगोको इस विधिसे त्यागिके शनैःशनैः और मान अपमान आदिकोंसे रहित होके निश्चै ब्रह्ममें प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥ जो यह कहा पुत्र आदिकोंमें ममताका त्याग तथा मान अपमानको दूर करना तथा ब्रह्ममें लीन होना ये सब आत्माका परमात्मता स्वरूपसे ध्यान करनेसे होता है और जो आत्माको परमात्मा नहीं जानता है वह ध्यान क्रियाके फलको अर्थात् मान अपमान आदिकी हानिकों तथा मोक्षकों नहीं प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च । आध्यात्मिकं च सततं
वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजा-
नताम् । इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पहिले ब्रह्मध्यान स्वरूप उपासना कही है अब तिसीके अंगतासे वेद जपको कहते हैं जो यज्ञको अधिकारकरके प्रवृत्त वेद है अथवा देवताको अधि-
कारकरके है तथा जीवको अधिकारकरके तथा वेदांतोंमें कहाहुआ सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म इत्यादिक ब्रह्मके प्रतिपादक हैं इन सबोंका सदा जप करे ॥ ८३ ॥ यह वेद ब्रह्म अज्ञोंको अर्थात् वेदका अर्थ न जाननेसे पाठ हीसे गति देता है और वेदके अर्थ जाननेवालोंको और स्वर्ग तथा मोक्षकी इच्छावालोंको यही गतिरूप है ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः । स विधूयेह पाप्मानं
परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥ एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां निय-
तात्मनाम् । वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

अर्थ—इसप्रकार कहेहुए क्रमसे जो द्विज आश्रमको प्राप्त होता है वह इस
लोकमें पापको छोड़के परब्रह्मकों प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥ इंद्रियोंको रोकनेवाले
यतियोंका यह श्रेष्ठ धर्म तुम्हारे आगे कहा अब वेदसंन्यासीयोंका अर्थात् वेदोक्त
संन्यासके धर्म और नियमवालोंका कर्मयोगको सुनों ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा । एते गृहस्थप्रभवाश्च-
त्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं
निषेविताः । यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी और गृहस्थ और वानप्रस्थ तथा यति ये चारों आश्रम गृह-
स्थ आश्रममें होते हैं ॥ ८७ ॥ ये सब चारों आश्रम क्रमकरके शास्त्रके अनुसार
जिस विप्रसे सेवन किये जाते हैं यथोक्तकारी तिस ब्राह्मणकी परम गति होती है ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः । गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स
त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति
संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

अर्थ—इन सब ब्रह्मचारी आदिकोंमेंभी वेद स्मृतिके विधानके अनुसार चलने-
वाला गृहस्थी श्रेष्ठ है क्योंकि वह इन तीनोंको भिक्षादान आदिसे पोषण करता
है ॥ ८९ ॥ जैसा गंगाआदिक नदी और शोणआदि सब नद समुद्रमें जाके ठहरते
हैं तैसेही गृहस्थसे अलग संपूर्ण आश्रम गृहस्थमें ठहरते हैं अर्थात् गृहस्थीके
आश्रय रहते हैं ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः । दशलक्षणको धर्मः से-
वितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रि-
यनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—द्विजातियोंको इन चार आश्रमों करके दश प्रकारका धर्म निरूपति यत्-
नकरके सेवन करना चाहिये तिसको आगे कहते हैं ॥ ९१ ॥ संतोष धारण १
दूसरेसे कहाहुआ बुरावचन सहना २ चित्तका रोकना ३ चोरी न करना ४ शौच

५ इंद्रियोंका रोकना ६ शास्त्रका तत्त्वज्ञान ७ आत्मज्ञान ८ सत्य ९ क्रोध १० नहीं करना यह दश प्रकारका धर्मका लक्षण है ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते । अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥ दशलक्षणकं धर्ममनुति-

ष्ठसमाहितः । वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ९४॥

अर्थ—जो विप्र धर्मके इन दश लक्षणों पढते हैं और पढके उनके अनुसार चलते हैं वे परम गतिको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ९३ ॥ यह कहाहुआ दशलक्षणोंवाला जो धर्म है इसका अनुष्ठान करताहुआ द्विज ऋषि देव पितर इनके ऋणसे रहित हो स्वस्थचित्त होके विधिपूर्वक वेदांतको सुनके संन्यासको धारण करै ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् । नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥ एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यप-
रमोऽस्पृहः । संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

अर्थ—पुरुष संन्यासको धारण करके संपूर्ण गृहस्थोंके अग्निहोत्र छोडकर और विनाजानेहुए जो जीवोंका नाश होता है उसको प्राणायामोंकरके नाश करताहुआ और निरंतर वेदका अभ्यास करके भोजनादिकोंकी चिंतासे रहित हो पुत्रके घरमें सुखपूर्वक वसे ॥ ९५ ॥ इस उक्तप्रकारसे अपने अग्निहोत्रआदि गृहस्थ कर्मोंको त्यागके अपने कार्यमें अर्थात् आत्माके साक्षात्कार करनेमें तत्परहुआ पुरुष संन्यास धारण करनेसे संपूर्ण पापोंका नाशकर स्वर्गआदिकोंकी इच्छासे रहितहुआ परम गतिको मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

अर्थ—भृगुजी कहते हैं कि हे ऋषिजनहो तुमको ब्राह्मणके चार प्रकारके यह धर्म कहदिष्ट है और परलोकमें अक्षय फल देनेवाला यह पुण्य कहदिया है अब राजाओंके धर्मोंको सुनौ ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहिताया पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः । संभवश्च यथा तस्य
सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण य-
थाविधि । सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकारके आचारणोंवाला राजा होना चाहिये तिन सब राजध-
र्मोंको कहेंगे और जैसे राजाकी उत्पत्ति ईश्वरनेंकी तथा दृष्ट अदृष्टसिद्धि हुई वह
सब आगे कहेंगे ॥ १ ॥ उपनयन यथाविधि राज्याभिषेक और वेदोक्त कर्मक-
रके संस्कार किये क्षत्रियकरके इस संसारकी न्यायानुसार रक्षा होनी चाहिये
अर्थात् राजाको न्यायके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् । रक्षार्थमस्य
सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ इन्द्रानिलयमार्काणामग्रेष्व
वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

अर्थ—विना राज्यवाले इस लोकमें बलवान्के भयसे सब प्रकारसे चलायमान
हुए इस जगत्की रक्षाकेवास्ते प्रभु राजाको रचते भये इसीवास्ते राजाको इस ज-
गत्की रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ इंद्र वायु यम सूर्य अग्नि वरुण चंद्र कुबेर
इनकीसार भूतमात्राके अंशको निकालकरके राजाको बनाया ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष
सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥ तपत्यादित्यवज्जैष चक्षूंषि च मना-
सि च । नचैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस्से कि इन इंद्र आदि देवताओंकी मात्राओंसे ईश्वरनें राजा बनाया
इसवास्ते यह राजा तेजकरके अधिक होता है और अधिक प्रभाववाला होता
है ॥ ५ ॥ यह राजा सूर्यकी तरह देखनेवालोंके नेत्र मन आदिकोंसे सहा नहीं
जाता है और इस राजाके सामनें होके कोईबी देखनेको समर्थ नहीं है ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् । स कुबेरः स
वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो म-
नुष्य इति भूमिपः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

अर्थ—वह राजा अग्निरूप होता है ऐसे वायुरूप होता है तथा अत्यंत शक्ति

होनेसे सूर्यरूप होता है वा चंद्ररूप होता है और यमरूप होता है ॥ ७ ॥ मनुष्य बुद्धिकरके बालक राजाकाभी अपमान नहीं करे क्योंकि यह बड़ा देवता मनुष्य रूपकरके स्थित है इस कारणसे राजाके अपमानमें देवताका अपमान होता है ८

एकमेव दहत्यग्निंरं दुरुपसर्पिणम् । कुलं दहति राजाग्निः सपशुः
द्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥ कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च त-
त्त्वतः । कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनःपुनः ॥ १० ॥

अर्थ—कोई पुरुष अग्निके पास वे चाल चलाजावे तो अग्नि उस अकेलेको जलाता है और राजा वे चाल चलनेवाले पुरुषको कुल पशु धन आदिकों सहित दग्ध करदेता है ॥ ९ ॥ वह राजा अपने प्रयोजनकेवास्ते और धर्मकी सिद्धिकेवास्ते शक्ति देश काल इनको तत्त्वसे विचारके अनेक प्रकारके रूप बार बार धारण करता है अर्थात् कभी क्षमा कभी क्रोध इत्यादि बारबार करता है १०

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे । मृत्युश्च वसति क्रोधे
सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ११ ॥ तं यस्तु द्द्रेष्टि संमोहात्स विनश्य-
त्यसंशयम् । तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिसकी प्रसन्नतासे लक्ष्मी प्राप्त होती है इससे लक्ष्मीकी इच्छावालेको राजाकी सेवा करनी श्रेष्ठ है और शत्रुवालेके शत्रुओंकोभी प्रसन्न कराहुआ राजा नाश करै है और जिसपर क्रोध होता है उसे मार देता है इससे जीवनेकी इच्छावालेको राजाका अपराध न करना क्योंकि संपूर्णोंके अर्थात् सूर्य अग्नि सोम आदिकोंके तेजको धारण करता है ॥ ११ ॥ तिस राजाको मूर्खपनेसे जो कुपित करता है वो निश्चै नाशको प्राप्त होता है उसके जल्दीही नाशकेवास्ते राजामन करता है ॥ १२ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः । अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु
तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं
धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिससे कि सर्व तेजोमय राजा होता है इसवास्ते अपेक्षितोंमें शास्त्र अ-
विरुद्ध धर्म तथा अनपेक्षितोंमें अधर्म निश्चय करके स्थापन करे और तिस धर्म-
को न छोड़े ॥ १३ ॥ तिस राजाकी प्रयोजन सिद्धिकेलिये संपूर्ण प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला धर्म स्वरूप पुत्र ब्रह्मतेजसे बनाहुआ दंड नामवाला जो कहा-

ता है अर्थात् शिक्षा स्वरूप दंडको पूर्व अर्थात् पहिले ब्रह्माजी रचते भये ॥ १४ ॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च । भयाद्भोगाय क-
ल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥ तं देशकालौ शक्तिं च
विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः । यथार्हतः संप्रणयेन्नेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

अर्थ—तिस दंडके भयसे संपूर्ण प्राणि चर अचर अपने अपने भोग करनेको
समर्थ है अपने अपने धर्मोंसे भ्रष्ट नहीं होते हैं कैसेकि बलवाला निर्बलके धन
स्त्री आदिकोंको खो नहीं सकता और ब्रह्मादिक खंडित नहीं हो सके ॥ १५ ॥
उस दंडको तथा दंडके देश कालकों तथा विद्या आदि शक्तियों और इस अ-
पराधमें यह दंड योग्य है इन सबको शास्त्रके अनुसार ज्ञानसे देखके अपराधि-
योंको यथा योग्य दंड प्राप्त करे ॥ १६ ॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः । चतुर्णामाश्रमाणां
च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा
दण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बधाः १८

अर्थ—वह दंडही राजा है तिस दंडमें राजशक्ति होनेसे वह दंडही पुरुष है तिससे
अन्य और सब स्त्री है तिसको विधान करनेसे और दंडही नेता है अर्थात् उसीने
कार्य करिये है तथा दंडही शिक्षा देनेवाला है और दंडही चारों आश्रमोंको धर्म
संपादनमें जा मन कहा है अर्थात् दंडकीराहसे सब धर्मकों प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥
संपूर्ण प्रजाको दंडही शिक्षा देता है अर्थात् आज्ञा करवाता है तथा दं-
डही रक्षा करता है इससे राजा है और जब रक्षा करनेवाले सोते हैं तो दंडही जा-
गता है तिसके भयसे चोर आदि नहीं प्रवर्त होते हैं इससे ज्ञानवान् दंडही क्रोध
कहे हैं ॥ १८ ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः । असमीक्ष्य प्रणी-
तस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥ यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं
दण्ड्येष्वतन्द्रितः । शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यक् प्रकार विचारके दियाहुआ दंड संपूर्ण प्रजाको आनंद करता है
और विचारेविना लोभादिकसे प्राप्त कियाहुआ दंड संपूर्ण धनपुत्रादिकोंको नाश
करता है ॥ १९ ॥ जो राजा आलस्यरहित होके अपराधियोंको दंड न देवे तो

जैसे शूलसे मच्छको मार देते हैं तैसे बलवाले निर्वलोंको मार देवे फिर मत्स्य न्यायही हो जावे यह कहा है ॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्विस्तथा । स्वाम्यं च न
स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥ सर्वो दण्डजितो लोको
दुर्लभो हि शुचिर्नरः । दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते २२

अर्थ-जो राजा दंड न देवे तो यज्ञोंमें कागही पुरोडाशको भक्षण करे तथा कु-
त्ता दूध आदिको तथा हविको भक्षण करे और किसीमेंभी किसीका स्वामिभा-
व न होवे और नीच प्रधान होवेगे ॥ २१ ॥ संपूर्ण यह लोक दंडहीसे रुकाहुआ
श्रेष्ठ मार्गमें स्थित है और स्वभाव शुद्ध पुरुष तो जगत्में मिलनें दुर्लभ है और
संपूर्ण जगत् दंडहीके भयसे अवश्य भोजनादि भोगोंमें समर्थ है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतंगोरगाः । तेऽपि भोगाय कल्पन्ते
दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥ दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिक्षेरन्सर्वसे-
तवः । सर्वलोकप्रकोपश्च भवेदण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ-इंद्र आदि सूर्य आदिक देवता तथा दानव गन्धर्व राक्षस पक्षि सर्प ये
सब अपने अपने कर्षोंमें दंड हीके भयसे प्राप्त हैं ॥ २३ ॥ दंड नहीं देनेसे अथ-
वा अनुचित दंड देनेसे ब्राह्मण आदि संपूर्ण वर्ण विरुद्ध आचरण करेंगे और
धर्म अर्थ आदि चतुर्वर्ग उच्छिन्न होवेगा तथा सब लोगोंमें उपद्रव होवेगा इस-
वास्ते यथोचित दंड देना चाहिये ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा । प्रजास्तत्र न मुह्यति
नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥ तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं स-
त्यवादिनम् । समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

अर्थ-जिस देशमें श्यामवर्णवाला और लाल नेत्रोंवाला और पापनाशक दंड
अर्थात् दंडाधिष्ठातृ देवता विचरता है तहां प्रजा व्याकुल नहीं होती जो यदि
दंडप्रणेता राजा अच्छे प्रकार देखता है तो ॥ २५ ॥ तिस दंडको प्रवर्त्त करने-
वाले राजाको सत्य बोलनेवाला अभिषेक आदि गुणयुक्त समझके करनेवाला
बुद्धिमान् धर्म अर्थ काम इनको जाननेवाला ऐसा मनु आदि कहते हैं अर्थात्
राजा ऐसा होना चाहिये ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषमः

क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धर-
श्राकृतात्मभिः । धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तिस दंडको अच्छे प्रकारसे चलाताहुआ राजा धर्म अर्थ काम इन-
करके बढ़ता है और वही राजा विषयकी अभिलाष करनेवाला तथा क्रोधवाला
वा छल करनेवाला हो तो अधर्मके हेतु उसी दंडसे नष्ट होजाता है ॥ २७ ॥ बड़े
उत्तम तेजवाला दंड अपने शास्त्रसे संस्काररहित राजाओंने दुर्धर अर्थात् धारण
करना मुसकिल है और राजधर्मरहित राजाको वही दंड पुत्र बांधवसहित ना-
शदेता है ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् । अंतरिक्षगतांश्चैव
मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥ योऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृत-
बुद्धिना । न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

अर्थ—दोष आदिकी अपेक्षाविना कियाहुआ वह दंड राजाके नाशके अनंतर
किला सेना और स्थावर जंगम राजाका लोक अंतरिक्षके रहनेवाले ऋषि देवता
इनको पीडा देता है वा नाश करता है ॥ २९ ॥ मंत्री सेनाके सहायसे रहित
और मूर्ख लोभी शास्त्र संस्कार बुद्धिसे रहित और विषयमें आसक्त ऐसे राजा-
करके वह दंड चलनेको समर्थ नहीं है ऐसा राजा धर्म नहीं चलासक्ता है ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा । प्रणेतुं शक्यते दण्डः
सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च
शत्रुषु । सुहृत्स्वजिह्वः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

अर्थ—किंतु अर्थ आदि शौचमें युक्त सत्य बोलनेवाला शास्त्रके व्यवहारके
अनुसार चलनेवाला और अच्छे सहायवाला बुद्धिवान् ऐसे राजाकरके दंड
कराना योग्य है ॥ ३१ ॥ राजा अपने राज्यमें शास्त्रके अनुसार न्याय करने-
वाला होवे और शत्रुओंमें बहुत दंड करनेवाला होवे और प्रीतिवाले मित्रोंमें
कुटिल न होवे और ब्राह्मणोंमें क्षमायुक्त रहै ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोज्छेनापि जीवतः । विस्तीर्यते यशो
लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपते-
रजितात्मनः । संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अर्थ-शिलोल्लुप्तिकरके जीवता हुआभी उक्त प्रकारसे चलनेवाला राजा-
का यश संसारमें फैल जाता है जैसे जलमें तेलकी बिंदु फैल जाती है तैसे ॥३३॥
इस उक्त प्रकारसे विपरीत चलनेवाला और विषयमें आसक्त रहनेवाला राजाका
यश संकोचको प्राप्त होजाता है जैसे जलमें घृतकी बूंद नहीं फैलती है तैसे ॥३४॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः । वर्णानामाश्रमाणां च
राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥ तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता
प्रजाः । तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

अर्थ-क्रमकरके अपने अपने धर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मण आदि चा-
रों वर्णोंकी तथा ब्रह्मचारी आदि सब आश्रमोंकी रक्षा करनेवाला यह राजा
विधातानें रचा है ॥ ३५ ॥ इसवास्ते दीवान मंत्री आदिकोंसहित उस राजाको
प्रजाकी रक्षाकेवास्ते जो कुछ करना योग्य है वह सब यथार्थ क्रमकरके तुम्हारे
आगे कहेंगे ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः । त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्ति-
ष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः
शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ-राजा नित्य प्रातःकाल उठके ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जान-
नेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंका पूजन करे और उन्हींकी आज्ञामें रहे ॥ ३७ ॥ वेदके
जाननेवाले तथा शुद्धियुक्त वृद्ध ब्राह्मणोंका सेवन करे क्योंकि वृद्धोंका सेवन
करनेवालाको राक्षसभी सदा पूजते है ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः । विनीतात्मा हि
नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥३९॥ बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः
सपरिच्छदाः । वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

अर्थ-अपने शरीरकेसंग जन्मीहुई बुद्धिकरके वा अर्थ तथा शास्त्रादि ज्ञान-
करके नित्य विनीतात्मा अर्थात् राजनीतिमें वर्तनेवालाभी अधिक नीतिके लिये
तिन ब्राह्मणोंमें नम्रता धारण करे क्योंकि राजनीतिवाला राजा नाशको नहीं
प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥ हस्ती घोडा कौशल आदि परिच्छदोंकरके युक्त हुए
बहुतसे राजे विनानम्रता नाशको प्राप्त हुए है और वनोंमें रहनेवाले बहुतसे
विनासेनावालेभी नम्रतासे राज्योंको प्राप्त हुए है ॥ ४० ॥

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः । सुदासो यवनश्चैव सु-
मुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥ पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव
च । कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

अर्थ—वेन तथा नहुषराजा नम्रताकेविना नाशको प्राप्त हुये और सुदास नामवाला यवनजाती राजा और सुमुख तथा निमिष येभी सब अविनयसे नाश हुये है ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनयसे राजको प्राप्त हुए और कुबेर विनयसे अर्थात् नम्रतासे धनका मालिक हुआ और गाधिका पुत्र विश्वामित्र क्षत्रीभी ब्राह्मणभावको प्राप्त हुआ ॥ ४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं
चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥ इन्द्रियाणां जये योगं
समातिष्ठेद्विवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोतिवशे स्थापयितुं प्रजाः ॥

अर्थ—ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जाननेवाले ब्राह्मणोंसें तीनों वेदोंको तथा पुरातन राजनीतिको तथा आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कविद्याको और ब्रह्मविद्याको और व्यवहारके जाननेवाले मनुष्योंसे व्यवहार विद्याको राजा सीखे ॥ ४३ ॥ राजा नेत्र आदि इंद्रियोंके विषय दूर करनेमें सदा जतन करे क्योंकि जितेन्द्रिय राजा संपूर्ण प्रजाको अपने वसकर शक्ता है और जो राजाही विषयोंको भोगता है तो प्रजाको क्या वसमें करेगा ॥ ४४ ॥

दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि
प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु मही-
पतिः । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

अर्थ—दश कामसे उठेहुए तथा आठ क्रोधसे उत्पन्न हुए जो व्यसन उनको जतनकरके दूर करे कैसे व्यसन हैं वेकि जिनका अंत दुर्लभ है अर्थात् उन व्यसनोंका अंत दुःखसेभी नहीं होता ॥ ४५ ॥ कामसे उत्पन्न हुए व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा धर्म अर्थसे नष्ट होता है और क्रोधसे उत्पन्न हुए व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा स्वभावके कोपसे देहके नाशको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाख्या
च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ पैशून्यं साहसं द्रोह ईर्ष्या-

स्त्रयार्थदूषणम् । वर्गदण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः ४८

अर्थ—मृगया अर्थात् मृगकों मारना सिकारमें, और चौपडमें पासोंसे खेलना और दिनमें सोवना और दूसरेके अपवादोंको कहना तथा स्त्रीसंभोग और मदिराके पीनेसे उत्पन्न हुआ मद और नाचना गाना बजाना इनमें रहना, और वे प्रयोजन भ्रमणा ये दश कामसे उत्पन्न हुए मद हैं ॥ ४७ ॥ पैशुन्यं अर्थात् विनदेखे दोष लगाना और अच्छे मनुष्योंको दंड देना और छलसे मारना और ईर्ष्या तथा दूसरेके गुणोंमें दोष लगाना और द्रव्योंका हरना और गाली देना तथा ताड़नादेना ये अष्ट व्यसन क्रोधसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेल्लोभं त-
ज्जावेताबुधौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च
यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

अर्थ—काम क्रोधसे उत्पन्न हुए व्यसनोंके समूहका कारण लोभ है उसको जतन करके दूर करे क्योंकि व्यसनोंके ये दोनों गुण लोभसे होते हैं कहीं धनके लोभसे कहीं अन्य लोभसे होते हैं ॥ ४९ ॥ मदिराका पीना अक्षोंका खेलना स्त्रीसंभोग सिकारमें मृग आदि मारना ये चारों कामसे होनेवालोंमें असंत दुःखके देनेवाले हैं यह जानना चाहिये ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे वि-
द्यात्कष्टमेतन्निकं सदा ॥ ५१ ॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुष-
ङ्गिणः । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

अर्थ—दंडसे मारना और कठोर वचन कहना तथा द्रव्यका हरना ये तीनों क्रोधसे हुए व्यसनगणमें अतिशय दुःख देते हैं एह जानना चाहिये ॥ ५१ ॥ संपूर्ण राजमंडलमें प्रवर्त हुआ जो यह कामक्रोधसे उत्पन्न हुआ मदिरा आदिकोंका सप्तक वर्ग है इसमें उत्तर उत्तर व्यसनसे पूर्व पूर्व व्यसनको श्रेष्ठ पुरुष कठिन जाने ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधो व्रज-
ति स्वर्गात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥ मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँलब्ध-
लक्षान्कुलोद्गतान्। सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

अर्थ—व्यसन और मृत्यु दोनों नाश करनेवाले हैं इन दोनोंमेंभी व्यसन क-

ठिन है क्योंकि व्यसनी मरके बहुत नरकोंमें जाता है और वे व्यसनी मरके स्वर्गमें जाता है ॥ ५३ ॥ पुस्तोंसे नौकरी करनेवाले और शास्त्रोंको जाननेवाले और बहादुर अच्छा निशाना लगानेवाले और अच्छा कुलके परीक्षा किएहुयें सात तथा आठ मंत्रियोंको राजा रखे ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् । स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

अर्थ—सुलभभी कर्म एकसे होना कठिन है और विशेषकरके बड़ा फलको देनेवाला राज्यकर्मको एक कैसे करसक्ता है ॥ ५५ ॥ तिनकरके सहित सामान्य संधि विग्रहको सदा चिंतवन करै तिनोंको कहते हैं दंड, कोश, पुर, राष्ट्रात्मक चतुर्विधको चिंतवन करे और जिस्से धान्य सुवर्णादिकी उत्पत्ति होती है उसे चिंतवन करे और राष्ट्रकी रक्षा और प्राप्तहुए धनको सत्पात्रोंको देना इत्यादिकोंकी सलाह करे ॥ ५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्वितमात्मनः ॥ ५७ ॥ सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता । मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—तिन संपूर्ण मंत्रियोंका अलग अलग अभिप्राय सुनके फिर संपूर्णोंको इकट्ठेकरके तिन संपूर्णोंका अभिप्रायको जानके कार्यमें जो अपना हित हो उसको करे ॥ ५७ ॥ उन संपूर्ण मंत्रियोंमें जो बुद्धिमान् ब्राह्मण हो उसके साथ षट्गुण करके युक्त जो मंत्र है अर्थात् छह गुणोंसे युक्त जो सलाह है उसको राजा करे ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्रितः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् । तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्तृनमात्यान्सुपरीक्षितान् ६०

अर्थ—तिस ब्राह्मणमें विश्वास करके संपूर्ण कर्म उसके सुपर्द करे और जो कर्म करे सो उससे निश्चय करलेवे तब संपूर्ण कर्म करे ॥ ५९ ॥ औरोंकोभी सुंदर प्रकार पास कर परीक्षा लेके मंत्री बनावे और वे मंत्री ऐसे होने चाहिये कि शुद्ध चित्तवाले तथा अच्छे प्रकार धनको संचय करनेमें चतुर हों और बुद्धिमान् हों ऐसोंको बनावे ॥ ६० ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः । तावतोऽतन्द्रितान्
दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्-
दक्षान् कुलोद्भूतान् । शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस राजाका जितने मनुष्योंसे काम पड़े उतने मनुष्योंको आलस्यर-
हित तथा चतुर तथा बुद्धिमानोंको कामोंमें प्रवर्त करे ॥ ६१ ॥ तिन मंत्रियोंमें
जो शूर वीर तथा चतुर तथा अच्छे कुलमें होनेवाले तथा शुद्ध हों उनको अर्थात्
तु निर्लोभियोंको द्रव्यके उत्पत्तिस्थानमें युक्त करे और अन्नके स्थानमें तथा अं-
तर्निवेश अर्थात् महलमें डरनेवालेको योजन करे ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं
दक्षं कुलोद्भूतम् ॥ ६३ ॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देश-
कालवित् । वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ—संपूर्ण शास्त्रोंका जाननेवाला और अपने अभिप्रायकों जाननेवाला वच-
नको और प्रसन्न अप्रसन्नकी चेष्टाको जाननेवाला तथा शुद्ध अंतःकरणवाला
और चतुर तथा अच्छे कुलमें होनेवाला ऐसेको दूत करे ॥ ६३ ॥ संपूर्ण प्राणि-
योंमें प्यार करनेवाला और धन, स्त्री, शुद्धि, इन्होसे युक्त तथा चतुर और सुनी
वातको याद रखे और जो देशकालको जानें तथा सुंदर रूपवाला तथा निडर
और सब इल्मोंकी वाणी बोलनेवाला ऐसा दूत राजाको रखना श्रेष्ठ है ॥ ६४ ॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया । नृपतौ कोश-
राष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥ दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव
च संहतान् । दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा ॥ ६६ ॥

अर्थ—सेनापतिके आधीन हस्ती घोड़े रथ पियादे होते हैं और इन सबके
आधीन शिक्षा है और राजाके आधीन खानी तथा देश है और दूतके आधीन
मेल तथा विगांड है ये सब इन्हींकी इच्छासे होते हैं ॥ ६५ ॥ दूतही मेलकरा
देता है और दूतही सबके मनको फाड़देता है अर्थात् मिले हुएोंका मनको फाड़ता
है और दूत वह कर्म करता है कि जिससे मिलेहुए पुरुष जुड़े जुड़े हो जावें
वा मिलेही रहै अर्थात् दोनों काम कर सकता है ॥ ६६ ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढैंगितचेष्टितैः आकारमिगितं चेष्टां भृ-

त्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥ बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकी-
र्षितम् । तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ—वह दूत राजाके काममें अनुचरोंके इसारे और चेष्टा करके जो भृत्योंमें किसी मतलबकी चेष्टा करी जाती है उसें जानजाता है ॥ ६७ ॥ अपने दूतके मुखसे प्रतिपक्ष करनेवाले राजाका कर्मको जानके तैसा जतन करे कि जिससे अपनेको पीडा न होवे ॥ ६८ ॥

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् । रम्यमानतसामन्तं
स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥ धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्षमेव
वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

अर्थ—जहां तृण जल थोडा हो और वायु घाम घना हो उसको जांगलदेश कहते हैं और, जहां बहुत खेती हो तथा अच्छे मनुष्य वास करते हों और रोगा-
दि उपद्रवोंसे रहित हों और देखनेमें अच्छा हो, और जहां सुंदर वृक्ष हों तथा सुंदर बाजार होवे और खेती वणज आदि जहां व्यौहार होवे तिस देशमें वसे ॥ ६९ ॥ धनुर्दुर्ग उसें करते हैं कि चारों तर्फ मरुभूमिमें पांच योजनतक जल न मिले और महीदुर्गउसे कहते हैं कि चारों तर्फ बारह १२ हाथ ऊंचा पत्थरोंका बना हुआ किला होवे, और बहुत जलका चारों तर्फ घेरा हो उसें जलदुर्ग कह-
तें हैं और अगाध जल चारों तर्फको हो उसको वार्षदुर्ग कहते हैं और जिसके चारों तर्फ बहुत वृक्ष हों या चारों तर्फ फौज हो उसको नृदुर्ग कहते हैं तथा चारों तर्फ पर्वत हो उसें गिरिदुर्ग कहते हैं सो राजा ऐसी जगह किल्ला बनाके वास करे और तहांही पुरको वसावे ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । एषां हि बाहुगुण्येन
गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृग-
गर्ताश्रयाऽप्सराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवंगमनरामराः ॥७२॥

अर्थ—इन संपूर्ण किलोंसे पर्वतोंका किला अच्छा होता है इससे संपूर्ण जतन करके पर्वतोंके किलेमें वास करे ॥ ७१ ॥ इन दुर्गोंमें पहिले कहे हुए तीन दुर्ग तो मृगादिकोंके हैं तहां धनुर्दुर्ग मृगोंका और महीदुर्ग मुसोंका औ जलदुर्ग म-
च्छादिकोंका है ऐसेही पिछले तीन किले क्रमसे वानर तथा मनुष्य तथा देवता-
ओंके हैं वृक्षदुर्ग वानरोंका और मनुष्यका नृदुर्ग और देवतोंका गिरिदुर्ग है ॥७२॥

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः । तथारयो न हिंसन्ति
नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो
धनुर्धरः । शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ—जैसे इन दुर्गोंमें वसते हुए मृगादिकोंको जीवोंके मारनेवाले व्याधादिक
शत्रु नहीं मारसक्ते तैसेही किलेमें राजाको शत्रु नहीं जीत सक्ते ॥ ७३ ॥ किलेमें
स्थित होके एकही मनुष्य धनुषको धारण करनेसे सौ शत्रुओंको मार सक्ता है
और सौ धनुषोंवाले मनुष्य किलेमें बैठके दशहजार शत्रुओंको मारसक्ते है इसवास्ते
किला बनाना बहुत अच्छा है ॥ ७४ ॥

तेऽस्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः । ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्य-
त्त्वर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्बृह-
मात्मनः । गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—उस दुर्गको तलवार आदि शस्त्रोंसे युक्त और सुवर्ण आदि धनधान्य त-
था हस्ती घोडे आदि वाहन तथा ब्राह्मणभोजनादि और शिल्पियंत्र अर्थात्
कारीगरोंके ए छ और जल तृण इन्होंसे युक्त बनावे ॥ ७५ ॥ तिस किलेमें अपना
घर ऐसा बनवावे कि जिसमें पृथक्पृथक् स्त्रियोंके घर और देवतोंके अस्थान औ-
र शस्त्रोंके मकान और अग्निहोत्रशालाओंसे युक्त हो और परिखा प्राकारकरके गुप्त
और संपूर्ण ऋतुओंके फल पुष्पादिसे युक्त और सफेदी कियाहुआ और कूप
बावडी आदि जलके स्थानोंसे युक्त तथा वृक्षादिकोंसे युक्त होवे ॥ ७६ ॥

तद्ध्यास्योद्बहेद्भार्यां सर्वर्णां लक्षणान्विताम् । कुले महति सं-
भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव
चत्विजम् । तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

अर्थ—तिस घरमें वास करके अपनी जातिकी और शुभ लक्षणोंकरके युक्त
और बड़े शुद्ध कुलमें जन्मीहुई और मनको हरनेवाली और सुंदर रूपवाली और
अच्छे गुणवाली भार्याको विवाह करै ॥ ७७ ॥ अथर्वणविधिसे पुरोहितको बनावे
और हवनशांति आदि कर्म करानेके लिये ऋत्विज यानें आचार्य बनावे और
वे पुरोहित आचार्यादिक इस राजाके गृह्यकर्म अर्थात् त्रेताअग्नि संपादन कहे
हुए जो कर्म उनको करावे ॥ ७८ ॥

अर्थ— तिस देशमें जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्णसंकर इन जातियोंका परंपरा अर्थात् सनातन जो आचार चलाआता है वह सदाचार कहाता है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

अर्थ— कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पांचाल अर्थात् कान्यकुब्जदेश, मथुराके देश, यह ब्रह्मर्षिदेश कहाता है यह देश ब्रह्मावर्त देशसे कछुक न्यून है ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

अर्थ— इन कुरुक्षेत्र आदिदेशमें उत्पन्नहुए ब्राह्मणके सकाशसे पृथ्वीमे सब मनुष्य अपने अपने आचारोंको करतेभये अर्थात् जुदे जुदे अपने संप्रदाय करते भये ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

अर्थ— हिमवान् और विन्ध्याचल इन्होंके बीचमें और सरस्वतीसे पूर्वकी तर्फ और प्रयागसे पश्चिमकी तर्फ यह जो देश है इसको मध्यदेश कहते है ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अर्थ— पूर्वसमुद्रसेलेके पश्चिमके समुद्रतक विन्ध्याचल और हिमाचलपर्वतके मध्यका जो देश है उसको आर्यावर्त देश कहते है ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

अर्थ— जहां कालामृग स्वभावसेही विचरता है अर्थात् बलसे नहीं लयाया हो, किंतु अपनी खुशीसे विचरता है वह यज्ञकरनेकोयोग्य देश जानना इससे अन्य म्लेच्छदेश कहाता है ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।

शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥ २४ ॥

अर्थ— द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये वर्ण यतनकरके इन पूर्वोक्त

देशोंके आश्रय रहें अर्थात् आर्यावर्त्तआदि शुद्ध देशमें रहना चाहिये और शूद्र तो आजिविकासे पीडित होजावे तो अन्य किसीदेशमें रहै ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।

संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

अर्थ— यह धर्मकी योनि अर्थात् उत्पत्तिका कारण मैंने संक्षेपमात्रसे तुझारे-वास्ते कहदिया अब इन सर्वोंकी उत्पत्ति और वर्णोंके धर्मोंको सुनो ॥ २५ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

अर्थ— वेदमें होनेवाले पुण्य पवित्र शुभमंत्र योगादिक कर्मोंकरके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंका गर्भाधानआदि शरीरका संस्कार करना चाहिये क्योंकि वह संस्कार इस लोकमें वेदाध्ययनकेवास्ते और परलोकमें यज्ञआदिकोंके फल-केवास्ते पावन है अर्थात् पापके नाशका हेतु है ॥ २६ ॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौजीनिबन्धनैः ।

वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

अर्थ— गर्भाधानके संस्कार और जातकर्म अर्थात् जन्माहुआके कर्म, चौडकर्म, अर्थात्मुंडन, मौजीबंधन, अर्थात् यज्ञोपवीत इनकर्मोंकरके द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंके बीजदोषादि पाप और गार्भिक अर्थात् अशुचिमात्र पाप दूर होते हैं ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

अर्थ— वेदाध्ययन, मधुमांसवर्जनादि नियमव्रत, होम, त्रैविद्याख्यव्रत इज्या अर्थात् ब्रह्मचर्यावस्थामें देवर्षि पितृतर्पणादि क्रिया, और गृहस्थ अवस्थामें पुत्रोत्पादनादि कर्म पंचमहायज्ञ अग्निष्टोमादिक यज्ञ इन्होंकरके यह द्विजशरीर ब्रह्मप्राप्तिको योग्य किया जाता है ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

अर्थ— नालछेदनसे पहले पुरुषका जातकर्मसंस्कार करना चाहिये और तब स्वगृहोक्त मंत्रोंकरके सुवर्णमधुघृत इन्होंका प्राशन करावे ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

अर्थ— और जन्मसे दशवें दिन अथवा बारहवें दिन इस बालकका नामकर्म, नाम निकसाना चाहिये और इन दिनोंमें नहीं किया जावे तो पवित्र तिथी शुभमुहूर्त और नक्षत्रके दिन करावे ॥ ३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

अर्थ— ब्राह्मणका नाम मंगलवाचक करै और क्षत्रियका नाम बलसेयुक्त करै वैश्यका धनसेयुक्त करै और शूद्रका नाम निंदासेयुक्त करै ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेण्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अर्थ— ब्राह्मणका नाममें शर्मा और राजा, क्षत्रियके नाममें वर्मा और वैश्यका नामपुष्टिसेयुक्त गोत्या और शूद्रका नाम दाससेयुक्त करना चाहिये जैसे ब्राह्मणका नाम शुभशर्मा, क्षत्रिय, बलवर्मा, वैश्य, वसुभूति शूद्रदीनदास इत्यादिक नाम करने चाहिये ॥ ३२ ॥

स्त्रीणां सुखोद्यमकूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।

मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

अर्थ— सुखसे उच्चारण करनेको योग्य और अकूर स्पष्ट अर्थवाला मनोहर और मंगलका वाचक दीर्घवर्ण जिसके अंतमें होवे और आशीर्वादके शब्दसेयुक्त ऐसा नाम स्त्रीका करना चाहिये जैसे यशोदा देवी ऐसा नाम होना चाहिये ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।

पष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

अर्थ— चौथे महीनेमें बालकको सूर्यके दर्शन करानेकेवास्ते घरसें बाहिर निकासे और छठे महीनेमें बालकको अन्नप्राशन करावे अथवा जैसा कुलका आचरण हो तैसे करै ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

अर्थ—संपूर्ण द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंकै पहले वर्षमें धर्म-केवास्ते बालकका चूडाकर्म करना चाहिये अथवा तीसरे वर्षमें करै यही वेदकी शिक्षा है ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

अर्थ—गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मणका उपनयनकर्म अर्थात् यज्ञोपवीत करवावे और गर्भसे ग्यारवें ११ वर्ष क्षत्रियकै और गर्भसे बारहवें १२ वर्ष वैश्यकै यज्ञोप-वीत करवाना चाहिये ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

अर्थ—वेदके पढ़नेकेवास्ते जो तेज बढ़ाया जाताहै उसको ब्रह्मवर्चस कहते हैं सो ब्रह्मवर्चसकी कामना इच्छावाला ब्राह्मणका पांचवें वर्ष ५ उपनयनकर्म करावे और फौजआदि बलकी इच्छावाले राजाका छठे वर्ष करावे और बहुतसी कृषिआदिकी चेष्टावाले वैश्यका आठवें वर्ष उपनयनकर्म करावे यद्य-पि बालककै इच्छा नहीं है परंतु यहां उसके पिताकी इच्छा जाननी ॥ ३७ ॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।

आद्वाविंशात्क्षत्रवन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

अर्थ—सोलहवर्षतक ब्राह्मणकी सावित्री अर्थात् गायत्री याने उपनयनका समय व्यतीत नहीं होता है क्षत्रियकै २२ बाईसवर्षतक और वैश्यकै २४ चौबी-सवेंवर्षतक उपनयनकर्मका समय व्यतीत नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस कहेहुए कालके पीछे ये तीनोंवर्ण पतित होजाते हैं और अपने-अपने समय ये संस्कार नहीं होनेसे सावित्री सपतितहो श्रेष्ठ पुरुषोंसे निंदित होजाते हैं और इन्होंकी ब्रात्यसंज्ञा होजाती है ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।

ब्राह्मण्यौनांश्च संबन्धनाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः । धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्वलिम् । स्याच्चाप्तायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

अर्थ—राजा अनेक प्रकारकी और बहुत दक्षिणासे युक्त अश्वमेधादिक यज्ञोको करे और धर्मके अर्थ ब्राह्मणोंको स्त्री गृह शय्यादिक भोग और सुवर्ण वस्त्रादिक धन देवे ॥ ७९ ॥ राजा अपने रामज्येंसे वर्षकी उगाहीको उघावे मंत्रियोंकरके और लोगोंसे उस करको शास्त्रकी विधिपूर्वक लेवे और अपने देशमें वसनेवाले मनुष्योंमें ऐसा प्यार रखे जैसा पिता पुत्रोंमें रखता है ॥ ८० ॥

अध्यक्षान् विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः । तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥ अर्चितानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् । नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

अर्थ—ज्ञानवान् राजा तिन तिन हस्ती और घोड़े और रथ तथा पियादे और धन इत्यादिक स्थानोंमें इन कामोंको जाननेवाले अफसर करे नानाप्रकारके और वे अफसर इस राजाके काम करते हुए मनुष्योंके सब कामोंको देखें ॥ ८१ ॥ वेदके पढ़ेहुए जो गुरुकुलसे निवृत्त हुए ब्राह्मण उन्हेंको धनधान्यसे पूजें क्योंकि राजाओंको यह ब्राह्मनिधि अक्षय कही है अर्थात् इस प्रकार ब्राह्मणोंको देनेसे धनधान्यमें वृद्धि होती है ॥ ८२ ॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति । तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥ न स्कन्दते न व्यथने न विनश्यति कर्हिचित् । वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ८४

अर्थ—ब्राह्मणोंमें स्थापित करीहुई तिस निधिको चौर और शत्रु नहीं ले सकते और नहीं नाशको प्राप्त होती इससे राजाको ब्राह्मणोंके अर्थ अक्षय निधि अर्थात् बहुत धन देना चाहिये ॥ ८३ ॥ अग्नीमें जो हवन किया जाता है वह कभी जमीनमें जा पड़ता है और कभी सूषजाता है और कभी नष्ट होजाता है और जो ब्राह्मणके मुखमें होमा है उसमें ये दोष नहीं हैं इससे अग्निहोत्रादिकोंसे ब्राह्मणको दान देना श्रेष्ठ है ॥ ८४ ॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं

वेदपारगे ॥ ८५ ॥ पात्रस्य हि विषेशेण श्रद्धादानतयैव च ।

अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—क्षत्री आदिकोंको देनेसे समान फल होता है और जो क्रियाकरके रहित ब्राह्मण आपको ब्राह्मण कहता है उसको देनेसे दूना फल होता है और पढोंकों देनेसे लक्षगुणा और संपूर्ण वेदके जाननेवालाको देनेमें अनंत गुणा फल होता है ॥ ८५ ॥ सत्पात्रको देनेसे और श्रद्धाकरके करनेसे थोडासाभी दान दिया हुआ सत्पात्र और श्रद्धाके अनुसार थोडा वा परलोकमें घना फल देता है ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः । न निवर्तेत संग्रामात्क्षेत्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥ संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—समान बलवालेकरके और अधिक बलवालेकरके तथा कमबलवालेकरके बुलायाहुआ अपनी प्रजाका पालन करता हुआ राजाको क्षत्रियधर्मको जानके युद्धसे हटना नहीं चाहिये ॥ ८७ ॥ युद्धमें अपराङ्मुखत्वं अर्थात् पीठ नहीं देवे और अपनी प्रजाका पालन करना तथा ब्राह्मणोंकी सेवा करनी ये सब राजोंके कल्याण अर्थात् श्रेष्ठ स्वर्गादिकके देनेवाले हैं ॥ ८८ ॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः । युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥ न कूटैरायुधैर्हन्यायुध्यमानो रणे रिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ९०

अर्थ—युद्धोंमें स्पर्द्धा करतेहुए आपसमें एकको एक मारनेकी इच्छा करतेहुए उत्तम शक्तिकरके सन्मुख युद्ध करते हुए, जो पराङ्मुख नहीं होते हैं ऐसे राजा स्वर्गको जाते हैं ॥ ८९ ॥ रणमें जुद्ध करता हुआ शत्रुओंको कूट आयुधोंसे अर्थात् बाहर लकड़ी लगी हो और भीतर पैना शस्त्र हो ऐसे शस्त्रोंसे नहीं मारे और कर्णिके आकारवाले बाणोंसे और विषमें भरे हों तथा अग्निमें तपाये हों ऐसे बाणोंसे नहीं मारे ॥ ९० ॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥ न सुप्तं न विसन्नाहं न नम्रं न निरायुधम् । नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—आप रथमें बैठा हो और शत्रु जमीनमें हो तो उसे नहीं मारे और नपुंसकको तथा हाथ जोड़ले उसे और केशोंको खोललें तथा मेंतो आपकी शरण हूं आपहीका हूं ऐसे कहनेवालेको और शस्त्र डालके बैठजावे ऐसेकों नहीं मारे ॥ ९१ ॥ सोते हुएको तथा विना वस्त्रवालेको तथा नग्नको और विना शस्त्रवालेको और युद्ध नहीं करनेवालेको और दूसरेसे युद्ध करतेको नहीं मारे ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षितम् । न भीतं न परावृत्तं स-
तां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥ यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते
परैः । भर्तुर्यदुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ—जिसका शस्त्र टूटजावे और पुत्रादिकोंके शोकसे आर्त हो और बहुत शस्त्रोंके लगनेसे व्याकुल हो तथा युद्धमें डरता हो और युद्धसें भाजै इतने शत्रुओंको श्रेष्ठधर्मको जाननेवाला राजा नहीं मारे ॥ ९३ ॥ जो डरके रणसे भगा हुआ योद्धा रणमें शत्रुओंसे भाराजाता है वह अपने मालिकके संपूर्ण पापको प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते
परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥ रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशू-
न्ध्रियः । सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

अर्थ—युद्धमें पराङ्मुख होके मरनेवालेको जो कुछ जीवतेहुए परलोककेवास्ते सुकृत संचय किया था उस संपूर्णको उसका राजा लेता है ॥ ९५ ॥ रथ घोड़ा हस्ती छत्र धन धान्य गौ आदि पशु स्त्री और संपूर्ण वस्तु गुड नौन आदि तथा कुप्य अर्थात् सौना चांदीकेविना ताम्रादि धातु धन इन संपूर्ण चीजोंको जो अकेला न्यारा जीतके ल्याता है वह सब लानेवालेकाही है और सौना चांदीतो राजाहीका है ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः । राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो
दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥ एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः
सनातनः । अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

अर्थ—यह वेदमें लिखा है कि जीतिके ल्यायाहुआ सौना चांदी या और कोई उत्तम धन उसको राजाके अर्पण करे और हस्ती घोड़े वाहनादिकभी राजाको देवे और राजाको यह करना उचित है कि सब जो धावोंको मिलके जीतेहुए

धनको संपूर्ण जो धाओंके अर्थ यथायोग्य बहादुरीकी इनाम देवे ॥ ९७ ॥ यह युद्धधर्म क्षत्रीको सनातन कहा है और अनुपस्कृत है अर्थात् उत्तम है इसवास्ते क्षत्री रणमें शत्रुओंको मारताहुआ इस युद्धधर्मकों नहीं छोड़े ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत अब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः । रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।

अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अर्थ—जो नहीं जीताहुआ भूमी सुवर्णादि है उसको जीतनेकी इच्छा करे और लब्ध हुएकी जतनकरके रक्षा करे और रक्षा कियेको वणज आदिकोंसे बढ़ावे और बढ़ेहुए धनको सुपात्रको देवे ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकारका पुरुषार्थ अर्थात् स्वर्गादिकोंका प्रयोजन जानें इसवास्ते आलस्यरहित सदा इसका अच्छे प्रकार अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेदण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया । रक्षितं वर्धयेद्बुद्ध्या वृद्धं दानेन निःक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृत-
पौरुषः । नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

अर्थ—जो नहीं जीती वस्तु है उसको अपनी फौजकरके जीतनेकी इच्छा करे और जीतेहुएको बंदोवस्तसे रक्षा करे और रक्षा कियेको वणज आदि वृध्युपा-
यसे बढ़ावे और बढ़ेहुए धनको सुपात्रोंके अर्थ दान देवे ॥ १०१ ॥ सदा अप-
नी सेनाको हस्ती तथा अश्व आदिकोंसे युद्ध करनेकी शिक्षाका अभ्यास कराने-
वाला होवे और सदा शस्त्रविद्यासे बलको प्रकाश करनेवाला होवे और अपने
संपूर्ण मंत्री आदिकोंको गुप्त रखनेवाला होवे और सदा शत्रुके व्यसनादि
छिद्रोंको देखनेवाला होवे ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् । तस्मात्सर्वाणि भूता-
नि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥ अमाययैव वर्तेत न कथंचन
मायया । बुद्धयेतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

अर्थ—नित्य उद्यत दंडवाले राजासे संपूर्ण जगत् उद्वेग अर्थात् डरको प्राप्त हो-
ता है इससे सब प्राणियोंको दंडहीसे बसमें करे ॥ १०३ ॥ और मंत्रियोंसे छल
कभीभी नहीं करे क्योंकि छल करनेसे राजामें विश्वास मंत्रियोंका नहीं रहता

है इससे धर्मकी रक्षाके अर्थ यथार्थ व्यवहार वर्ते और वैरीकी रचीहुई मायाको सदा जानै ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि
रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥ बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च
पराक्रमेत् । वृकवच्चावलुम्पेत् शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ—ऐसा जतन करे कि जिससे इस राजाके छिद्रोंको दूसरा नहीं जानसके और दूसरेके छिद्रको आप जानलेवे और जैसे कछवा अपने मुखचरणादिको-को अपने शरीरमें गुप्तकर लेता है ऐसेही अपने छिद्रोंको जतनसे गुप्त करै ॥ १०५ ॥ राजा बुगलेकी तरह अपने प्रयोजनोंको चितवन करे और सिंहकी समान पराक्रम करे और भेड़ियेकी तरह शत्रुको मार डाले और जो कभी बलवाले शत्रुओंके बीचमें घिरजावे तो शशेकी तरह छल करके भाज जावे और किसी बलवान्के आश्रय होजावे ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः । तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः
प्रथमैस्त्रिभिः । दण्डेनैव प्रसह्येतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

अर्थ—इस प्रकार विजय करतेहुए इस राजाके जो शत्रु होवे अर्थात् विजय न करने देवे उन संपूर्णोंको साम दान दंड भेद आदि उपायोंसे अपने वशमें करे ॥ १०७ ॥ जो वे विजय विरोधी आदिके तीन उपायोंसे न माने तो फिर बलसे उसके देशोंको जीतके और युद्धमें दंड करके वशमें करे ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः । सामदण्डौ प्रशंसन्ति
नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥ यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं
च रक्षति । तथा रक्षेत्रूपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

अर्थ—सामादिक चारों उपायोंमें राज्यकी वृद्धिके अर्थ पंडितजन सामादिक चार उपायोंमेंभी साम तथा दंड इन दोनोंकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् अच्छा कहते हैं ॥ १०९ ॥ जैसे खेती करनेवाला पुरुषसाथही उपजे तृण और धान्योंमें निरानेके वक्त तृणको उषाड डालता है और धान्यको रखता है तैसेही राजा राज्यकी रक्षा करे और चोर दुष्ट आदिकोंका नाश करे ॥ ११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया । सोऽचिराद्भश्यते राज्या-
जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥ शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणि-
नां यथा । तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

अर्थ—जो राजा अज्ञानसे विना कसूर प्रजाको कष्ट देता है वह शीघ्रही पुत्र
बांधवोंसहित नष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥ जैसे प्राणधारियोंके आहार निरोधा-
दिकसे शरीरशोषण करनेसे प्राण नष्ट हो जाते हैं तैसेही राजाओंकेभी प्राण
राज्यको पीडा देनेसे प्रकृतियोंके कोपादिकसे नष्ट हो जाते हैं ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि
पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥ द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्म-
मधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—राज्यकी रक्षा करनेकेवास्ते राजा इस आगे कहेको करै क्योंकि राज्य-
की रक्षा करनेवाला राजा परिश्रमकेविनाही बढ़ता है ॥ ११३ ॥ दो ग्रामोंमें अथ-
वा तीन ग्रामोंमे वा पांच ग्रामोंमें तथा सौ ग्रामोंके बीचमें रक्षा करनेवाले पुरु-
षोंका समूह स्थापन करे अर्थात् थाना तहशील आदि स्थापन करे ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्विश्वग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च
सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥ ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः
स्वयम् । शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—एकगांवका मालिक करे तैसेही दशग्रामोंका मालिक करे और बीस
ग्रामोंका मालिक करै वा सौ ग्रामका मालिक करै तैसेही हजार ग्रामोंका मालि-
क करे इस क्रमसे राजा स्थापन करे ॥ ११५ ॥ एक ग्राममें चौरादिकोंका
दोष वा लडाई फिसाद उठे उसको वह ग्रामाधीश बंद न कर सके तो दशग्रा-
मके अधिपतिको कहै वह बीस ग्रामके अधिपतिको कहै ॥ ११६ ॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्ग्रामशतेशस्तु स-
हस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्राम-
वासिभिः । अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

अर्थ—बीस ग्रामोंका अधिपति तिस संपूर्ण कार्यको सौ ग्रामके मालिकको कहै
और सौ गावोंवाला हजार गांवोंवालेको कहै ॥ ११७ ॥ और जो जो अन्न

पानी ईंधन आदि वस्तु राजाको देनी योग्य है वे सब ग्रामवासी जनोंने तिस अपने ग्रामके अधिपतिके वास्ते देनी चाहिये अर्थात् वह ग्रामाधीश अपनी वृत्तिकेवास्ते तिनसे ग्रहण करे ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च । ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः
सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥ तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथ-
कार्याणि चैव हि । राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥

अर्थ—छह बैलोंका एक हल ऐसे दो हलोमें जितनी जमीन जोती जावे वह कुल कहाता है सो दशग्रामोंका अधिपति तिस एक कुलको ग्रहण करे और बीस ग्रामोंका अधिपति ऐसी पांच कुलोंको ग्रहण करे और सौ ग्रामोंका अधिपति एक मध्यम ग्रामको ग्रहण करे हजार ग्रामोंवाला मध्यम पुरको ग्रहण करे ॥ ११९ ॥ उन ग्रामोंके अधिपतियोंके ग्रामोंके जो कार्य हैं अर्थात् उनसे न हुए हैं उनको तथा अन्य कार्योंको राजाका किया हुआ योग्य अन्य मंत्री आलस्यरहित होके देखे ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् । उच्चैः स्थानं घोररूपं
नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ स ताननुपरिकामेत्सर्वानेव सदा
स्वयम् । तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्ग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

अर्थ—नगर नगरके प्रति एक बड़े कुलका प्रधानरूप और हस्ती घोड़े आदि फौजसे भय देनेवाला और संपूर्ण कार्योंका चिंतन करनेवाला ऐसा एक पुरुष नक्षत्रोंमें शुक्रके समान तेजवाला होना चाहिये अर्थात् ऐसे गुणवालेको कार्यको देखनेके वास्ते नगरोंका अधिपति करे ॥ १२१ ॥ वह नगराधिपति सदा आप उन ग्राम आदि पतियोंकेपास जावे अर्थात् दौरा करे और उन ग्रामोंके पतियोंको राष्ट्रमें जो कुछ हुवा किया हो वह सब दूतद्वारा जानें ॥ १२२ ॥

राज्ञोऽहिरक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । भृत्या भवन्ति प्राये-
ण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ ये कार्याभ्योऽर्थमेव गृ-
ह्णीयुः पापचेतसः ॥ तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—राजाको रक्षा करनेवास्ते जो नौकर किये जाते हैं वे विशेष करके प्राये द्रव्यको हरनेवाले ठग होजाते हैं इसवास्ते राजा तिन नौकरोंसे इस प्रजाकी आप रक्षा करे ॥ १२३ ॥ जो राजाके कामदार पापबुद्धिवाले होके लोभके

वशसै कार्यार्थियोंसे धनको ग्रहण करलेवे तो राजा उनका संपूर्ण धनको लेके अपने राज्यसे बाहिर निकला देवे ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ॥ प्रत्यहं कल्पयेद्दृ-
त्तिस्थानंकर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य
वेतनम् । षण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

अर्थ—राजा अपने कर्ममें नियुक्त हुई स्त्रियोंकी अर्थात् दासियोंका और दूत आदि टहैलवाँकी दिनदिनकी वृत्तिकों स्थान औरके अनुसार करै अर्थात् उनके अनुसार रोजीना वगैरे करै ॥ १२५ ॥ घरको बुहारनेवाला पानी भरनेवाला निकृष्ट चाकरको दिन दिन प्रति आगे जो कहेंगे वैसा एक पण देवै और छठे महिनें महिनें दो कपडे देवै एक महीनेके प्रति द्रोण अर्थात् सोलह से-रके अनुमान अन्न देवै और उत्कृष्ट चाकरको दिन दिन प्रति छह पण देवै और वस्त्र आदिभी छहगुना देवै मध्यम चाकरको ये सब तिगुनें देवै ॥ १२६ ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य व-
णिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता
च कर्मणाम् । तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

अर्थ—वनियां वस्त्र धान्य आदिको बेचे खरीदे तब इसको कितना मेलिया और कितनी दूरसे ल्याया रास्तेभोजनका क्या खर्च लगा चौरादिकोंकी रक्षा करनेमें क्या खर्च पडा इत्यादिक सब खर्चको राजा देखके वनियांसे कर दिल-वावे ॥ १२७ ॥ कामोंको करनेवाले वनियां कृषि आदि पुरुष जैसा फल पाते हैं अर्थात् जैसा मुनाफा उठाते हैं वैसा राजा उस फलको देखके अपने राज्यमें निरंतर कर लगावे चूंगीलसंस आदि कर लावे ॥ १२८ ॥

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः । तथाल्पाल्पो ग्रही-
तव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥ १२९ ॥ पञ्चाशद्भाग आदेयो रा-
ज्ञा पशुहिरण्ययोः । धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥

अर्थ—जैसे जोक अल्प अल्प रक्तको पीती है वच्छा थोडा थोडा दूध पीता है भौरा शहदको पहले धीरे धीरे पीता है तैसेही राजाको थोडा थोडाकरके रा-जाको वर्ष वर्षप्रति कर लेना अर्थात् सालियाना थोडा कर लेवे उजाड न करे

॥ १२९ ॥ खरीदनेके धनसे अधिक पशु और सुवर्णका पंचासवा भाग राजा कर लेवे और धान्यका आठवां तथा छठवा वारहवा भाग जैसी जमीनकी पैदा इश हो उसके अनुसार ग्रहण करे ॥ १३० ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् । गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च । मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

अर्थ—वृक्ष मधु घृत गंध औषधी रस पुष्प मूल फल पत्र शाक तृण चर्म वैदल अर्थात् दलाहुआ ॥ १३१ ॥ फोडाहुआ अन्न आदिक मांटीके वरतन संपूर्ण पत्थरकी चीजें इनका छठा भाग लेवे अर्थात् इनकी आमदनीका छठा भाग कर लेवे ॥ १३२ ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् । न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥ यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा । तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

अर्थ—क्षुधाकरके पीडित हुआभी राजा श्रोत्रिय अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मणसे कर नहीं लेवे और इस राजाके देशमें वसताहुआ श्रोत्रिय क्षुधाकरके पीडित न होवे ॥ १३३ ॥ जिस राजाके देशमें श्रोत्रिय ब्राह्मण क्षुधाकरके पीडित होता है उस राजाका वह देशभी शीघ्रही भूखकरके नष्ट हो जाता है अर्थात् तिसराज्यमें दुर्भिक्ष पडता है ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् । संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञायं कुरुते धर्ममन्वहम् । तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

अर्थ—श्रोत्रिय ब्राह्मणको शास्त्रके ज्ञानमें और अनुष्ठानमें प्रवृत्तहुएको जानके धर्मके युक्त आजीविकाको राजा करे और इसको जैसे पिता औरस पुत्रकी रक्षा करता है तैसे सब प्रकार चौरादिकोंसे रक्षित करे ॥ १३५ ॥ राजाकरके सम्यक् प्रकारसे रक्षा कियाहुआ यह श्रोत्रिय ब्राह्मण दिनदिनप्रति धर्मको कराता है तिस करके राजाके आयु धन राज्य ये बढ़ते हैं ॥ १३६ ॥

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् । व्यवहारेण जीवन्तं रा-

जा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥ कारुकाञ्छिल्लिपनश्चैव शूद्रांश्चा-
त्मोपजीविनः । एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

अर्थ—सागपत्ते आदिकोंको वेचनेकी आजीविका करनेवालोंको राजा अपने राज्यमें थोडासालियाना दिलवावे अर्थात् गरीब आदमियोंसे कर्मकर लेवे ॥ १३७ ॥ कारुक अर्थात् चटाई आदि काम करनेवाले अथवा चिननेके काम करनेवाले और चित्र काढनेवाले वा लोहकार आदि शिल्पी शूद्र आपको क्लेश देके आजीविका करनेवाले मजदूर पलदार आदि इनसे राजा महीनाके महीने एक दिन काम ले लेवे ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया । उच्छिन्दन् ह्या-
त्मनो मूलमात्मानं ताश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च
स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः

अर्थ—प्रजाकी दया करके राजा कर नहीं तो अपना मूल छेद करता है और ज्यादा कर लेनेसे प्रजाका मूल छेद होता है इसवास्ते ऐसा न करे अर्थात् कर नहीं लेनेमें खजाना क्षीण होके राजा दुःख पाता है ज्यादा कर लेनेमें प्रजा दुःख पाती है ॥ १३९ ॥ राजा कामको देखके कहीं तेज होवे और कहीं मुलायम हो जावे क्योंकि कभी तेज और कभी नम्र होवे ऐसा राजा सबको प्रिय है ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्भूतम् । स्थापयेदासने त-
स्मिन् खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ एवं सर्वं विधायेदमि-
तिकर्तव्यमात्मनः । युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥

अर्थ—आप मनुष्योंके मुकदमें देखनेमें खिन्न हो अर्थात् स्वस्थ चित्त न होवे तो प्रधान धर्मको जाननेवाला बुद्धिमान् जितेंद्रिय कुलीन ऐसे मंत्रीको अपनी जगह स्थापितकर देवे मुकर्रर करे ॥ १४१ ॥ इस प्रकार कहे हुए संपूर्ण अपने कामोंको विधान करके फिर आप प्रमादसे रहित हुआ एकाग्र चित्तसे युक्त होके इस प्रजाकी रक्षा करे ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् हियन्ते दस्युभिः प्रजाः । संपश्यतः
सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः
प्रजानामेव पालनम् । निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ४४

अर्थ—दीवान मंत्रियोंसहित जिस राजाके देखते हुए उसकी प्रजा क्लेश पाती हुई है और चौर धारियों करके लुटती है वह जीवता हुआही राजा मरा हुआ है जीवते हुएके कार्य करनेमें असमर्थ होनेसे जीवता नहीं है ॥ १४३ ॥ प्रजाकी रक्षा करना यही राजाका परम उत्तम धर्म है क्योंकि यथोक्त फलको भोगनेवाला राजा धर्मके संबंधसे होता है अर्थात् धर्मसे राज्यके फलको भोगनेवाला होता है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः । हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चाचर्य
प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥ तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्र-
तिनन्द्य विसर्जयेत् । विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥

अर्थ—वह राजा रात्रीके पीछले पहरमें पहरके तडके उठके शौच, मुखशुद्धि आदि क्रिया कर स्नान कर सावधान हो अग्निमें हवन कर और ब्राह्मणोंका पूजन करि पीछे सुंदर सभामें प्रवेश करै अर्थात् नित्यकर्म करके कचहरीमें जावे ॥ १४५ ॥ फिर तिस सभामें प्राप्त होके दर्शनकेवास्ते आई हुई प्रजाके संग सं-
भाषण आदि करके उनका विसर्जन करे अर्थात् अपने अपने घरों जानेंकी आज्ञा देवै पीछे अपने मंत्रियोंसे सब बातोंकी सलाह करै ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः । अरण्ये निःशलाके वा
मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥ यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य
पृथग्जनाः । स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

अर्थ—पर्वतपे चढके अथवा वनमें एकांतस्थानमें प्राप्त होके जहां कोई अन्य चुगलखोर नहीं सुनते हों ऐसे मकानमें बैठके मंत्रियोंके साथ राज्यसंबंध गुप्त बातोंकी सलाह करे ॥ १४७ ॥ जिस राजाके मंत्रको अर्थात् सलाह अन्य कोई मिलके नहीं जानसक्ते है वह राजा कोश अर्थात् खजानोंसे हीन हुआभी इस संपूर्ण पृथ्वीका राज्यको भोगता है ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् । स्त्रीम्लेच्छव्याधित-
व्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥ भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं ति-
र्यग्योनास्तथैव चास्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥

अर्थ—राजा मंत्र सलाह करनेके समय जडबुद्धिरहित गूंगा अंधा बहिरा

तोता मैना आदिक पक्षी अति वृद्ध स्त्री म्लेंच्छ व्याधिसे पीडित इनकोभी अलग हटवा देवै ॥ १४९ ॥ पूर्वोक्त ये जडादिक पहलेके दुष्कृतके कारणसे जडादिक भावको प्राप्त हो सुनके मंत्रको भेदन करदेते है इसी तरह तोता मैना आदि पक्षी स्त्री वृद्ध रोगी इत्यादिकभी राजाकी सलाहको भेदन करदेते है इसवास्ते तिनको दूर करके गुप्त सलाह करै ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः । चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥ परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् । कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—मध्याह्नसमयमें तथा अर्द्ध रात्रीकी समय चित्तके क्लेशसे रहित हो स्वस्थ चित्त होके तिन मंत्रियोंसहित अथवा अकेला धर्म अर्थ काम इनको करनेका विचार करे ॥ १५१ ॥ धर्म अर्थ काम इन तीनोंका आपसमें विरोध है इसवास्ते इनका विरोध नहीं होसके तिस मार्गसे इनको संचय करनेको तथा पुत्रियोंके विवाह दान आदिको और पुत्रोंको नीतिशास्त्र विनय रक्षा करनी इनके पढ़ानेको चिंतवन करै ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च । अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः । अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥

अर्थ—दूतोंको परराज्यमें भेजनेका प्रकार और अन्य बाकी कामोंका विचार जनानें महलोंमें जो प्रचार होरहा हो तिसका विचार और प्रति राजाओंका विचार इनको अनुचितवन अर्थात् विचार करे ॥ १५३ ॥ संपूर्ण आठ प्रकारके कर्मोंको चितवन करे और पंचवर्गको तत्त्वसे निश्चयसे चिंतवन करे अनुराग विरागको विचारै और मंडलका विचार करे अर्थात् कौन लडना चाहता है कौन मुलाकात चाहता है इत्यादि विचार करे ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् । उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥ एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः । अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

अर्थ—मध्यम अर्थात् जीतनेकी इच्छा करनेवाले शत्रु और अपनी सेनाके बीच वालेके प्रचारको १ जीतनेकी इच्छावाले शत्रुके कर्मको २ उदासीन शत्रुके प्रचा-

रको ३ और शत्रुके किये हुए यतनको ४ राजा चिंतवन करता रहै ॥ १५५ ॥
ये मध्यम आदि चार प्रकृति संक्षेपमात्रसे मंडलकी मूल कही है और अन्य आठ
कही है ये दोनों तरहकी प्रकृति मिलके बारह कही है ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डारूपाः पञ्च चापराः । प्रत्येकं कथिता ह्येताः
संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव
च । अरेरनन्तरं मित्रमुदासिनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—अमात्य राष्ट्र दुर्ग अर्थ दंड ये पांच द्रव्यप्रकृति है फिर ये पांच प्रकृति
पहले कही बारह प्रकृतियोंके साथ बारह गुनी होके साठ ६० होती है और ४
मूलप्रकृति ८ शाखा प्रकृति इन समेत संक्षेपमात्रसे ७२ बहत्तर प्रकृति भुनियोंने
कही है ॥ १५७ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके चारों तर्फ अरि प्रकृति-
को जानै और तिस अरिके मित्रकोभी अरि जानै और उसके अनंतर मित्र-
प्रकृति अरिको जानै और मित्र शत्रुसे जो अन्य कोई जीतनेकी इच्छा करता है
उसको उदासीन प्रकृति जानै ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः । व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च
पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥ संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव
च । द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

अर्थ—तिन सब राजाओंको साम दानादिक सब उपायोंकरके वशमें करै अ-
थवा केवल दंडहीकरके वशमें करे तथा केवल साम कहै समझानेसेही वशमें करे
॥ १५९ ॥ हस्ति अश्व आदि देके मेल करना १ लड़ाई २ शत्रुपर युद्धकेवास्ते
जाना ३ वा उसकी राह देखना ४ अपने प्रयोजनके वास्ते फौजके दो हिस्से
करना ५ शत्रुसे पीडित होके बलवान् राजाका आश्रय लेना संश्रय कहिये ६ ये
छह गुण है इनको सदा चिंतवन करता रहै ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च । कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वै-
धं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥ संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव
च । उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अर्थ—अपनी समृद्धि और शत्रुकी हानि आदि कार्यको देखके मेल करना
वा शत्रुपै युद्धकेवास्ते गमन करना लड़ाई करना वा आश्रय होना इन चारों
माहसों जैसा उचित देखै वैसाही करे ॥ १६१ ॥ राजा संधिको दो प्रकारकी

जानै विग्रहकोभी दो प्रकारकी जानैं और यान, आसन, संश्रय येभी दो प्रकारके हैं अर्थात् ये छहों गुण दो दो प्रकारके हैं ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च । तदात्वायतिसंयुक्तः
संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥ स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल
एव वा । मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

अर्थ—तात्कालके फलके वास्ते वा उत्तरकालके फलकेवास्ते जो अन्य सहाय-
वाले राजाके साथ होके शत्रु राजाके प्रति यान आदि कर्म कियाजाता है वह
समान यानकर्मासंधि कहाती है और तू यहां आ हम आवेंगे ऐसैं जो परफलके
वास्ते की जाती है वह असमान यानकर्मा संधि है ऐसे दो प्रकारकी है ॥ १६३ ॥
शत्रुके जयरूप कार्यकेवास्ते शत्रुके व्यसन आदिकोंको जानके उचित मार्गशीर्ष
आदि कालमें वा वे कालहीमें युद्ध करना यह एक विग्रह है और अपने मित्रका
अपकार हो जा उसकेवास्ते युद्ध करना यह दूसरा विग्रह है ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया । संहतस्य च मित्रेण
द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥ क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन
वा । मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—अत्यावश्यक कार्य होनेमें इच्छापूर्वक शत्रुपे दौड़ करना यह एक यान
है और समर्थ नहीं हो तो मित्रको संग लेके शत्रुपे दौड़ करना यह दूसरा यान
है ॥ १६५ ॥ पूर्वजन्मके दुष्कृतसे वा इसी जन्मकी बुराईसे जिसकी फौज हस्ती
घोड़े कोश आदिका नाश होजावे उसका आसन अर्थात् रक्षा करना वा मित्रके
अनुरोधसे रक्षा करना ये दो प्रकारके आसन हैं ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धयोद्विविधं कीर्त्यते द्वैधं
षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥ अर्थसंपादनार्थं च पीडयमानस्य
शत्रुभिः । साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

अर्थ—राजा अपने कार्यकी सिद्धिकेवास्ते कुछ फौजको एक स्थानपर स्थापन
करे और कुछ फौजको अपने साथ किलामें रखे यह दो प्रकार द्वैध षट्गुणोंके
जाननेवाले मुनियोंने कहा है ॥ १६७ ॥ शत्रुओंसे पीडित हुआ राजा अपने
प्रयोजनकी सिद्धिकेवास्ते जो किसी बलवान् राजाका आश्रय लेना यह एक
संश्रय है और सज्जनोंकी पीडा निवारणकेवास्ते किसीका आश्रय लेना यह दू-
सरा संश्रय है ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः । तदात्वे चाल्पिका पी-
डा तदा संधिं सामाश्रयेत् ॥ १६९ ॥ यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु
प्रकृतीर्भृशम् । अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥

अर्थ—जब उत्तरकालमें निश्चय करकेभी अपना अधिक बल जानें तब थोडा-
सा धनको ग्रहण करकेही संधिकरै अर्थात् थोडाही धनकी कोड लेके मेलकर
लेवे ॥ १६९ ॥ जबकि अपने मंत्रीआदिकोंको मान आदिसे प्रसन्न जानें और
राजा आपको फौज हाथी घोडा खजाना इत्यादि शक्ति करके युक्त जानें और धन
आदिसे पुष्ट सेनाको जानें तब युद्ध करे ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । परस्य विपरीतं च त-
दा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन ब-
लेन च । तदासीत प्रयत्नेन शनैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

अर्थ—जबकि अपने धन वाहन सेना आदि हर्षसे युक्त हो और शत्रुकी सेना,
बल आदिकसे ही नहो तब राजा शत्रुके प्रति दौड करे अर्थात् शत्रुको कर्म जोर
जानके उसका पीछा करे ॥ १७१ ॥ जब राजा सेना वाहन आदिकोंसे क्षीण
हो जावे तब यतन करके धीरे धीरे शत्रुको समझाता हुआ ठहरे ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् । तदा द्विधा बलं कृत्वा
साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥ यदा परबलानां तु गमनीयतमो
भवेत् । तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

अर्थ—जब राजा शत्रुको संपूर्ण प्रकारसे बलवान् जानें तब सेनाके दो भेद क-
रके अपना कार्य सिद्ध करे अर्थात् कुछ फौजको मोरचेपे लडनेकेवास्ते रखे कु-
छ अपने साथ किलामें रखे ॥ १७३ ॥ जब शत्रुकी सेनाकी बहुत चढाई होवे
और किलाका आश्रयसेभी नहीं बचसके तब बलवान् धार्मिक किसी अन्य
राजाका आश्रय लेवे ॥ १७४ ॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽखिलस्य च । उपसेवेत तं नित्यं स-
र्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥ यदि तत्रापि संपश्येदोषं संश्रयकारि-
तम् । सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो पूर्वोक्त प्रकृतियोंको और शत्रुके बलको हटावे तिस बलवंत राजा-

को संपूर्ण यतनोंकरके गुरुके समान नित्यप्रति सेवै अथात् उसकी आज्ञाके अनुसार चले ॥ १७५ ॥ जो यदि जिसके आश्रय हुआ हो उसमेंभी दोष अर्थात् वे इमानी देखे तो निस्संदेह होके उसके संग युद्ध करे ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः । यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥ आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् । अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

अर्थ—नीतिके जाननेवाले राजानें संपूर्ण उपायोंकरके ऐसा यतन करना चाहिये कि जिसमें इसके मित्र उदासीन शत्रु ये अधिक न होवे ॥ १७७ ॥ संपूर्ण कार्योंके उत्तरकालके फलको विचारे अर्थात् इससे क्या फाइदा होगा ऐसा विचारे और वर्तमानकालको शीघ्रही उत्पादन करे व्यतीत हुए कार्योंके गुण दोषोंको विचारे अर्थात् इसमें क्या बाकी करना रहा ऐसे विचारे ॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः । अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥ यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः । तथा सर्वं संविदध्यादेश सामासिको नयः ॥ १८० ॥

अर्थ—जो राजा होनेवाले कार्योंके गुण दोषोंको जानता है और वर्तमान कार्यमें शीघ्रही निश्चयकरके कार्य करता है और व्यतीत हुए कार्यमें अवशेष रहे-कार्यको विचारै वह शत्रुओंकरके दुःख नहीं पाता है ॥ १७९ ॥ जिस प्रकारसे इस राजाको मित्र उदासीन शत्रु ये बाधा न देसके तिस प्रकारसे संपूर्ण विधान करै यह राजा राजाके संक्षेपमात्र नीति है ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिष्टं प्रति प्रभुः । तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—और जब वह राजा अपनी सेनाके बलसे पूर्ण होके शत्रुके राज्यके प्रति चढे तब इस आगे कहे हुए विधानके अनुसार चले ॥ १८१ ॥ उत्तम सेनासे युक्त हुआ राजा शुभ मंगसिरके महीनेमें अथवा फाल्गुनके महीनेमें तथा चैत्रके महीनेमें शत्रुके राज्यमें यात्रा करे अर्थात् युद्धकेवास्ते गमन करे ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् । तदा यायाद्वि-

गृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥ कृत्वा विधानं मूले तु
यात्रिकं च यथाविधि उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च १८४

अर्थ—और जो निश्चयकरके अपनी जय जाने तो राजा इस्से अन्य ग्रीष्म ऋतु आदिमें भी हस्ती घोड़े आदि बहुत बलको ग्रहणकरके शत्रुके प्रति गमन करे और जब शत्रुके व्यसन उठे हों तब उसके राज्यमें यात्रा करे ॥ १८३ ॥ अपने राज्य और किला आदिकी रक्षा विधानकरके पीछे यात्रासंबंधी विधान विधिपूर्वक करके डेरा तंबू आदि ग्रहणकरके दूतोंकी जगह अगाऊ स्थापित कर यात्रा करे ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् । सांपरायिककल्पेन
यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो
भवेत् । गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

अर्थ—तीन प्रकारके मार्गको शोधके और अपने छह प्रकारके बलको ग्रहणकरके संग्रामकल्पकी विधिसे धीरे धीरे शत्रुके पुरकी यात्रा करे ॥ १८५ ॥ जो मित्र छिपकरके शत्रुसे मिलाहुआ हो और जो नौकर पहले द्वेषभावसे छोड़ दियाहुआ फिर आया हो इन दोनोंमें हुशयारीसे रहना चाहिये क्योंकि इन दोनोंका निग्रह करना दुर्लभ है ॥ १८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा । वराहमकराभ्यां वा
सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥ यतश्च भयमाशङ्केत्ततो वि-
स्तारयेद्वलम् । पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत् सदा स्वयम् १८८

अर्थ—दंडके समान जो रचना हो वह दंडव्यूह कहालाता है जैसे आगे फौजके अफसर बीचमें राजा पीछे सेनापति दोनोंतर्फ बराबरोमें हस्ती उनके समीपमें घोड़े तिनके आसपास पैदल ऐसे दीर्घ रचनाके विस्तारसे चलना दंडव्यूह कहालाता है उसप्रकार चले वा शकटव्यूह तथा वराहव्यूह वा मकरव्यूह वा सूची गरुडवत् आकृतिवाला व्यूहकरके रास्तामें चले जैसा योग्य जाने वैसाही व्यूहकरके चले ॥ १८७ ॥ जिस दिशामें शत्रुका भय जानें तिसतर्फ विशेष सेना फैलावे और समान विस्तृत मंडलके मध्यमें राजा आप रहे यह व्यूह कहालाता है सदा पद्मव्यूह आदिक पटमें युक्त रहे ॥ १८८ ॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् । यतश्च भयमाशङ्केत्प्रा-
चीं तां कल्पयेद्विशम् ॥ १८९ ॥ गुल्माश्च स्थापयेदाप्तान् कृत-
संज्ञान्समन्ततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभीरून्विकारिणः १९०

अर्थ—सेनाका पति और सेनाका नायक इन दोनोंको सब दिशाओंमें यो-
जना करे और जिस दिशामें भय समझे उस दिशाके तर्फ उनको पहले युक्त करे
॥ १८९ ॥ सैन्यके एक देशमें स्थित रहनेवाले विगुल ढोल बजानेवाले प्रवीण
पुरुषोंको स्थापन करे और युद्धके गुरचेपर सूर वीर डर नहीं मानें विकारसे र-
हित ऐसे पुरुषोंको स्थापन करे सेनापति सेनानायक इनको सब दिशाओंमें श-
त्रुके बंदोबस्तकेवास्ते स्थापन करे ॥ १९० ॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्वहून् । सूच्या वज्रेण चैवैता-
न् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥ स्यन्दनाश्वैः समे युद्धयेदन्नपे-
नौद्विपैस्तथा । वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

अर्थ—अल्पयोद्धाओंको इकट्ठे कराके युद्ध करवावै और बहुत योद्धाओंको
फैलाके युद्ध करवावै इन सब योद्धाओंको पूर्वोक्त सूच्यग्रव्यूहकरके वा वज्रा-
कार रचनाकरके युद्ध करवावै ॥ १९१ ॥ समान भूमिपर रथ घोड़े आदिकों-
करके युद्ध करे जलसे भरी धरतीमें नौका हस्ती आदिपर सवार होके युद्ध करे
वृक्ष गुच्छे लता आदिसे आवृत जगहमें बाणोंकरके और कांटे आदि रहित
स्थल भूमिमें तलवार ढाल आदिसे युद्ध करे ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् । दीर्घालघूंश्चैव न-
रानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥ प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्
परीक्षयेत् । चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १९४ ॥

अर्थ—कुरुक्षेत्र देशके मनुष्य विराट्देश निवासी कान्यकुब्ज शूरसेन देशमें
होनेवाले अर्थात् मथुरादेशके निवासी बड़े शरीरवाले तथा हलके शरीरवाले ल-
डनेका अभिमान रखनेवाले मनुष्योंको युद्धके आगे करै ॥ १९३ ॥ युद्ध होनेके
समय सेनाको हर्ष अर्थात् जीतनेमें धर्म लाभ है मरनेमें नरककी प्राप्ति है इत्यादि
हर्ष करवावै और ये किस अभिप्रायसे कुपित होते हैं वा हर्ष करते हैं ऐसे परीक्षा
करे शत्रुके संग लड़ते हुयोंकी चेष्टा देखे कि कैसे लड़ते हैं ॥ १९४ ॥

उपरुध्वारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्य सततं य-
वसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारप-
रिखास्तथा । समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

अर्थ—शत्रुको किलेमें अथवा किलेसे बाहिर घेरके उसके राजाको पीडा देवे
देस लूट करे और उसके घास अन्न जल इंधनादिको विषे आदि मिलाके ख-
राब करदेवे ॥ १९५ ॥ बावडी तलाव आदिको तोडडाले शहरके कोट खाही
घेर आदिको तोडडाले और रात्रीकी समयमें कमजोरकरके इस शत्रुको पीडा
देवे ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद्युद्धयेतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे युद्धयेत ज-
यप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ साम्रा दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृ-
थक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

अर्थ—रिपुके वंशके जो पुरुष राज्यकी इच्छा करते हों उनको और क्रोधवाले
उसके मंत्रियोंको मारदेवे और अपनी तथा उनकी चेष्टाको जानके शुभ ग्रहद-
शा आदि दैव होवे तब निर्भय होके युद्ध करे ॥ १९७ ॥ साम दान भेद
इन तीनोंकरके अथवा एकेही करनेसे पहले शत्रुके जीतनेकी इच्छा करे इनसे
पहलेही युद्ध करनेका यत्न कभीभी न करे साम, प्रीति आदर करना दान, ह-
स्ति घोडे आदि देना, उसके अनुचरों आदिका मारना ये तीन है ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युद्धयमानयोः । पराजयश्च संग्रामे
तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥ त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्ता-
नामसम्भवे । तथा युद्धयेत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

अर्थ—क्योंकि दो राजाओंके लडते हुए विजय अनित्य है अर्थात् कौनसा
जीतेगा और कौनसा हारेगा यह कुछ निश्चय नहीं है इसवास्ते जबतक अन्य
उपाय होसके तबतक युद्ध न करे ॥ १९९ ॥ इन तीनों पूर्वोक्त उपायोंकरके
जो शत्रु नहीं जीता जावे तो हस्ती घोडे आदिकोंके बलसे युक्त हो जिस प्रकार
शत्रुको जीतसके उस प्रकार युद्ध करे ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् । प्रदद्यात्परिहरांश्च
ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन

चिकीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—राजा अन्य राजाके राज्यको जीतके तहाँके देवताओंका पूजन करे और अपने धर्ममें रहनेवाले ब्राह्मणोंका पूजन करे वा देवता ब्राह्मण आदिकोंके-वास्ते परिहार अर्थात् किसी मतलबकी छुटी देवे और यह कहदेवे कि अबसे आगे किसीको कुछ भय नहीं है ऐसे अभयदान देवे ॥ २०१ ॥ विजय करने-वाला यह राजा शत्रुराजा तिसका मंत्री इन सबोंके संक्षेपसे अभिप्रायको जानके तिसी हतराज्यवालेके अंशीको वह राज्य देदेवे और यह करना यह न करना इत्यादि नियम सुनादेवे ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् । अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

अर्थ—उनके यथार्थ योग्य धर्मोंको प्रमाण करे और जिस राजाको राज्यका अभिषेक करे उसको मंत्री आदिकोंसहित पूजित करे अर्थात् राजा दिवान आदिकोंको खिलात देवे ॥ २०३ ॥ इच्छित द्रव्योंका लेना श्रेष्ठ नहीं है और इच्छित वस्तुओंका देना प्रीतिकारक है परंतु यथायोग्य अवसरके अनुसार लेना वा देनाभी श्रेष्ठही है इसवास्ते उस समय उस शत्रु राजाकेवास्ते येनाही अच्छा है ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे । तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥ सह वापि ब्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः । मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥

अर्थ—यह सब कर्म दैव वा मनुष्यके विधानमें आधीन है तिनमें दैव अर्थात् भाग्य सो चिंतवन नहीं किया जाता है और मनुष्यके कर्मोंमें व्यवहार आदिक क्रिया दीखनेमें आती है इसवास्ते मनुष्यद्वाराही कार्यकी सिद्धिकेवास्ते यत्न करे ॥ २०५ ॥ मित्र सुवर्ण भूमि यह तीन प्रकारका फल शत्रुके राज्यमें यात्रा करनेका है अर्थात् शत्रुके राज्यमें जाके उससे कुछ द्रव्य वा पृथ्वी लेके और मेल करके वहाँसे आवे ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले । मित्रादथाप्यमि-
मित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पा-

र्थिवो न तथैधते । यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् २०८

अर्थ—जो जयकरनेवाले राजाके पीछे मुलकको दवाता आता हो वह पार्ष्णि-
ग्राह कहाता है और जो तिसके अनंतर राज्यका मालिक किया जावे वह आ-
क्रंद कहाता है सो इन दोनोंको देखके मित्रहुए राजासे वा विनामित्रभाववाले
राजासे यात्राके फलको ग्रहण करे अर्थात् ऐसा न हो कि उनके धोखेमें आजावे
॥ २०७ ॥ राजा वैसे सुवर्ण भूमि आदिकोंको पाकर नहीं बढ़ता कि जैसे आ-
गामी कालमें बढ़नेकेवास्ते समर्थ कृशभी मित्रको पाके बढ़ता है ॥ २०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च । अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं
प्रशस्यते ॥ २०९ ॥ प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमादुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

अर्थ—धर्मज्ञ कियेहुए गुणको जाननेवाला श्रेष्ठ स्वभाववाला प्रीति करनेवाला
स्थिर कार्यका आरंभ करनेवाला ऐसा हलकासाभी मित्र बहुत अच्छा है ॥ २०९ ॥
विद्वान् अच्छे कुलमें होनेवाला शूर वीर चतुर दाता कियेहुए गुण औगुणको
जाननेवाला धीरजवाला, ऐसे शत्रुको पंडित जन कठिन कहते हैं इसवास्ते उ-
सके संग मेल करना योग्य है ॥ २१० ॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता । स्थौललक्ष्यं च सतत-
मुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धि-
करीमपि । परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥ २१२ ॥

अर्थ—साधुपना पुरुषको जानना शूर वीरपना कृपालुपना, उदारता बहुत दे-
नेवाला इन सामग्रियोंसे युक्त हो यह उदासीन वृत्तिवाला कहाता है इसवास्ते
उदासीनको आश्रय होके पहले कहे शत्रुके संग युद्ध करे ॥ २११ ॥ कल्याणको
देनेवाली बहुत धान्यको उत्पन्न करनेवाली पशुवृद्धि करनेवाली ऐसी भूमिको-
भी राजा अपनी रक्षाकेवास्ते शीघ्रही छोड़ देवे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्वारान् रक्षेद्वनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद्वारैरपि
धनैरपि ॥ २१३ ॥ सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्ताश्च वियुक्ताश्च सर्वोपायान् सृजेद्बुधः ॥ २१४ ॥

अर्थ—आपत्ति दूर करनेकेवास्ते धनकी रक्षा करे और स्त्रियोंकी रक्षा धनका

खर्चकेभी करे और अपने आत्माकी रक्षा धनकरके वा स्त्रीकरके करे ॥ २१३ ॥
एकहीवार जो संपूर्ण विपत्ति उत्पन्न हो जावे तो बुद्धिमान राजा सामआदि संपूर्ण उपायोंको मिलाके करे वा अलग अलग करे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः । एतच्चयं समाश्रित्य
प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य
मन्त्रिभिः । व्यायम्यालुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

अर्थ-उपाय करनेवाला और उपाय करनेके योग्य संपूर्ण उपाय इन तीनोंका आश्रय लेके राजा अपने कार्यकी सिद्धिकेवास्ते यतन करे ॥ २१५ ॥ राजा इस उक्त प्रकारसे संपूर्ण प्रयोजन मंत्रियोंके संग विचारके अनंतर आयुधोंके अभ्याससे कसरत कर मध्याह्नमें स्नान आदि कर्मकर फिर भोजन करनेकेवास्ते अंतःपुर रहनेके महलोंमें जावे ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः । सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्या-
न्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि यो-
जयेत् । विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

अर्थ-तहां अंतःपुरमें अपने तुल्य और भोजन कालके भेदको जाननेवाले र-
सोईदाकरके परीक्षित किया हुआ चकोर आदि पक्षियोंकरके परीक्षित कियाहु-
आ विषनाशक मंत्रोंकरके शुद्ध कियाहुआ अन्नको भोजन करे ॥ २१७ ॥ राजा-
के भोजन आदि सब द्रव्योंमें विषनाशक औषध डाले और राजा विषनाशक
रत्नोंको यतनकरके सदा धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः । वेषाभरणसंशुद्धाः
स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥ एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्या-
सनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥

अर्थ-परीक्षाकी हुई और वेष आभरण आदिकोंसे शुद्ध हुई एकाग्रचित्त हुई
इस राजाकी स्त्रियां पंखा जल धूप इत्यादिकरके सेवा करे और चंवर आदिसे
सेवा करे ॥ २१९ ॥ इसी प्रकारसे वाहन शय्या आसन इनमेंभी परीक्षाका य-
तन करे वा भोजनमें स्नानमें अनुलेपमें सब गहिनोमें परीक्षाका यतन करे ॥ २२० ॥

भक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं
पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ अलंकृतश्च संपश्येदायुधी-

यं पुनर्जनम् । वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च २२२

अर्थ—भोजन करके पीछे तहांही अंतःपुरमें स्त्रियोंके साथ क्रीडा करे दिनके सातवें भागतक क्रीडा करे आठवें भागमें फिर राज्यके कार्योंको चिंतवन करे ॥ २२१ ॥ आभूषण आदिकोंसे अलंकृत हुआ राजा आयुध जीवी सीपाही आदि नौकरोंको और हस्ती घोड़े आदि वाहनोंको और संपूर्ण शस्त्रोंको अलंकारोंको देखै ॥ २२२ ॥

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥ गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः २२४

अर्थ—उसके अनंतर संध्योपासन करके अंतःपुर अर्थात् जनानेमहलोंमें एकांतस्थानमें जाके शस्त्रको धारण करनेवाला और एकान्तका कहनेवाला जो दूत है उसके किये हुएको सुनै ॥ २२३ ॥ पीछे उस दूतको वहांसे जानेकी आज्ञा देके जनानेमहलोंमें फिर भोजनकेवास्ते तहां स्त्रियोंकी बातें सुनै तिन अंतःपुरकी स्त्रियोंमें संयुक्त रहे ॥ २२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

अर्थ—फिर तहां अंतःपुरमें कल्लुक भोजनकरके बाजा बजनेके शब्दोंसे प्रसन्न हुआ राजा उचित कालमें चार घड़ी रात गये शयन करे पीछे पहर भरके तडके विश्रांत हुआ ऊठे ॥ २२५ ॥ रोगरहित राजा इस कहेहुए संपूर्ण प्रकारको आप करे और जो अस्वस्थ अर्थात् बीमारी आदिसे पीडित हो तो इस संपूर्ण कार्यको योग्य मंत्री आदि भृत्योंको सौंपदेवें ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्राक्तोयां संहितायां राजधर्मो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभि-
 श्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥ तत्रासीनः स्थितो वापि पा-
 णिमुद्यम्य दक्षिणम् । विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्याणाम् २

अर्थ—नीतिशास्त्रमें कुशल राजा व्यवहारोंको देखनेकेवास्ते ब्राह्मण और मंत्र-
 के जाननेवाले मंत्रियोंके साथ सभाप्रवेश करे ॥ १ ॥ वेष आभरण करके सुंदर
 प्रकारसे युक्त हुआ उस सभामें बैठा अथवा खड़ा हुआ राजा दहिनी भुजाको
 उठाके कामवालोंके कामोंको विचारे ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः । अष्टादशसु मार्गेषु निब-
 द्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामि-
 विक्रयः । संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥ वेत-
 नस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयो वि-
 वादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्ड-
 वाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
 स्त्रीपुंभर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च । पदान्यष्टादशैतानि
 व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥ एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरता
 नृणाम् ॥ धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अठारह जो व्यवहारके मार्ग हैं उनमें कहेहुएको देश जाति कुल व्यव-
 हारमें प्राप्त जो हेतु उनकरके और शास्त्रमें अवगत साक्षी, द्रव्यादिकके हेतु इन-
 करके अलग अलग दिन दिन प्रति विचार करे तिन अठारह मार्गोंको आगे
 कहते हैं ॥ ३ ॥ अब तिन अठारहोंको गिनाते हैं तिन अठारहोंमें प्रथम ऋणादा-
 नको विचारते हैं ऋणके लेने देनेको ऋणादान कहते हैं १ अपना धन अन्यमें जमा
 करना यह निक्षेप कहाता है २ मालिकके बिना दूसरेको बेचना ३ फिर वनियेंकी
 क्रियाका अनुष्ठान अर्थात् हिसाब किताब दियेका फिर लेना ४ दिया हुआ धनको
 क्रोध आदिसे न लेना ५ काम करनेवालेकी नौकरी न देना ६ इकरारनामैंसे
 निकलजाना ७ खरीदने बेचनेके पीछे किया झगडा ८ मालिक और पशुपा-
 लका झगडा ९ डांडबांधकी लडाई १० कठोर वचन कहना ११ मारपीट करना

१२ चोरी करना १३ जबरदस्तीसे धन आदिका हरना १४ स्त्रीका परपुरुषसे मिलना १५ स्त्रीपुरुषके धर्मकी व्यवस्था १६ पिता आदिके धनका हिस्सा १७ पासों आदिसे जूवा खेलना वा मेंढा आदि जानवरोंकी लड़ाईमें हार जीत लगाना १८ ये अठारह स्थान व्यवहारकी प्रवृत्तिके कहे हैं ॥ ७ ॥ इन ऋण आदि व्यवहारोंके स्थानोंमें बहुतसा झगडा करतेहुए मनुष्योंका अनादिसे चले आते धर्मका आश्रयणकरके कार्यका निर्णय करे अर्थात् पुरानेकानूनके अनुसार इनसाफ करे ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः । सभामेव प्रविश्याय्यामासीनः स्थित एव वा १०

अर्थ—जो यदि अन्यकार्यमें लगाहुआ अथवा रोगादिकसे व्याकुल हुआ राजा आप कार्यको न देखसके तो तिस कार्यके देखनेकेवास्ते विद्वान् ब्राह्मणको युक्त करे ॥ ९ ॥ वह ब्राह्मण सभामें रहनेवाले तीन अन्य ब्राह्मणोंसेयुक्त हो सभामें प्रवेश हो एकाग्र खडा हो अथवा बैठके राजाके देखनेके सब कामोंको अच्छी तरहसे देखे ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः । राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥ धर्मो विद्वस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते । शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः १२

अर्थ—जिस देशमें ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जाननेवाले ब्राह्मण रहते हैं और वैसाही विद्वान् ब्राह्मण राजासे अधिकार पाके सभामें रहता है मुनिजन तिस राजाकी सभा ब्रह्माकी सभाके समान मानते हैं ॥ ११ ॥ जिस राजाकी सभामें अधर्मसे विंधाहुआ धर्म अर्थात् झूठसे मिला सच मुकदमा जाता है तहां जो यदि विंधेहुए धर्मकी शल्यको अर्थात् झूठरूप कांटेको नहीं निकालते हैं तो वे सभासद उसी अधर्मसे विंधजाते हैं ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥ यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

अर्थ—मुकदमकेवास्ते राजाकी सभामें जावे नहीं और जो जावे तो सच बोले

क्योंकि सभामें जाके कुछ न बोले वा झूठ बोले तोभी मनुष्य पापी होता है ॥ १३ ॥ जिस सभामें अधर्मकरके धर्म नष्ट होता है और झूठसे सच नष्ट होजाता है ऐसे मुद्दई मुद्दाइलोंको धर्म और सच नष्ट होजाता है तहांके सभासदोंका कसूर नहीं दूर होता इसवास्ते वे सभासद नष्ट होजाते हैं ॥ १४ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो
मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः
कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ—नष्ट किया हुआ धर्म नाशकर देता है और रक्षित किया हुआ धर्मही अर्थ प्रत्यर्थियोंसहित सबकी रक्षा करता है इसवास्ते धर्म नष्ट नहीं करना चाहिये नष्ट हुआ धर्म हमारा तुझारा नाश करेगा यह वचन सभासदोंकेप्रति न्याय करनेवालेका है ॥ १६ ॥ भगवान् धर्म वृष कहाता है तिसको जो पुरुष निवारण करता है उसको देवता वृषल ऐसा कहते हैं इसवास्ते धर्मका लोप नहीं करे ॥ १६ ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं
सर्वमन्यद्वि गच्छति ॥ १७ ॥ पादो धर्मस्य कर्तारं पादः सा-
क्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ—इस पुरुषका मित्र एक धर्मही है क्योंकि वह मरनेके पीछे चलता है और अन्य सब पुत्र स्त्री आदि कुटुंब शरीरकेहीसाथ नष्ट होजाता है अर्थात् मरेपीछे कोई साथ नहीं रहता ॥ १७ ॥ दुर्व्यवहारके देखनेसे अधर्मके चार पैर हैं सो एक पाद अर्थात् एक भाग करनेवालेको प्राप्त होता है दूसरा भाग झूठी गवाही देनेवालेको ३ भाग सभासदोंको ४ भाग राजाको ठीक इन्साफ न होनेसे इस तरह इन सबोंको पाप लगता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति क-
र्तारं निन्दाहो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ जातिमात्रोपजीवी वा
कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस सभामें असत्यवादी वा पापकर्त्ता ये ठीक इन्साफ करनेसेभी राजा आदिकोंकी निंदा करते हैं तहां राजा और सभासद पापोंसे रहित होजाते हैं और उन निंदा करनियोंको पाप लगता है ॥ १९ ॥ जो जातिमात्र तथा कहने मात्र ब्राह्मण है और कोई कर्म ब्राह्मणका नहीं करता है ऐसाभी ब्राह्मणधर्म

प्रवक्ता कहिये न्यायदर्शनमें श्रेष्ठ है परंतु शूद्रको कभीभी न्याय करनेवाला न करे ब्राह्मण या क्षत्रिय वा वैश्यकोही इन्साफ करनेमें राजा युक्त करे ॥२०॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं
पङ्के गौरिव पश्यतः ॥२१॥ यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्त-
मद्विजम् । विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस राजाके धर्मका निर्णय शूद्र करता है उस राजाका राज्यका देश कीचड़में धसकीहुई गौकी तरह पीड़ा पाता है ॥ २१ ॥ जिस राष्ट्रमें अर्थात् राजाके देशमें बहुत शूद्र है और नास्तिक मतके पुरुष अधिक है तथा ब्राह्मणोंकरके रहित है वह संपूर्ण राज्य दुष्कुल और रोगआदिसे पीडित हुआ शीघ्रही नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः । प्रणम्य लोकपालेभ्यः
कार्यदर्शनमारभेत् ॥२३॥ अर्थानर्थानुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च के-
वलौ । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्याणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—राजा धर्मासनपर बैठके शरीरको वस्त्रादिकसे आच्छादितकर एकाग्र चित्त हो लोकपालोंके अर्थ प्रणाम कर कार्यके देखनेका आरंभ करे अर्थात् अच्छी-तरह राज्यसिंहासनपर बैठके मुकदमा करे ॥ २३ ॥ प्रजाकी रक्षा और प्रजाको नष्ट करनेवाले अर्थ अनर्थोंको जानके तथा केवल धर्म अधर्मको जानके वर्णक्रमसे अर्थात् प्रथम ब्राह्मण पीछे क्षत्रिय आदि इस क्रमसे कार्योंको देखे अर्थात् मुकदमोंवालोंके मुकदमोंको देखे ॥ २४ ॥

बाह्यैर्विभावयेलिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षु-
षा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषिते-
न च । नेत्रवक्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ—मनुष्योंके बाहरके चिन्होंसे अर्थात् बोलनेसे और मुखकी शोभा बिघडनेसे नीचेको देखनेसे शरीरमें पसीना आनेसे भयकरके रोमोंके उठनेसे और हाथोंके मसलनेसे मनके मतलबको जानें ॥ २५ ॥ पहिले कहे आकारोंसे चेष्टासे बोलनेसे और चालको देखनेसे नेत्र मुखके विकारसे मनुष्योंके मनकी बात गृहणकी जाती है ॥ २६ ॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् । यावत्स स्यात्समा-
वृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं
निष्कुलासु च । पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

अर्थ—चाचेबाबा आदिकोंकरके अन्यायसे लियाहुआ बालकका धनकी और बालककी तबतक राजा रक्षा करे कि जबतक वह बालक जवान होवे और पढ़ने लिखनेमें हुसियार होवे तबतक ॥ २७ ॥ बंध्याके पासके धनकी अर्थात् वह बंध्या कि जिसके पतिने दूसरा विवाह किया होवे उसकी और विनापुत्रवाली प्रोषिद्धर्तृका, और निष्कुला अर्थात् जिसके कुलमें कोई न रहे उसके धनकी तथा पतिव्रता, विधवा रोगवाली इन स्त्रियोंके धनकी रक्षा राजा करे ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः । ताञ्छिष्या-
चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः । प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा
त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ३०

अर्थ—हम अधिकारी है इन्होंके पीछे इस धनकी हम रक्षा करेंगे ऐसे छलसे जो भाई बंधु उन स्त्रियोंके जीवते हुए तिस धनको ग्रहण करते है उनको धर्मके जाननेवाला राजा आगे कहेंगे जो चोरदंड उस दंडकरके शिक्षा देवे ॥ २९ ॥ जिस धनके मालिककी न मालुम होवे उस धनका, यह डंडोरा पिटावे कि किसीका कुछ धन खोगया हो तो वह धन राजाके धरा है इसप्रकार राजद्वारमें रक्षाकरके तीन वर्ष रखे जो तीन वर्षभीतर धनका मालिक आजावे तो वह लेवे और पीछे वह धन राजाका है ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि । संवाद्य रूपसं-
ख्यादीन् स्वामी तद्व्यमर्हति ॥ ३१ ॥ अवेदयानो नष्टस्य देशं
कालं च तत्त्वतः । वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो यह कहे कि मेरा धन है उसको यह पूछे कि तेरा धनका क्या रूप है और कितना तोलका है कहां खोया है इत्यादि सब पूछे पीछे जब ये सब सही मिल जावें तो धनका मालिकको धन मिलें ॥ ३१ ॥ उस देशमें, उस कालमें, मेरा धन खोया था और वर्ण शुक्ल था या कृष्ण रक्तादि था और फलाना गहना था इतना तोल, काथा इस बातको नहीं जानता हुआ जो पुरुष छलसे धन लिया चाहता हो उसको उस धनके समान दंड देवे ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः । दशमं द्वादशं वापि
सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥ प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठी-
तम् । यास्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ—पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंका यही धर्म है इस बातको जाननेवाला राजा कि-
सीके नष्ट हुए धनको प्राप्त होके उसमेंसे छठे हिस्सेको या दशमेंह हिस्सेको या
बारहें हिस्सेको लेवे और बाकी धन मालिकको देदेवे ॥ ३३ ॥ जो किसीका
नष्ट हुआ धन राजाके नौकरोंको प्राप्त हुआ हो और रक्षा करनेवालोंसे रक्षित
किया गया हो तिस द्रव्यको हरतेहुए जिन चौरोंको पकडे उनको राजाके ह-
स्तीसे मरवा देवै ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः । तस्याददीत षड्भा-
गं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥ अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्त-
स्यांशमष्टमम् । तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस किसीको जमीनमें गडा हुआ धन पाजावे या और पाये धन-
को यह कहै कि यह धन मेरा है तब उसके साच कहनेसे या प्रमाण देनेसे अपने
धनकी सचावर करानेसे उस पुरुषके गुन औगुणके समान उस धनका आठवा
या बारहवा हिस्साको राजा लेके बाकी रहाको उसको देदेवे ॥ ३५ ॥ जो अ-
पना धन नहीं है उसको अपना बताता हो उसको उसके घरके आठवे हिस्से
धनका दंड देना योग्य है अथवा उसी धनके थोड़ेसे भागका दंड देना यो-
ग्य है ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम् । अशेषतोऽप्याद-
दीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥ यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं
निहितं क्षितौ । तस्माद्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

अर्थ—विद्वान् ब्राह्मण पूर्वोक्त धनके खजानेको देखके संपूर्णको आपही ग्रहण
करलेवे अर्थात् छठा हिस्सा राजाको नहीं देवे क्यों कि संपूर्ण द्रव्यका मालिक
ब्राह्मणही है ॥ ३७ ॥ जो राजा कभी पहले वक्तका गडा हुआ धनको जमीनमें
देखे अर्थात् पावे तो उसमेंसे आधा धनको ब्राह्मणोंके अर्ध देके आधाको खजा-
नेमें प्राप्त करे ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ । अर्धभागक्षणाद्वा-

जा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥ दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरै-
र्हृतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

अर्थ—जो जमीनमें पुरानी धनकी निधि है और राजाकी नहीं है तथा विद्वान् ब्राह्मणोंसे अन्योको पाई है उसका और सुवर्ण आदि धातुओंकी खानिके आधे धनका मालिक राजा है रक्षा करनेसे क्योंकि राजा भूमीका मालिक है ॥ ३९ ॥ जो धन चौरोंको चोरा हो उस धनको चोरोंसे छीनके धनके मालिकको देवे और जो उस धनको राजा आप लेता है वह चोरके पापको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्माश्च धर्मवित् । समीक्ष्य कुलध-
र्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे
सन्तोऽपि मानवः । प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥

अर्थ—ब्राह्मणादिक जातियोंके धर्म अर्थात् पूजनादि तथा देशके धर्म, और श्रेणिधर्म अर्थात् वणज आदि और कुलधर्म इन सब धर्मोंको देखके धर्मज्ञ राजा अपना श्रेष्ठ राजधर्मको प्रतिपादन करे ॥ ४१ ॥ अपनी जातिके और कुलके और अपने देशके कर्मोंको करतेहुए और अपने अपने नित्य नैमित्तिक कर्मोंमें रहनेवाले मनुष्य, दूरभी वसतेहुए, संसारके प्यारे होते हैं ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः । न च प्रापितमन्ये-
न ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः
पदम् । नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—राजा वा राजपुरुष अर्थात् कामदार, धनके लोभादिकोंकरके करज आदि झगड़ोंको नहीं उत्पन्न करावे और करजा देनेलेनेवालोंको मुकदमोंको लाँच लेके खारीज नहीं करे ॥ ४३ ॥ जैसे शस्त्रकरके हतहुए मृगके शरीरसे पड़ाहुआ रुधिरके पीछे जाके, मृगको मारनेवाले जन मृगके स्थानको प्राप्त होते हैं तैसेही अनुमानकरके वा देखेहुए प्रमाणकरके, राजा धर्मके तत्त्वको निश्चै करता है ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः । देशं रूपं च कालं च
व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ सद्विराचरितं यत्स्याद्दार्मिकैश्च
द्विजातिभिः । तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—व्यवहारके देखनेमें प्रवर्तहुआ राजा साचको देखे और तैसेही अर्थको अर्थात् गौ सुवर्णादि धनके विषयमें स्थितहुए व्यवहारको देखे तैसेही अपनेको और सत्य बोलनेवाले साक्षीको देशकालको रूपको इन सबको देखे ॥ ४५ ॥ जो धार्मिक सत्पुरुषोंको आचरण किया हो तथा द्विजातियोंको आचरण किया हो ऐसा जो देश कुल जाति अविरोद्ध धर्म उसको लेके व्यवहारका निर्णय करे ॥ ४६ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः । दापयेद्वनिकस्यार्थमध-
मर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।

तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अधमर्ण अर्थात् अपने करजेके धनको लेनेवाले साहूकारके कहनेसे राजा इष्टाम आदिसे प्रमाणित कियेहुए करजेको करजदारके पाससे तिस धनी-
को दिवा देवे ॥ ४७ ॥ पहिले कहेहुए उपायोंकरके जो साहूकार अपने धनको लेता है उसीउसी उपायकरके करजेको अपने आधीनकरके राजा दिवावे ॥ ४८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन
बलेन च ॥ ४९ ॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।

न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थ—धर्मकरके या वणज आदि व्यवहारकरके या छलकरके या आचरितक-
रके अर्थात् घरके द्वारे बैठके या पांचमें बलकरके युक्त धर्मको अर्थात् करजेको लेवे ॥ ४९ ॥ जो धनवाला अपने धनको करजदारसे बलकरके आपही ले लेवे तो उसें राजाको यह कहना न चाहिये कि तैने बलसे हमारे कहेबिना क्यों ले लिया ५०

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् । दापयेद्वनिकस्यार्थं
दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥ अपह्वयेऽधर्मणस्य देहीत्युक्तस्य
संसदि । अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ—और जो करजदार करजेको निकलता हो और करण आदिकोंसे अर्थात्
वही, कागजसे करजा साबूत होवे तो उस करजेको राजा धनवालेको दिवावे और निकलनेवाले करजदारको कुछ दंडभी देवे ॥ ५१ ॥ जब सभामें राजा करजदारको यह कहै कि धनवालेका करजा दो और वह करजदार यह कहै कि मैं जानता-
भी नहीं तब कर्जे मांगनेवाला महाजन फिर गवाह देवे या इष्टाम आदि कागजपत्र दिखावे ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापहुते च यः । यश्चाधरोत्तरान-
र्थान् विगीतान्नावबुद्धयते ॥ ५३ ॥ अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्य-
स्वपधावति । सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥
असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः । निरुच्यमानं प्रश्नं
च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च
न विभावयेत् । न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थोत्स हीयते ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो झूठे गवाह और झूठे कागजपत्रको दिखाता है और जो देखनेला-
यक कागजादिकोंको देखके निकलता है ओ आगे पीछे कहेका खयाल नहीं रखता
जो अपनी कही बातको उलटता है जो प्रतिज्ञा कियेहुए मतलबको इन्साफ क-
रनेवालेके पूछनेसे खुश नहीं होता है जो गवाह आदिकोंसे एकांतमें सलाह
करता है जो अपनी कहीहुई बातके सही होनेकेवास्ते इन्साफ करनेवालेके
कियेहुए सवालको अच्छा न समझे जो वे प्रयोजन बातको कहताहुआ इधर-
उधर घूमें जो पूछनेपर कुछ न कहे और जो कहे सो साबूतीसे न कहे और जो
अगली पिछली बातको न जानें ऐसे वे पुरुष अपने प्रयोजनसे नष्ट होते हैं अ-
र्थात् मुकदमोंको हारते हैं ॥ ५३-५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मे त्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः । धर्मस्थः
कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥ अभियोक्ता न चेद्ब्रूया-
द्वध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः । न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मेरे गवाह हाजिर हैं ऐसे कहके जो फिर गवाहोंको न देवे अर्थात् रा-
जाके सन्मुख न करे तो फिर उसको धर्मस्थ राजा यह कहै कि तू हारगया ॥ ५७ ॥
जो मनुष्य मुद्दईहुआ अर्जी देके जवानी जवाब न देवे अर्थात् राजाके सन्मुख
जवाब न करे तो छोटे बड़े मुकदमोंके अनुसार कैद या जुल्वानेके योग्य है और जो
एक बार अर्जी करके डेढ महीनेके भीतर हाजिर न हो तो वह कानूनसे बाहिर
होके मुकदमोंको हार जावेगा ॥ ५८ ॥

यो यावन्निहुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् । तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ
दाप्यौ तद्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥ पृष्ठोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो
धनैषिणा । त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥

अर्थ—जो प्रत्यर्थी अर्थात् मुदाइलेह जितने धनको घटावता है और जो मुद्ई झूठ बोलके जितने धनको बढ़ाता है जानके निकलनेवाले उन दोनोंके अर्थ जितने धनकी झूठ बोलते हैं उससे दूना दंड देना चाहिये ॥ ५९ ॥ हाकिमके आगे इन्कार करनेवाले मुदाइलेहको धनी महाजन राजाके ब्राह्मणके पास लेजाके तीन गवाहोंकरके साबित करे अर्थात् राजाके धर्मविवेचन करनेवाले ब्राह्मणके आगे उसका लेना सही करे ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः । तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥ गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविदश्शूद्रयो नयः । अथ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२

अर्थ—धनी पुरुषोंको व्यवहारोंमें जैसे साक्षी करने कहें हैं तैसोंको कहेंगे और उन गवाहोंको जिस प्रकारसे कहना योग्य है सोभी कहेंगे ॥ ६१ ॥ कुटुंबी, पुत्रवाले, उसी देशमें रहनेवाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन जातियोंवाले, ऐसे गवाह-महाजनके प्रेरणित योग्य हैं हर कोई गवाह देना योग्य नहीं है, यह काइदा आपत्कालके विना है अर्थात् फौजदारी आदि मुकदमोंमें नहीं है ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मविदो लुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥ नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः । न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥

अर्थ—संपूर्ण वर्णोंमें जो पुरुष यथार्थ देखे हुए कर्मको कहनेवाले हों और संपूर्ण धर्मोंको जाननेवाले हों लोभी नहीं हों ऐसे पुरुषोंको साक्षी करै इनसे विपरीतोंको वर्ज देवै ॥ ६३ ॥ जिनके करज मांगता हो ऐसे पुरुषोंको गवाह न करे मित्रजन सेवक पुरुष, वैरी, जिनमें कहीं दोष देख लिया हो, व्याधिसे पीडित, महापातक आदिकोंसे दूषित, ऐसे इन पुरुषोंको गवाह न करे ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ । न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥ नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् । न वृद्धो न शिशुर्नैनो नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥

अर्थ—राजाभी गवाह नहीं करना चाहिये और कारुक अर्थात् छाज चटाई आदि करनेवाला, नट आदि, वेदाध्यापक विद्वान्, ब्रह्मचारी संन्यासी इनको

गवाह न करे ॥ ६५ ॥ जो अत्यंत परपुरुषके आधीन हो उसको गवाह न बोले और क्रूरकर्म करनेवाला, निषिद्ध कर्मोंको करनेवाला, वृद्ध पुरुष, बालक, इनको भी गवाह न करे और एकको तथा चांडालको वा विकल इंद्रियोंवालाकोभी गवाह न बोले ॥ ६६ ॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः । न श्रमार्तो न कमार्तो न कुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥ स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः । शूद्राश्च संतः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

अर्थ—दुःखी, मदिराआदि नसोंसे पीडित, बावला, क्षुधा तृषासे पीडित थका हुआ, कामकरके पीडित, क्रोधी चोर, इन पुरुषोंको गवाह न करे ॥ ६७ ॥ स्त्रियोंको आपुसके व्यवहारोंमें स्त्रियोंकीही गवाही देनी चाहिये और ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य इनको अपनी जातिकेही द्विजोंकी गवाही देनी चाहिये शूद्रोंको सज्जन शूद्र गवाह करने चाहिये और चांडाल आदिकोंको चांडाल आदिही गवाह करने चाहिये ॥ ६८ ॥

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् । अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥ स्त्रियाप्यसंभवेकार्यं बालेन स्थविरेण वा । शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

अर्थ—घरके भीतर वा अरण्यमें चौरादिकोंकरके मार पीट होनेमें शरीरमें चोट लगनेमें इस तरहके मुकदमोंमें झगडनेवालोंकीही साक्षी करे ॥ ६९ ॥ मकानके भीतर पूर्वोक्त गवाहोंके न होनेमें स्त्री बालक वृद्ध शिष्य भाई दास सेवक इत्यादिकोंकीभी गवाही देनी योग्य है ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा । जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥ साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च । वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

अर्थ—बालक वृद्ध रोगी इन गवाहोंकी झूठ बोलनेके वक्त वाणी स्थिर नहीं रहती है और तैसेही कच्चेदिलवालोंकीभी वाणी स्थिर नहीं रहती है इसवास्ते अनुमानसे उनकी झूठको जानें ॥ ७१ ॥ संपूर्ण साहस अर्थात् डांकापडना, मकान आदि जलाना और चोरी धाडआदिकोंका पडना, गाली देना, गुप्तमार

पीट करना, इन मुकदमोंमें पूर्वोक्त गवाहोंकी परीक्षा न करे अर्थात् कैसाही गवाह होवें ॥ ७२ ॥

बहुत्वं परिगृहीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गु-
णिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥ समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सि-
द्ध्यति । तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिस मुकदमेंमें गवाह दो तरह कहें तहां जिस बातको ज्यादै जनें कह-
ते हों उसको राजा ग्रहण करे और जहां सब एकसीही बात कहते हों तहां गु-
णवान् द्विजोंके कहेहुएको प्रमाण करे ॥ ७३ ॥ अपनी आंखोंसे देखनेंसे और
कानोंसे सुननेसे साक्षी सिद्ध होता है अर्थात् आंखोंसे देखनेंवाला सुननेंवाला गवाह
होना चाहिये सो वह गवाह यदि सखवचन कहता है तो धर्म अर्थसे हीन नहीं
होता है ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्मनरकमभ्येति प्रेत्य
स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किं-
चन । दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो साक्षी देखे हुऐसे और सुनें हुऐसे जुदा अन्य कुछ कहता है वह
नीचेंको मुखकरके नरकमें गिरता है और परलोककेवास्ते स्वर्ग प्राप्तिके किये
हुए सब पुण्य तिस पापकरके नष्ट हो जाते है ॥ ७५ ॥ जिस मुकदमेंमें विना
कहाहुआभी कि तुम इस मुकदमेंमें साक्षी हो ऐसे कहे विनाभी जो कुछ देखे
और जो सुनें उसको पूछनेंपर जैसा देखा वा सुना हो वैसे कह देवे यह मनुआदि-
कोंन अकृत साक्षी कहा है ॥ ७६ ॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्वह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः । स्त्रीबुद्धेर-
स्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥७७॥ स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्वा-
ह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥

अर्थ—लोभ आदिकोंसे रहित एकभी साक्षी होवे और पवित्रभी बहुतसी स्त्रि-
यां न होवें क्योंकि स्त्रियोंकी बुद्धि स्थिर नहीं होती है इसवास्ते लेनें देनेंके मु-
कदमोंमें स्त्रीकी साक्षी योग्य नहीं है और जो दोषोंकरके युक्त है उनकीभी सा-
क्षी करनी योग्य नहीं है ॥ ७७ ॥ जो किसीके भयविना अपने स्वभावसेही क-
हते है वे साक्षी लेनें देनेंके व्यवहारमें ग्रहण करनें योग्य हैं और जो भयादिकों-

से युक्त होके कहते हैं वे साक्षी निरर्थक है अर्थात् राजा उनके कहनेपर खयाल न करे ॥ ७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राड्विवाकोऽनुयु-
ज्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥ यद्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽ-
स्मिन् चेष्टितं मिथः । तद्भूत सर्व सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

अर्थ—संभाके बीचमें प्राप्तहुए साक्षियोंको अर्थी और प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दई मुद्दाईलेहके सामनें इन्साफ करनेवाला अभियोक्ता ब्राह्मण आगे कही हुई वि-
धिसें अच्छे तौरसे शांतिसे पूछे ॥ ७९ ॥ मुद्दई मुद्दाईलेह इन दोनोंके इस का-
र्यमें तुम जो कुछ जानते हो सो सच कहो क्योंकि तुम्हारी इस मुकदमेंमें गवाही है ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानामोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां
कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥ साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बद्धयते
वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—गवाहीके काममें सत्य कहनेवाला साक्षी उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है
और इस संसारमें उत्तम यशको प्राप्त होता है ऐसी यह सत्य वाणी ब्रह्माजीसे
पूजी गई है ॥ ८१ ॥ झूठ बोलनेवाला साक्षी पुरुष वरुणसंबंधी पाश अर्थात्
सर्पकी फांशियोंसे बांधा जाता है ॥ और सौ १०० जन्मोंतक जलोदर रोगक-
रके पीडित होता है इसवास्ते साक्षीमें सत्य बोले ॥ ८२ ॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं
सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा
तथात्मनः । मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—सत्य बोलनेसे साक्षी पुरुष पहिले कियेहुए पापसेभी छूट जाता है इस-
वास्ते सब वर्णोंके विषयमें साक्षियोंको सत्यही बोलना चाहिये क्योंकि सत्य
बोलनेसे इसका धर्मभी बढ़ता है ॥ ८३ ॥ शुभअशुभ कर्मोंमें आपही अपना साक्षी
है और तैसेही आपही अपना शरण है अर्थात् रक्षक है इसवास्ते ऐसे अपने
आत्माको उत्तम साक्षीको मनुष्योंकी झूठी बातकी गवाही देनेसे अपमानी मत
करो अर्थात् निंदित मत करो ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रप-

श्यन्ति स्वस्यैवान्तरपुरुषः ॥ ८५ ॥ द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रा-
कर्माग्नियमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ८६

अर्थ—पापकरनेवाले पुरुष यह जानते हैं कि पापकरते हुए हमको कोईभी नहीं देखता है परंतु उनको आगे कहेहुए ये देवते देखते हैं और उनके भीतरका आत्मा देखता है ॥ ८५ ॥ आकाश भूमि जल हृदयस्थ जीव चंद्रमा सूर्य अग्नि यम वायु रात्रि दोनों संध्या धर्म ये सब संपूर्ण देहधारियोंके शुभाशुभ कर्मको जाननेवाले हैं ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्
न्वापूर्वाह्नेवै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥ ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूही-
तिपार्थिवम् । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वेस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

अर्थ—देवताकी मूर्तिके आगे वा ब्राह्मणके आगे द्विजाति और पवित्र ऐसे साक्षियोंको इन्साफ करनेवाला अभियोक्ता उत्तरकी तर्फ मुख करवाके अथवा पूर्वकी तर्फ मुख करवाके आप स्वस्थचित्त होके सवेरेके प्रहरमें सच सच हाल पूछे ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणको ब्रूहि अर्थात् कहो ऐसे पूछे और क्षत्रियको सच कहो ऐसे पूछे वैश्यको गौ बीज सुवर्ण इनके चोरनेका पाप तुमको झूठ बोलनेमें होगा ऐसे पूछे और शूद्रको जो झूठ बोलोगे तो सब पातक तुमको लगेंगे ऐसे कहके पूछे ॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः । मित्रद्रुहः कृत-
घ्नस्य ते ते स्युर्बुधतो मृषा ॥ ८९ ॥ जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं
भद्र त्वया कृतम् ॥ तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

अर्थ—जो ब्राह्मणको मारनेवालोंके नरक ऋषियोंनें कहे हैं और जो स्त्री बाल-
क इनके मारनेवालोंके नरक कहे हैं वा मित्रसे द्रोह करनेवालोंको कृतघ्नी पुरुष-
को जो नरक प्राप्त होते हैं वे सब नरक झूठ बोलनेवाले तुजको होवेंगे ॥ ८९ ॥
हे शुभाधार तैनें जन्मभरमें जो कुछ पुण्य किया है वह सब तेरा पुण्य कुत्तोंको
मिलेगा जो तू इस विषयमें अन्यथा कहे ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते
हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥ यमो वैवस्वतो देवो यस्त-
वैष हृदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥ ९२ ॥

अर्थ—हे भद्र एकही हम है ऐसे जो अपने आत्माको मानते हो तुम्हारे हृदयमें स्थित परमात्मा मुनि नित्य देखता है ॥ ९१ ॥ सूर्यका पुत्र यमदेव जो तुम्हारे हृदयमें स्थित है उसके साथ जो तेरा विवाद नहीं है तो गंगाजीको और कुरुक्षेत्रको मत जा अर्थात् सत्यही बोलनेसे सब पाप दूर हो जावेगे ॥ ९२ ॥

नमो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः । अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥ अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् । यः प्रश्रं वितथं ब्रूयात्पृष्ठः सन् धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

अर्थ—जो पुरुष झूठी गवाही देवेगा वह कपड़े रहित और सिरमुंडाये तथा भूख तृषासे युक्त हो और अंधा होके शत्रुके कुलमें भीख मांगेगा ॥ ९३ ॥ धर्मके निश्चयकेवास्ते पूछाहुआ जो साक्षी झूठ बोलता है वह पापी अधोमुख अर्थात् नीचेको मुखकरके अन्धतम अर्थात् अंधकाररूप नरकमें जाता है ॥ ९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह । यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥ यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

अर्थ—जो राजाकी सभामें जाके बिना देखे हुई झूठ बातको कहता है वह अन्धा पुरुषकी तरह कांटोंके साथ मछलियोंको खाता है ॥ ९५ ॥ सर्वज्ञ अंतर्गामी परमात्मा जिसके बोलनेकी शंका नहीं करता है अर्थात् यह सच कहें या झूठ कहेंगा ऐसी शंका नहीं करता है किंतु यह सच कहेंगा ऐसा निश्चय करता है देवते उससे श्रेष्ठ अन्य किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९६ ॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥ पञ्च पथनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते । शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

अर्थ—हे सौम्य साक्षीमें झूठ बोलनेवाला पुरुष जितनी गिनतीके बांधवोंको नरकमें भेजता है वा उनको सुन अथवा जितने बांधवोंका मारनेका फल होता है उस गिनतीको सुन इन दोनों अर्थोंमें झूठ बोलनेवालेकी निंदा कही है ॥ ९७ ॥ पशुके विषयकी झूठ बोलनेमें पांच बांधवोंको नरकमें भेजता है वा पांच बांधवोंके मारनेके फलको प्राप्त होता है गौके विषयमें दशोंको और घोड़े वगैरों-

के विषयमें सौ और मनुष्योंके विषयमें झूठ बोलनेवाला हजार बांधवोंको नर-
क्रमें भेजता है ॥ ९८ ॥

हन्ति जातानजाताश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् । सर्वं भूम्यनृते ह-
न्ति मास्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥ अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्री-
णां भोगे च मैथुने । अजेषु चैव रतेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

अर्थ—सुवर्णके वास्ते झूठ बोलता हुआ पुरुष जन्में हुए और विना जन्में हुए
पुत्रादिकोंके मारनेके फलको प्राप्त होता है और पृथ्वीके मामलेमें झूठ बोलनेवा-
ला पुरुष संपूर्ण प्राणियोंके वधके फलको प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥ तलाव कूवा
बावडी इनके विषयमें झूठ बोलना स्त्रियोंके भोग मैथुन आदि मामलोंमें झूठ बो-
लना मोति वगैरे रत्नोंके विषयमें तथा हीरा पुषराज आदिकोंके मामलोंमें
झूठ बोलना इन सबका पाप भूमिके पापके समान है ॥ १०० ॥

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे । यथाश्रुतं यथादृष्टं स-
र्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥ गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकु-
शीलवान् । प्रैष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—तू इन सब झूठ बोलनेके पापोंको जानके जैसा सुना और जैसा देखा
हो वेसाही सच सच कह ॥ १०१ ॥ गौओंको पालीकी वृत्ति करनेवाला बनि-
येंकी वृत्ति करनेवाला रसोई आदि कर्म करनेवाला नौकरी करनेवाला व्याजकी
आजीविका करनेवाला ऐसे इन ब्राह्मणोंसे शूद्रसे पूछनेकी तरह पूछे ॥ १०२ ॥

तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः । न स्वर्गाच्च्यवते लोका-
दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥ शूद्रविदक्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ
भवेद्वधः । तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अन्यथा जानता हुआभी दया आदि धर्मसे व्यवहारमें अन्य
प्रकारसे कहदेता है वह स्वर्गलोकके फलसे भ्रष्ट नहीं होता है क्यों कि मन्वादि-
कोंने वह देवसंबंधिनी वाणी कही है ॥ १०३ ॥ जिस मुकदमेंमें सस बोलनेसे
शूद्र क्षत्रिय वैश्य ब्राह्मण इन्होंका वध होता है तहां झूठ बोलना चाहिये क्यों
कि वह झूठही सचसे अधिक है ॥ १०४ ॥

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्तेसरस्वतीम् । अनृतस्यैनसस्तस्य

कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥ कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्भृत-
मग्नौ यथाविधि । उदित्यृचा वा वारुण्या त्र्यृचेनाद्भैवतेन वा १०६

अर्थ—वे साक्षी उस झूठ बोलनेके पापकी अत्यंत शुद्धि करनेके लिये वाग्दे-
वतासंबंधी चरुकरके सरस्वतीके निमित्त यजन करै ॥ १०५ ॥ यजुर्वेदसंबंधि
'यदेवादेवहेडनं' इसादिक कुष्माण्डसंज्ञक मंत्र देवताकरके अग्निमें घृतको हवन करै
और 'उदुत्तमं वरुणं' इस ऋचाकरके वा 'आपोहिष्ठा' इस वरुणदेवताकी ऋचा-
करके अग्निमें आहुति करै ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः । तद्वृणं प्राप्नुयात्सर्वे द-
शबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य
साक्षिणः । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥

अर्थ—लेने देनेके मामलेमें जो कर्जदार डेढमहिनेतक अपने गवाह न देवे तो
वह महाजनके कुल रूपय्ये देवै और जितने रूपय्ये हों उनका दशवां भाग रा-
जाको दंडका देवै ॥ १०७ ॥ जिसके कहेहुए साक्षीके सात दिन भीतर रोग
होजावे या अग्नि लगजावे अथवा बांधव मरजावे तो दैवकी मायासे मिथ्या दो-
षके सूचन होनेसे वह कर्जदारका धन और राजाका दंड उलटा दिलवा दे-
ना चाहिये ॥ १०८ ॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः । अविन्दन्तत्त्वतः सत्यं
शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥ महर्षिमिश्र देवैश्च कार्यार्थं शप-
थाः कृताः । वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे वै यवने नृपे ॥ ११० ॥

अर्थ—विना गवाहीके मुकदमेंमें आपसमें झगडते हुए दोनोंके सही सही हाल
न मालूम होवें तो आगे कहे हुए शपथ अर्थात् सौगंद दिलवाके इन्साफ करने-
वाला पूछे ॥ १०९ ॥ सप्त महर्षियोंने और इंद्रादिक देवताोंनेभी कार्यकेवास्ते
शपथकी और यवनका अपत्य सुदामा राजाके आगे पहले वसिष्ठजीनेंभी विश्वा-
मित्रके मामलेमें शपथ अर्थात् सौगंद करी ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः । वृथा हि शपथं कु-
र्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥ कामिनीषु विवाहेषु गवां
भक्ष्ये तथेन्धने । ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ११२

अर्थ—थोड़ेसे मामलेमेंभी पंडितजन वृथा शपथ अर्थात् झूठी सौगंद न करे क्योंकि वृथा शपथ करता हुआ पुरुष परलोकमें तथा इस लोकमें नाशको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥ मैथुनके समय स्त्रियोंके विषयमें और विवाहोंके विषयमें गौओंकेवास्ते घास आदिके हरनेके विषयमें अग्निकेवास्ते समिध आदिके हरनेमें ब्राह्मणकी रक्षाकेवास्ते इन सर्वोंमें झूठी शपथका पाप नहीं है ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥ अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् । पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणको ससकी कसम दिवावे और क्षत्रियको हस्ती आदि वाहनोंकी तथा शस्त्रोंकी कसम दिवावे वैश्यको गौ बीज सुवर्ण इनकी कसम दिवावे और शूद्रको संपूर्ण प्राणियोंके वधकी हिंसाके फलकी कसम दिवावे ॥ ११३ ॥ जलते हुए लोहा आदिके गोलेको इससे उठवावे अथवा इसको जलमें डुबावै और पुत्र स्त्री इनकी शिरोंपर अलग अलग हाथ रखवावे ॥ ११४ ॥

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च । न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा । नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः ११६ ॥

अर्थ—जिसको जलतीहुई अग्नि न जलावे और पानी जिसको ऊपरको नहीं फेंकै और जलदीसे बहुत पीडा न होवे वह शपथ अर्थात् कसममें सच्चा जानना ॥ ११५ ॥ पहले वत्स ऋषिको दूसरी माताके छोटे भाईने कहा कि तू ब्राह्मण नहीं शूद्रका पुत्र है तब वत्सऋषि अग्निमें प्रवेश होगया उस समय ससके कारणसे जगतके शुभाशुभहेतु अग्निजी उसके रोमभी नहीं जलाये ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥ लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामाक्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥

अर्थ—जिस जिस मुकदमेंमें साक्षीको झूठी गवाही दी है ऐसा निश्चय हो जावे तहां राजा तिस मुकदमेंको फिर दूसरे वार सही करे और जो सजावगैरह कर दी हो उसकोभी बदले ॥ ११७ ॥ लोभसे वा मोहसे भयसे मित्रतासे कामसे क्रोधसे अज्ञानसे वच्चेपनसे झूठी गवाही दी जाती है ॥ ११८ ॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषास्तु
प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥ लोभात्सहस्रं दण्डयस्तु मोहात्पूर्वं
तु साहसम् । भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

अर्थ—इन कहे हुए मतलबोंमें जिस किसी मतलबकेवास्ते झूठी गवाही देता है
तिसी तिसीके दंडको यथाक्रमसे कहेंगे ॥ ११९ ॥ लोभसे झूठी गवाही देनेवाले-
को आगे जो हिसाब कहेंगे जैसे दश घरका शतमान होता है तैसे वह हजार दंड
देवे और मोहसे झूठी गवाही देनेवालेको आगे कहाहुआ प्रथम साहस दंड देवे
भयसे झूठी गवाही देनेवालेको दो मध्यम साहस देवे मित्रतासे कहनेवालेको प्र-
थम चतुर्गुण साहस दंड देवे इन सब नामोंका भेद आगे कहा जावेगा ॥ १२० ॥

कामादशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्दे शते पूर्णे
बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥ एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्द-
ण्डान्मनीषिभिः । धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

अर्थ—स्त्री भोगकरनेके कामसे कहनेवालेको प्रथम साहस दशगुण दंड देवे
क्रोधसे कहनेवालेको मध्यम साहस त्रिगुण दंड देवे और अज्ञानसे झूठी गवाही
देनेवालेको दो सौ पण दंड देवे और बच्चेपनसे झूठी गवाही देनेवालेको सौ पण
दंड देवे इनका भेदभी आगे कहा है ॥ १२१ ॥ सत्यरूप धर्मको लोप नहीं हो-
नेकेवास्ते और असत्यरूप अधर्मके दूर होनेकेवास्ते झूठी साक्षीमें पहिलके मुनियोंसे
कहे हुए इन दंडोंको मनुजी कहते हैं ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान्स्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः । प्रवासयेदण्डयि-
त्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥ दश स्थानानि दण्डस्य मनुः
स्वायंभुवोऽब्रवीत् । त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् १२४

अर्थ—धार्मिक राजा झूठी गवाही देनेवाले तीनों वर्णोंको पूर्वोक्त दंड देके अ-
पने राज्यसे निकाल देवे और ब्राह्मणको दंड दिये बिनाही अपने राज्यसे बा-
हिर निकाल देवे ॥ १२३ ॥ स्वायंभुव मनुने दंडके दश स्थान कहे हैं वे क्षत्रिय
आदि तीनों वर्णोंकेवास्ते हैं और ब्राह्मणको बड़ा अपराध होनेपर मारे पीटेंबि-
नाही अपने राज्यसे निकाल देवे ॥ १२४ ॥

अपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ

च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ
च तत्त्वतः । सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् १२६

अर्थ—लिंग उदर जीभ हाथ पैर ये पांच और आंख नांक कान धन शरीर ये दश दंडके स्थान हैं इनमें जिस अंगसे अपराध हुआ हो उसी अंगको दंड देवे और थोड़े अपराधमें धनका दंड देवे और महापातक आदिकोंमें शरीरका दंड देवे अर्थात् फांसी वगैरह देवे ॥ १२५ ॥ वारंवार वा एकहीवार अपराध करनेके संबंधको देखकर और देशकालको तत्त्वसे विचारके और धन शरीर आदिकोंकी सामर्थ्य तथा अपराधको देखकर जैसी सजा लायक हो वैसाही दंड देवे ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् । अस्वर्ग्यं च परत्रापि
तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥ अदण्डयान्दण्डयन् राजा दण्ड्या-
श्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥

अर्थ—धर्म देखेबिना दंड देनेसे लोगोंमें यशका नाश होता है और विख्या-
तिका नाश होता और परलोकमें स्वर्गप्राप्तिको हित नहीं है इसवास्ते ऐसा न
करे किंतु इंसाफके अनुसार सजा देवे ॥ १२७ ॥ वे सजावालोको सजा देता
हुआ और सजा देनेके योग्योंको नहीं सजा देताहुआ राजा बड़े अपयसको प्रा-
प्त होता है और नरकमेंभी जाता है ॥ १२८ ॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु
वधदण्डमतः परं ॥ १२९ ॥ वधेनापि यदात्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नु-
यात् । तद्वैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

अर्थ—पहले वाग्दंड देवे अर्थात् तैने यह अच्छा न किया ऐसे कहे पीछे धि-
ग्दंड अर्थात् तेरे जीनेको धिःकार है ऐसे कहे इन कहनोंसेभी न मानें तो धनका
दंड देवे फिर धन अर्थात् जुल्बानेसेभी न मानें तो बेंत वगैरे लगावे ॥ १२९ ॥
जो यदि केवल मारनेसेभी दंडयोग्य पुरुषोंको वशमें न कर सके तो ये वाग्दंड
आदि चारों दंड देने चाहिये ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि । ताम्ररूप्यसुवर्णानां
ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं
दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

अर्थ—लोगोंके व्यवहारकेवास्ते जो पृथ्वीमें तांबा चांदी सोना इनकी पण आदि संज्ञा प्रसिद्ध है तिस संपूर्णको जुलवानेकेवास्ते उपयोगी होनेसे यहां कहेंगे ॥ १३१ ॥ मकानके झरोंखेरोसन दान आदिकोंमें जो सूर्यकी किरणसे उडते हुए सूक्ष्म धूलिके रजके किणके दीखते है तिस एकको प्रथम त्रसरेणु प्रमाण कहते है ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः । ता राजसर्षपस्तिस्व-
स्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥ सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं
त्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

अर्थ—आठ त्रसरेणुओंको एक लिक्षिका प्रमाण कहते है तीन लिक्षिकाओंका एक राजसर्षप होता है और वे तीन राजसर्षप एक गौरसर्षप प्रमाण संज्ञक है ॥ १३३ ॥ तिन छह गौरसर्षप अर्थात् ६ सिरसवोंका एक साधारण जव होता है और तीन जवका एक कृष्णल होता है इसको रत्तीभी कहते है और पांच कृष्णलका एकमाष यानें मासा होता है सोलह माषोंका एक सुवर्ण होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश । द्वे कृष्णले समधृते वि-
ज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ तेषोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राज-
तः । कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

अर्थ—चार सुवर्णका पल होता है दशपलोंका धरण होता है और दो वरावरों-
के कृष्णलका एक रौप्यमाषक जानें अर्थात् चांदीका मासा जानें ॥ १३५ ॥ तिन सोलहमाषकोंका रौप्य धरण होता है और तिसको रजतसंबंधी पुराणभी कहते है और तांबेका कर्षभरका पणको कार्षापण कहते है वह कर्षपलका चौ-
थाई प्रमाणका जानना ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः । चतुःसौवर्णिको नि-
ष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः
साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः १३८

अर्थ—चांदीके दश धरणोंको रौप्यका शतसंज्ञक मान जानें और चार सुव-
र्णोंका एक निष्क प्रमाण जानें ॥ १३७ ॥ २५० अढ़ाईसै पणोंका प्रथम सा-
हस मन्वादिकोंनं कहा है यहां एकपण आध आनेके करीब जानना और पांच-
सौ ५०० पणोंका मध्यम साहस होता है हजार पणोंका उत्तम साहस होता है १३८

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति । अपह्वे तद्विगुणं तन्म-
नोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥ वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धि-
नीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

अर्थ—कर्जदार राजाकी सभामें कहे कि मोंको महाजनके रुपय्ये देनैं है तो उ-
सको पानसौ ५०० पण दंड देवे और जो सभामें इन्कार कर देवे और पीछे
रुपय्ये सावित होवें तो हजार पण दंड देनेके योग्य है ॥ १३९ ॥ वसिष्ठकरके
कही हुई धनको बढ़ानेवाली वृद्धिको अर्थात् व्याजको करे व्याजकी आजी-
विका करनेवाला पुरुष महीना महीनाप्रति सौ रुपय्योंका अस्सीवां भाग लेवे
अर्थात् सवा रुपय्या सैंकडा व्याज लेवे ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्मभनुस्मरन् । द्विकं शतं हि गृह्णा-
नो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥ द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं
च शतं समम् । मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

अर्थ—अथवा श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मको स्मरणकरके यानें याद करके दो रुपय्ये
सैंकडा माहवारी व्याज लेवे क्यों कि दो रुपय्ये सैंकडा व्याज लेनेवाला पुरुष
पापका अधिकारी नहीं है ॥ १४१ ॥ ब्राह्मण आदि वर्णोंके क्रमसे दो तीन
चार पांच रुपय्या सैंकडा माहवारी व्याज लेवे ब्राह्मणसे २ क्षत्रियसे ३ वैश्यसे
४ शूद्रसे ५ रुपय्या महीनेमें लेवे इससे अधिक न लेवे ॥ १४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् । न चाधेः कालसंरो-
धान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥ न भोक्तव्यो बलादाधिर्भु-
ज्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् । मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥

अर्थ—भूमि वा गोधन आदिकोंको भोगनेकेवास्ते बंधक अर्थात् गिरौं रख-
देनेमें पूर्वोक्त व्याज न लेवे क्योंकि बहुत दिन होनेमें व्याज बढ़जानेसे उसका
छुटाना अथवा बेचना नहीं हो सक्ता इसवास्ते रखनेमें उतना व्याज नहीं पाता
है ॥ १४३ ॥ आधी अर्थात् वस्त्र आदि गिरौंकी चीजको जबर्दस्ती नहीं बर्ते
और जो बर्ते तो व्याज छोडदेवे मूल्यकरके उसे प्रसन्न करे अथवा उनमें जो
वस्तुनेसे घटगया है उसको पहलेके मूल्यसहित देकर खुश करे नहीं तो गिरौं-
की वस्तुको चोरनेवाला कहलावेगा ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः । अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥ संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन । धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्चो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ—आधि अर्थात् पृथ्वी आदिका किसीमें गिरौं रखना और उपनिधि प्रीतिकरके उपभोगकेवास्ते दीहुई वस्तु ये दोनों बहुत दिनमेंभी आईगई नहीं होती अर्थात् जब मालिक लिया चाहे तब ले सक्ता है कुछ दिनोंका नियम नहीं है ॥ १४५ ॥ प्रीतिकरके जो अन्यको उपभोगकेवास्ते दियेजाते है वे कभी नष्ट नहीं होते है गौ ऊंट घोडा बैल इत्यादिक जो अपने काममें वर्त्तेजाते है इनके स्वामीकी मालिकी दश वर्षके बादभी दूर नहीं होती है ॥ १४६ ॥

यत्किञ्चिदश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तलब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥ अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्व्यमर्हति ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो कुछ धन स्वामीके सामनेही अन्य जनोंकरके दशवर्षतक वर्त्ताजाता है अर्थात् न तो प्रीतिकरके दिया और न मना किया है ऐसे तिस धनमें स्वामीकी मालिकी जाती रहती है दश वर्षके बाद तिसको नहीं ले सक्ता है ॥ १४७ ॥ जो धनका स्वामी मूर्ख न हो और बालक न हो अर्थात् सोलह वर्षसे अधिक हो और बुद्धिमान हो तबभी तिस धनीके सामने जो उपभोग किया हो तिसको मना न किया हो तो वह धन दश वर्षके बाद धन भोगनेवालेका है और उसका स्वामी अदालतसे हार जावेगा ॥ १४८ ॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः । राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥ यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः । तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

अर्थ—आधि अर्थात् गिरौं रक्खा धन ग्राम आदिकीसीम, बालकका धन धरो हर प्रीतिकरके भोगनेकेवास्ते दिया हुआ धन दासी आदि स्त्री राजाका धन श्रोत्रिय ब्राह्मणका धन इनको दश वर्षतक भोगनेसेभी भोगनेवाला नहीं पासक्ता ॥ १४९ ॥ जो मूर्ख जन स्वामीकी आज्ञाविना छलकरके गिरौंकी वस्तुको वर्त्तता है तिसका आधा व्याज छुटादेवे और जो जबरदस्तीसे भोगता है तिसको संपूर्ण व्याज न देवे ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहता । धान्ये सदे लवे बाह्ये
नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता
न सिद्ध्यति । कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

अर्थ—रूपय्योंका व्याज एकवार लेनेसे ५ मूल धनके दुगुनेसे अधिक नहीं हो
सक्ता और धान्यादिककेवास्ते तथा वृक्ष फल मूल वैल इत्यादिकोंकेवास्ते दिये
हुये रूपय्ये बहुतकालमेंभी मूल धनके पांच गुनेसे अधिक नहीं हो सक्ते ॥ १५१ ॥
शास्त्रमें कियेहुए अनुसारसे अधिक वा विपरीत व्याज लेना ठीक नहीं है जैसे
ब्राह्मणसे पांच रूपय्ये सैंकड़ा व्याज लेना यह कुसीदपथ है अर्थात् निन्दित
मार्ग है ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत् । चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः
कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥ ऋणं दातुमशक्तो यः क-
र्तुमिच्छेत्पुनः । क्रियाम् स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥

अर्थ—जो माहवारी व्याज लेना अथवा दो या तीन महीनोंके प्रति प्रति स-
र्वदा नियमकरके व्याज लेना ठहरा हो तिस नियमको वर्षदिनके पीछे नहीं र-
खे और शास्त्रकी मर्यादासे रहित अर्थात् क्रमसे कहा २ रूपय्ये सैंकडेसे ५ त-
कसे अधिक व्याज न लेवे और व्याजकाभी व्याज न लेवे तथा बहुतकालसे
बढाहुआ ऋणका मूलधन दुगुनासे अधिक हो उसको न लेवे और व्याजकी ज-
गह कुछ कामकरानेकी कर लगाना ये सब शास्त्रविरुद्ध व्यवहार न करे ॥ १५३ ॥
जिसकी कर्जा देनेकी सामर्थ्य न हो और हिसाब किया चाहता हो वह व्याज
देके दूसरा कागज करदेवे अथवा व्याजको और मूलको मिलाके उन रूपय्योंका
तमस्सुक कर देवे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् । यावती संभवेद्वृद्धिस्ता-
वतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥ चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यव-
स्थितः । अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

अर्थ—जो लेखा हिसाब करे और व्याज न देवे तो व्याजकोभी मूलधनमें
जोड देवे पीछे रूपय्योंकी जितनी संख्या हो उतनाही व्याज देना योग्य है १५५
चक्रवृद्धि अर्थात् व्याजकाभी व्याज लेना तिसको आश्रयणहुआ महाजन देश-

की और कालकी व्यवस्थामें अर्थात् नियममें रहै और देशकालके नियमको छोड़नेवाला पुरुष तिस संपूर्ण लाभको प्राप्त नहीं होता है ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः । स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं
सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥ यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह
मानवः । अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—स्थलके मार्ग और जलके मार्गको जाननेवाले और देशकालको जाननेवाले अर्थात् इतने दूर इतने दिनतक इस काममें यह लाभको इस बातको जाननेवाले वैश्य आदिक जिस वृद्धिको यानें व्याजको जैसे विषयमें स्थापित करते है वही उस धनकी प्राप्तिमें प्रमाण है ॥ १५७ ॥ जो मनुष्य कर्जदारका प्रतिभू होवे अर्थात् जामिन होवे वह जो यदि कर्जदार उक्त समयपर न मिले तो अपने पाससे महाजनका रुपय्या देवे ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् । दण्डशुल्कावशेषं
च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥ दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः । दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

अर्थ—जामिन हुयेका धन तमाशवीनीका रुपय्या जुवा आदिका और मदिरापानका रुपय्या पूवाक्त दंड शुल्क अर्थात् मासूल आदिका धन ये सब पिताके मरनेपर पुत्रको देने योग्य नहीं है अर्थात् ये सब बापके कियेहुए हों उनको शास्त्रमें पुत्रको देना योग्य नहीं कहा है ॥ १५९ ॥ मदिराके निमित्त जो दंड आदि-पहले कहे है उनके देनेमें जो खाली पिता जामिन हुआ हो तो मरनेके पीछे पुत्र नहीं देवे किंतु जामिन हुआ पिता आपही देवे और जो आप खुद जामिन होके अपने हाथसे रुपया देवे तो उसके मरनेपीछे पुत्र आदिकोंको देना योग्य है ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् । पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते प-
रीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्याद-
लंघनः । स्वधनादेव तद्व्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

अर्थ—अपने हाथसे बिनादियेहुए प्रतिभूके अर्थात् जामिनके मरनेपीछे महाजन कर्जके रुपय्योंको कैसे पावे यह शंका है अगले श्लोकमें उत्तर कहेंगे ॥ १६१ ॥ जो प्रतिभू अर्थात् जामिन धनकरके पूर्ण हो और कर्जदारसे निरादिष्ट हो यानें कर्जदार यह कहै कि तुमही मेरे कर्जको देवो तब महाजनके धनको प्रतिभू अपने पाससे देवे यह निरादिष्टकी व्यवस्था है अर्थात् प्रतिभूके पुत्र आदिभी देवे ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तातार्थ्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा । असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥ सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता । बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्वयावहारिकात् १६४

अर्थ—मदिरापान आदिकसे मदवाला व्याधिसे उन्मत्त अत्यंत पराधीन बाल-क वृद्ध इनके संग अनुमति कियेविना अर्थात् इनके कुटुंबका अन्य मनुष्यके संग वतलायेविना जो व्यवहार किया जाता है वह सिद्ध नहीं होता ॥ १६३ ॥ जो यदि आपसमें लिखा पढीसे या जुवानी शर्त ठहर जावे तौभी जो कानूनसे अथवा परंपराके धर्मसे विरुद्ध वचन बोले तो वह व्यवहार सिद्ध नहीं होता है ६४

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् । यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः । दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो छलकरके बंधक अर्थात् कुछ गिरौं रखते हैं और बेचते हैं तथा प्रतिग्रह दान देते हैं वे सब लौटा देवे अर्थात् छलसे दियेहुए दान गिरौं आदिके धनको न लेवे और जमाकियेहुए धनकोभी लौटा देवे ॥ १६५ ॥ कुटुंबके खर्चकेवास्ते धन लेनोंवाला ऋणी अर्थात् कर्जदार मरजावे तब सामिलहुए अथवा जुदेहुए उसके बांधव कर्जेके धनको देवें ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् । स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥ बलाद्वत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् । सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

अर्थ—जो किसीका दास अपने कुटुंबकेवास्ते अन्य किसी महाजनसे कर्जा लेवे तो उसी देशमें रहनेवाला वा अन्य देशमें रहनेवाला तिसका मालिक कबूल करे ॥ १६७ ॥ बलसे दियाहुआ और बलकर भोगाहुआ और बलसे अधिक व्याज आदिका इष्टामपत्र लिखायाहुआ ये सब बलसे किये व्यवहार सिद्ध नहीं हैं इनको लौटा देवे यह मनुजीका वचन है ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् । चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्मृगः ॥ १६९ ॥ अनादेयं नाददीत प-रिक्षीणोऽपि पार्थिवः । न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् । दौर्बल्यं ख्याप्यते
राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥ स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्व-
बलाना चरक्षणात् । बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते १७२ ॥

अर्थ—साक्षी प्रतिभू अर्थात् जामिनकुल ये तीन पराये धनकेवास्ते क्लेश पाते
है और ब्राह्मण धनी बनियां, राजा ये चार पराये सबवसे बढते हैं ॥ १६९ ॥
क्षीण हुआभी राजा नहीं लेने योग्यको कभी न लेवे और लेनेके योग्य वस्तु-
को समृद्ध हुआभी राजा छोड नहीं देवे क्योंकि नहीं लेने योग्य द्रव्यके लेने-
से और ग्राह्यवस्तुके छोड देनेसे राजाकी शिथिलता प्रसिद्ध होती है इसीवास्ते
कीर्ति नष्ट होनेसे इस लोकमें और परलोकके प्रयोजनमें नष्ट होता है ॥ १७० ॥ १७१
न्यायकरके धनको ग्रहण करने और वर्णोंके नियम रखनेसे दुर्बल पुरुषोंकी रक्षा
करनेसे राजाके बल बढता है इसवास्ते वह इसलोकमें तथा परलोकमें बढता है ७२

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये । वर्तेत याम्यया वृ-
त्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥ यस्त्वधर्मेण कार्याणि मो-
हात्कुर्यान्नराधिपः । अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

अर्थ—इसवास्ते यमकी तरह राजा क्रोधको जीत, जितेंद्रिय हुआ अपने प्रिय
अप्रियको छोडकर धर्मकी वृत्तिसे सब मनुष्योंमें समदृष्टिसे वर्त्ते ॥ १७३ ॥ जो
राजा लोभ आदिकरके अधर्मके व्यवहार करता है तिस दुष्ट चित्तवालेको शी-
घ्रही शत्रु वशमें करलेते हैं ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमनुवर्त-
न्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥ यः साधयन्तं छन्देन वेद-
येद्धनिकं नृपे । स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् १७६ ॥

अर्थ—जो राजा काम क्रोधको त्यागके धर्मकरके व्यवहारोंको निरूपण करता
है तिसको प्रजा भजती है अर्थात् उसके आधीन होके रहती है जैसे समुद्रको
नदी ॥ १७५ ॥ जो कोई कर्जदार, मैं राजाका प्रियहूं ऐसा गर्वकरके महाजन
धनीके लेनेपर तिस महाजनको राजाकेपास निवेदन करे तो तिस कर्जदारकेपा-
ससे राजा धनका चौथा हिस्सा दंड और वह सब धन महाजनकेवास्ते दिलवा
देवे ॥ १७६ ॥

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः । समोऽवकृष्टजातिस्तु
दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥ अनेन विधिना राजा मिथो
विवदतां नृणाम् साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् १७८

अर्थ—जो समानजातिका वा नीचि जातिका कर्जदार धनीके रूप्ये न देस-
के तो कामकरके पूरे करदेवे और धनीसे उत्तम जातिका कर्जदार काम न करे
किंतु धीरे धीरे करके रूप्य देवे ॥१७७॥ इस पूर्व प्रकारकरके राजा दोनों झ-
गड़नेवालोंका मुकदमा कागजगवाहआदिकोंका निर्णय करके ठीकठीक करे १७८

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं
निक्षिपेद्बुधः ॥ १७९ ॥ यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मा-
नवः । स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें जन्मेहुए सदाचारसे युक्त धर्मात्मा सत्य बोलनेवाले महापक्ष-
वाले धनसे युक्त आर्य अर्थात् भला आदमी ऐसे पुरुषमें बुद्धिमान पुरुष धरोहर
रक्खे ॥ १७९ ॥ जो मनुष्य जिस प्रकारकरके जिसके हाथ सुवर्ण आदि वा
रूप्यया जैसी धरोहर रक्खे वैसेही जैसा दिया वही उसी प्रकार लेना योग्य है ८०

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेपुर्न प्रयच्छति । स याच्यः प्राद्वि-
वाकेन तन्निक्षेपुस्तु सन्निधौ ॥ १८१ ॥ साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयो-
रूपसमन्वितैः । अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

अर्थ—जो अपनी धरोहरको रखनेवाला पुरुष मांगताहुआ नहीं पावे तो वह
धनी पुरुष धरोहर रखनेवालेके पीछेसे हाकिमसे मांगा जावे अर्थात् हाकिम, र-
खनेवालेकी पसगैवनही तिस धनीपास धरोहरको मांगे ॥ १८१ ॥ जो उस धरो-
हरके रखनेके समय गवाही न होवे तो पूर्वोक्त अवस्थारूप आदिकोंकरके युक्त
अपने मुलाजिमोंकरके धनीकेपास धरो हर रखवावे और वे मुलाजिम राजासे दंड
आदि भय दिवानोंको योग्य हों फिर वह धरो हर न मिले तो तिनही पुरुषोंक-
रके और हाकिमकरके धरो हरका धन मांगा जावे ॥ १८२ ॥

स यदि प्रतिपद्येत यथा न्यस्तं यथा कृतम् । न तत्र विद्यते
किंचिद्यत्पैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ तेषां न दद्याद्यदि तु तद्वि-
रण्यं यथाविधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा १८४

अर्थ—वह धरो हरको धरनेवाला महाजन जैसी आकृतीका जैसा धन रक्खा हो वैसाही अपने जुम्में अंगिकार करे तबभी जो नालिशकरके जो कोई अपनी अन्य कुछ धरो हर बतलाता है उसका कुछभी नहीं है ऐसे जाने ॥ १८३ ॥ जो वह महाजन तिस मुलाजिमोंका यथार्थ विधिसे धराहुआ धरो हरका धनको नहीं देवे तो उस महाजन पाससे दोनोंको दिलवावे अर्थात् पहले जो नालिशकरी है उसकोभी सच समझे दोनोंके धरो हरके धनको दिलवा देवे यह धर्मका निश्चय अर्थात् कानूनकी मन्शा है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे । न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेपुश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥

अर्थ—जो धरोहर और उपनिधि अर्थात् सुवर्ण आदि कोई रक्खा हुआ द्रव्य इन दोनोंको धरनेवाला पुरुष जीवता हुआ कहीं नष्ट होजा या नें कहीं गुप्त चलाजावे तो तिसके पुत्र आदिकोंको नहीं देवे क्योंकि पुत्रादिकोंको सौंपे विना वह धन नष्ट हुआ है और धरोहरको राखनेवाला महाजनको तो वह धन देना ही योग्य है परंतु वह पुरुष कहीं जीता हो फिर चला आवे तो अनर्थ है इससे उसके पुत्रादिकोंको न देवे ॥ १८५ ॥ धरोहर धरनेवाला पुरुष जो मरजावे तो निक्षेपधारी महाजन उसके रुपयोंको उसके पुत्र आदिकोंकेवास्ते विना मांगे हुएही देदेवे तब राजाको अथवा उसके अन्य बांधव आदिकोंको उस धनी महाजनको ऐसा नहीं कहना चाहिये कि तेरेको धरोहरका धन देना योग्य है ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्रैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥ निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्त्वरिसाधने । समुद्रे नाश्रुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

अर्थ—जो यदि तिस महाजन साहूकारकै धरोहरके धनका संभव होवे तो साम आदि समझानेके उपायोंकरके प्रीतिके वचनोंकरके उससे धनको लेवे ॥ १८७ ॥ यह विधि संपूर्ण धरोहरोंमें साक्षीके अभावमें निश्चय करनेकेवास्ते है और जो चिन्हकरके कुछ धरोहर धरी हो उसमेसे यदि कुछ निकाला नहीं हो तो कुछभी दोष नहीं पावेगा ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निमा दग्धमेव वा । न दद्याद्यदि तस्मात्स

न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

अर्थ—जो निक्षेपधारी अर्थात् धरोहरको रखवानेवाला पुरुष रक्खी हुई धरो-
हरमेसे आप कुछ न लेवे और वह धन चौरोंसे हराजावे अथवा जलसे कहीं
वहजावे वा अग्निसे दग्ध होजावे तो तिसको कुछ नहीं देवे ॥ १८९ ॥ धरोहरसे
निकलनेवालेको और विना धरीहुईको मांगनेवालेको संपूर्ण साम आदिक उपा-
योंसे और वेदके शपथ अर्थात् पूर्वोक्त कशमोंकरके सही करे ॥ १९० ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते । तावुभौ चौरवच्छा-
स्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारं सत्समं
दापयेद्दमम् । तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अर्थ—जो किसीकी धरोहरको नहीं देता है और जो विना धरीहुई धरोहरको
मांगता है ये दोनों चौरकेसमान सजा पानेको योग्य है अथवा उस धनके समान
दंड करना योग्य है ॥ १९१ ॥ निक्षेप अर्थात् धरोहरको हरनेवाले पुरुषको रा-
जा उस धनकेसमान दंड देवे और तैसेही विना रक्खे हुए धनको मांगनेवालेको
वा उपनिधिको हरनेवालेकोभी उस धनकेसमान दंड देवे ॥ १९२ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ॥ ससहायः स हन्तव्य प्र-
काशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥ निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुल-
सन्निधौ । तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

अर्थ—तुमपर राजा नाराज है हम तुम्हारी रक्षा करते हैं हमको धन दो ऐसे
झूठ बोलनेके उपायोंकरके जो किसीके धनको हरता है उसको राजा बहुतसे
मनुष्योंके सामने नाक हाथ आदि काटनेकी अनेक प्रकारकी पीडा दंड देवे
॥ १९३ ॥ जो सुवर्ण आदि धन जिस साक्षीकेसामने किसी महाजनमें धरा हो
तिसके तोलके झगडे होनेपर वह साक्षी कहे उतना प्रमाण जानना और उसमें
तकरार करनेवाला उक्त दंड पानेको योग्य है ॥ १९४ ॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा । मिथ एव प्रदा-
तव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥ निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्यो-
पनिहितस्य च । राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्यासधारिणम् १९६

अर्थ—जिसको एकांतमें धरोहर रखी और लेनेवालेनेंभी एकांतमें लेके धरी हो वह धरोहर एकांतमेंही देनी चाहिये अर्थात् देनेके समय कुछ गवाहकी जरूरत नहीं ॥ १९५ ॥ धरोहरके धनका अथवा प्रीतिकरके रक्खा हुआ प्रीतिका धनका राजा इस पूर्वोक्त प्रकारसे धरोहरधारीको पीडा नहीं देता हुआ निर्णय करे ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः । न तं नयेत साक्ष्यं
तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥ अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः

षट्शतं दमम् । निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—जो कोई मालिककी आज्ञा लियेविना दूसरेकी वस्तु बेचता है उस चोरको अपनेको साबित माननेवालेको कहीं साक्षी न करे अर्थात् उसका कहींभी प्रमाण न करे ॥ १९७ ॥ जो वह बेचनेवाला स्वामीका संबंधी होवे तो उसपर छह सोपण २५ रुपयोंके अनुमान दंड देवे और जो धनके मालिकका संबंधी न हो तथा दीवान वगैरहभी न होवे तो चोरकेसमान दंड देनेको योग्य है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा । अकृतः स तु
विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥ संभोगो दृश्यते यत्र न
दृश्येतागमः क्वचित् । आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥

अर्थ—स्वामी अर्थात् मालिकके विना दूसरेको जो किया वा जो दिया हो जो बेचा हो वह सब सही नहीं होता है व्यवहारकी जो मर्यादा है तैसे ठीक नहीं हुआ है ॥ १९९ ॥ जिस वस्तुमें संभोग वर्तना दीखता है औ क्रय आदि रूप खरीदनेका आगम नहीं दीखता है तहां खरीदके आनेका प्रमाण है संभोग कारण नहीं ऐसी मर्यादा है ॥ २०० ॥

विक्रयादो धनं किञ्चिद्भृहीयात्कुलसन्निधौ । क्रयेण स विशुद्धं हि
न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥ अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रय-
शोधितः । अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—जो कुल बहुतसे व्यवहारी जनोंके सामने विकतेहुए द्रव्यको मूल्यसे खरीद कर ग्रहण करता है वह शुद्ध है और न्यायसे उस धनको पाता है ॥ २०१ ॥ जो विना मालिककी वस्तुको चोरीसे बेचनेवाला पुरुष मरजावे वा देशांतरमें चलाजावे तब उसको खरीदनेवाला पुरुष बहुत जनोंके खरीदनेसे दंड

ढको योग्य नहीं है परंतु वह धनका स्वामी तिसको आधा मूल्य देके अपनी वस्तुको लेलेवे ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति । न चासारं न चन्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥ अन्यां चेद्दर्शयित्वान्या वोढुः कन्या प्रदीयते । उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

अर्थ—कोई चीज अन्य दूसरी चीजमें मिलाके बेचना योग्य नहीं है और बिगड़ी हुई चीजको श्रेष्ठ बतलाके न बेचे और कमतोलके न देवे तथा दूरसे ढकी हुई चीजको न बेचे ॥ २०३ ॥ शुल्क धनके ग्रहण करनेकेसमय जो अन्य उत्तम कन्याको दिखाके फिर विवाहसमय अन्य दूसरीको देता है तहां वे दोनों कन्या उसी शुल्कसे उसी एकही वरकेसाथ विवाहै यह मनुजीनें कहा है ॥ २०४ ॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना । पूर्व दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥ ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् । तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

अर्थ—जो उन्मत्त वाली कुष्ठरोगवाली कन्या हो और परपुरुषकेसंग मैथुन कर चुकी हो ऐसी इन कन्याओंके दोषोंको वरकेवास्ते कहके देनेवाला पुरुष राजासे दंड देने योग्य नहीं है ॥ २०५ ॥ यज्ञमें वरण हुआ ऋत्विक् कुछ कर्मकरके फिर रोग आदिकसे पीडित होके तिस कर्मको छोड़देवे तो तिसके कृतकर्मके अनुसार अन्य कर्त्ताओंके भागकेसाथ कुछ दक्षिणा देनी योग्य है ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् । कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥ यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

अर्थ—दक्षिणा देनेकेपीछे रोग आदिसे पीडित हुआ ऋत्विक् जो अपने कर्मको त्यागै तो संपूर्ण दक्षिणा पानेको योग्य है और अपने बाकी रहे कर्मको अन्य किसी विद्वान्से करवा देवै ॥ २०७ ॥ जिस आधान आदि कर्ममें अंग अंगके प्रति जो दक्षिणा जिसके संबंधसे सुनी जाती है उसको वही एक ग्रहण करें तिसके भागमात्रको सब जन ग्रहण न करे ॥ २०८ ॥

रथं हरेत वाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् । होता वापि हरेदश्वसु-

द्राता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥ सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेना-
र्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थीशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

अर्थ—आधानकर्ममें अध्वर्यु रथको ग्रहण करे ब्रह्मा अश्वको ग्रहण करे होता-
भी अश्वको ग्रहण करे और उद्गाता सोमक्रयको धारण करनेवाले शकटको
ग्रहण करे इत्यादिक नियमोंके प्रमाणसे जिसकी जो दक्षिणा है उसको वही
ग्रहण करे ॥ २०९ ॥ सौ १०० करके दीक्षा करानी यह सुनाजाता है तहां
होता अध्वर्यु ब्रह्मा उद्गाता ये चार मुख्य ऋत्विक् सब दक्षिणाका आधा भाग
ग्रहण करें और इनसे आधी दक्षिणा लेनेवाले अन्य चार ऋत्विक् होते हैं और
तीसरे हिस्सेको ग्रहण करनेवाले तीसरे अन्य ऋत्विक् होते हैं और चौथे हि-
स्सेको ग्रहण करनेवाले अन्य चार ऋत्विक् हैं ऐसे सोलह ऋत्विक् होते हैं ॥ २१० ॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः । अनेन विधियोगेन
कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥ धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्या-
चते धनम् । पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥

अर्थ—मिलकरके गृहनिर्माण आदि अपने कर्मोंको करते हुए मनुष्योंने इस
यज्ञ दक्षिणा विधिके अनुसार व्यापारकी अपेक्षासे हिस्सोंकी कल्पना करनी
चाहिये ॥ २११ ॥ जिसको यज्ञ आदि धर्मके अर्थ किसी याचककेवास्ते धन
दिया हो अथवा देनेका इकरार करलिया फिर वह याचक तिस धनको यज्ञमें
नहीं लगावे तो देनेवाला उलटा लेलेवे और प्रतिज्ञा किया हुआ धनभी
न देवे ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पालोभेन वा पुनः । राज्ञा दाप्यः सुवर्णं
स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्या य-
थावदनपक्रिया । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

अर्थ—जो यदि तिस दियेहुए धनको ग्रहणकरके फिर लोभसे तथा अहंकार-
से उलटा न देवे और देने किये हुएको बलसे मांगे तो राजा उसकी चोरीकी
निष्कृतिके अर्थ पूर्वोक्त सुवर्ण १॥ तोला प्रमाणके अनुमान दंड देवे ॥ २१३ ॥
धर्मकेवास्ते दिया हुआको नहीं देनेकी यह विधि कही अब इससे भृत्यकी तन
ख्वाह न देनेको कहते हैं ॥ २१४ ॥

भृतो नातो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् । स दण्ड्यः कृष्ण-

लान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥ आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः
सन् यथाभाषितमादितः।स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्॥

अर्थ—जो बीमारीके बिना स्वस्थचित्त हुआभी नौकर मालिकके कहेहुए कामको अहंकारसे नहीं करता है वह सुवर्णके आठ कृष्णल यानें रती सुवर्ण दंड देनेको योग्य है और उसकी तनखाहभी न देवे ॥ २१५ ॥ और जो बीमारीसे पीडित हुआ कर्म नहीं करता है फिर स्वस्थ चित्त होके मालिक जैसा कहाता है वैसाही काम करता है वह बहुत दिनकी बाकी रही तनखाहकोभी प्राप्त होवेगा १६

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् । न तस्य वेतनं देय-
मल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥ एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतना-
दानकर्मणः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्म समयभेदिनाम् ॥२१८॥

अर्थ—जो बीमार हुआ नौकर मालिकके कामको अन्य किसीके पाससे नहीं करवाता है और स्वस्थ हुआभी आप काम नहीं करता है वा अन्य किसीसेभी नहीं करवाता है उसके कुछ बाकी कियेहुए कामकीभी नौकरी न देवे ॥ २१७ ॥ यह वेतन अर्थात् नौकरीके कर्मका मूल्य तनखाह लेनेका संपूर्ण धर्म कहा अव इससे आगे समयभेद अर्थात् जानके निषिद्ध कर्मोंको करनेवालोंकी व्यवस्थाको कहेंगे ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभा-
त्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥२१९॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचा-
रिणम् । चतुः सुवर्णान् षण्णिष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥

अर्थ—जो राजाके देशमें रहनेवाले वैश्य आदिकोंका समूह हमको यह करना है ऐसे किसी मतलबकेवास्ते कोई समयका संकेत करते हैं और सत्य सौगंदकरके राजासे कहते हैं फिर तिनमें जो कोई लोभकरके उस उक्त प्रयोजनसे विरुद्ध चले तो राजा उसको अपने राज्यसे निकालदेवे ॥ २१९ ॥ ऐसे उक्त प्रयोजन समयसे विरुद्ध करनेवाले तिस मनुष्यको राजा जानलेवे तब चार सुवर्ण वा छह निष्क अथवा पूर्वोक्त शतमान राजत इनका दंड कसूरके अनुसार करे ॥२२०॥

एतद्वण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः । ग्रामजातिसमूहेषु स-
मयव्यभिचारिणाम् ॥२२१॥ क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहा-
नुशयो भवेत् सोऽन्तर्दशाहात्तद्व्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥ २२२ ॥

अर्थ-ग्राममें जो जातिके समूह है उनमें जो समयसे उक्तसंकेतसे विरुद्ध चलनेवाले है उनको धार्मिक राजा इसप्रकार दंड देवे ॥ २२१ ॥ कोई पुरुष भूमि तांवा आदिक द्रव्यको बेचके वा खरीदके पिछता बेकी मैने अच्छा नहीं किया वह दशदिनके अंदर उस वस्तुको लौटा देवे और बेचनेवालाभी ग्रहण करलेवे ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददश्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति । तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥

अर्थ-दशदिनके पीछे बेचाहुआको न लेवे और खरीदाहुआको लौटावे नहीं और जो बलसे उलटा लौटते है वह राजाको छह सौ प्रमाण दंड देनेके योग्य है ॥ २२३ ॥ जो पुरुष उन्मत्त आदि दोषोंवाली कन्याको बिना कहें वरकेवास्ते दान देता है तिसको राजा आप इन्साफ करके नव्वे ९० पण दंड देवे ॥ २२४ ॥

अकन्येति तु यः कन्या ब्रूयाद्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयादण्डं तस्यादोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः । नाकन्यासु कचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

अर्थ-जो पुरुष कन्याको द्वेषभावसे क्षतयोनिवाली अकन्या कहते है वह उक्त दोष न होनेसे राजाको सौपण दंड देनेको योग्य है ॥ २२५ ॥ मनुष्यके जो पाणिग्रहण, विवाहसंबंधी वैदिक मंत्र है वे कन्याकेही विषयमें कहे है अकन्या अर्थात् क्षतयोनिवाली जो है उनकेविषे कहीं वैदिकमंत्र नहीं है क्योंकि वे धर्म क्रियाको नाश करनेवाली है ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥ यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ॥ तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

अर्थ-और विवाहसंबंधी मन्त्र भार्या होनेमें निश्चय निमित्त हैं ऐसे विद्वानोंको जानना चाहिये सो क्योंकि सप्तपदीभव ऐसे मन्त्र पढ़के सप्तपदी दान अर्थात् बिना सातवीं भांवर फिरे भार्या नहीं होती है ॥ २२७ ॥ जिस जिस कियेहुए काममें दश दिनतक पश्चात्ताप अर्थात् मैने यह अच्छा न किया ऐसा

पिछताव होजावे तिस कार्यको राजा इस धर्ममार्गमें नियुक्त करे अर्थात् दश दिनके भीतरके किये कार्यको नापसंद होनेमें लौटवा देवे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे । विवादं संप्रवक्ष्या-
मि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥ दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ
स्वामिनि तद्गृहे । योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥

अर्थ—गौ आदि पशुओंके विषयमें जो स्वामी और पालीका व्यतिक्रम होजा-
वे तो उनके विवादको यथावत् धर्मतत्त्वसे कहते हैं ॥ २२९ ॥ दिनमें तो पाली-
के हाथ सौंपनेसे पशुओंके योगक्षेमकी जुम्मेदारी पालीको है और रात्रीकी समयमें
स्वामीके घरमे लादेनेपीछे स्वामीकाही दोष है और जो यदि रात्रीमेंभी पाली-
को पशु सौंपे हो तो जवाब देहपाली होवेगा ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्यादशतो वराम् । गोस्वाम्यनुमते भृत्यः
सा स्यात्पालेऽभृते भृति ॥ २३१ ॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं
विषमे मृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

अर्थ—जो गोपाल भृत्य अर्थात् गौओंका मालीक स्वामीकी अनुमतिसे एक
उत्तम गौको दुहता है यानें उसके दूधको ग्रहण करता है वह दश गौओंको च-
रावे अर्थात् दशोंका पाली रहे उसकी वहीतनखाह है ॥ २३१ ॥ जो गौआ-
दि पशु, चरानेवाले मनुष्यके समीपसे खोयजावे या पालिकेविना देखे सर्प
विच्छेद आदि कीड़े यदि पशुको खालेवे या कुत्ते आदि दुष्ट जानवर पशुको भ-
क्षण करलेवे या खड्डे आदि विषम भूमीमें पडके मरजावे या पशुओंकी रक्षा
करनेवाला पाली रक्षा करनेमें पुरुषार्थ न करे तो ऐसों ऐसों नष्ट हुये पशुको
स्वामीके अर्थ पालीदेवे ॥ २३२ ॥

विधुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च काले च
स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥ कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्ति
स्नायुं च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥

अर्थ—जो यदि पटहा आदि बाजोंको बजाके चौर अपने बलकरके पशुओंके
पालीके समीपसे लेजावे तो रक्षा करनेवाला पालीकभी न देवेगा और जो यदि
स्वामी नजीक होवे तो पशुओंके हरनेकों अपने स्वामीसे जल्दी कहै ॥ २३३ ॥
जो अपने मौतसे आपही पशु मरजावे तो उस पशुके कान चर्बी वाल पूंछ और

वस्तियानें सूंडीका नीचेका भाग और स्नायु रोचना ये सब पशुके स्वामीको देदेवे और मरेहुये पशुके सींग खुर आदि अंगोंको दिखादेवे ॥ २३४ ॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति । या प्रसह्य वृको हन्या-
त्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥ तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां
मिथो वने । यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

अर्थ—जिस बकरी भेड़ आदि पशुको भेड़िया रोकलेवे तब जो यदि पशुओं-
को पाली दौरे नहीं और बलकरके जिस बकरी भेड़ आदिको भेड़िया मार
देवे तो फिर तहां वह दोष पालीका है ॥ २३५ ॥ और जो यदि वे बकरी
भेड़ आदि पशु तृणयुक्त वनमें इकट्ठे कियेहुये आपसमें अपनी अपनी इच्छासे
चरते हो और उनमेंसे किसी पशुको अचानक कूदके जो भेड़िया मारजावे तो
तहां पालीका दोष नहीं ॥ २३६ ॥

धनुः शतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः । शम्यापातास्त्रयो वा-
पि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥ तत्रापखितं धान्यं विहिंस्युः
पशवो यदि । न तत्र प्रणयेदण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—ग्रामके चारोंतर्फ चारसै हाथमें परिहार यानें पशुओंकी बैठनेकी जमी-
नको न वोवे या जहांतक तीनवार फैंकनेसे लाठी जाके पड़े वहांतकका गोरवको
न वोवे और सहरको चारोंतर्फ इससे तिगुनो जमीन छोड़नी चाहिये ॥ २३७ ॥
और जो यदि उस गोरेकी जमीन कोई विनाराजाको माल दिये बोले वे और
उसमें किसीके पशु आनके चरजावे तो फिर उस मामलेमें पशुपालको राजा
दंड न देवे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्व-
स्त्रकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥ पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा
पुनः । सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

अर्थ—और उस परिहार यानें गोरेकी जमीनमें बोलनेवालेको खेतके चारोंतर्फ
डौला बनाना चाहिये और उस डौलेपे कांटोंके वृक्ष लगादेवे कि जिस्से खेतीको
जुंटाभी न देखसके और उस डौलेमें जो कुत्तेका या शूरका मुख आनेका छिद्र
हो तो उस छिद्रकोभी रोकदेवे ॥ २३९ ॥ सडकके समीप होनेवाले क्षेत्रमें या
ग्रामके समीप हो उस क्षेत्रमें या परिवृत्त यानें गोरेके खेतमें जो किसी प्रकार

पालीके देखते देखते पशु बडके चरनें लगजावे तो उस पालीको सोपण दंड देवे और पाली न होवे तो खेतवालाही पशुओंको रोकदेवे यानें अपने खेतमें न बडनें देवे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति । सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा । सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥२४२॥

अर्थ—और अन्य क्षेत्रोंमें जो पालिके आगे पशु बडके खेतमें चरलेवे तो तहां पालीको सवा १। पणका दंड देवे और सब जगह खेतवालेको अपराधके अनुसार पाली या पशुका स्वामी हरजाको देवे ॥२४१॥ व्याई गौ दशदिनके भीतर जो किसीके खेतमें जाके चरले और देवरूपपशु अर्थात् चक्र त्रिशूलवाला सांड जो किसीके खेतमें खेतीको भक्षण करता हो तो ये दोनों सपाल होया बिना पालीवाले हों इनको दंड न देना यह मनुजीनें कहा है ॥ २४२ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागादशगुणो भवेत् । ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥ २४३ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेद्वार्मिकः पृथिवीपतिः । स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे २४४

अर्थ—जो यदि खेतवाला राजाको उगाही आदि न देता हो और वे समयमें खेती बोयी हो ऐसे कसूरमें उसके खेतको पशु चरजावें तो उस क्षेत्रवालेको राजभागसे दशगुण दंड देवे और जो माल देता हो तो और किसानकेविना मालूम पशु खेतीको चरे तो तिस क्षेत्रवालेसे आधा दंड नौकरोंको देवे ॥ २४३ ॥ धर्मको जाननेवाला पृथिवीका पति इस विधानको धारण करे स्वामियोंके और पशुके पशुपालोंके अपराधमें, यह श्रेष्ठ धर्म है ॥ २४४ ॥

सीमांप्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः । ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्चत्थकिंशुकान् । शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

अर्थ—यदि दो ग्रामोंका सीमके लिये विवाद होजावे तो फिर राजा ज्येष्ठके महीनेमें तृणोंके सूखनेसे और सीमके प्रकाश होनेसे सीमका निश्चय करे और दोनोंका विवादको दूर करे ॥ २४५ ॥ और सीमके ऊपर बटका वृक्ष पीपलका

वृक्षदेशूका और वृक्ष शालमलीका वृक्ष सालका ताडका उदुंबर यानें गुलरका
ऐसे ऐसे वृक्ष बहुतकाल स्थिर रहनेवाले सीमके चिन्हरूप बनावे ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि चाशरान्कुञ्जकगुल्माश्च
तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस-
वणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

अर्थ—गुल्म वेणु नानाप्रकारके जांटीका वृक्षवेल मुकर्वा और शरकुब्जगुल्म
ऐसे ऐसे चिन्हसीमके बनावे क्योंकि इसप्रकार करनेसे सीम नष्ट नहीं होती है २४७
तलाव कूआ वापि यानें बावडी और जल वहनेके मार्ग और मंदिर शिवाला
आदि देवतोंके स्थान इत्यादि दोनों ग्रामोंके सीम संधेपर बनावे ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणां वि-
क्षय नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तु-
षान्भस्म कपालिकाः । करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा २४९

अर्थ—सीमके निश्चयके लिये अन्य गुप्त चिन्ह सीमके बनावे और सीमके अर्थ
मनुष्योंका अज्ञान देखकर सदा संसारके विषयरूप अज्ञान दूर होनेको अवश्य
बनावे ॥ २४९ ॥ पाषाण अस्थी गोवाल तुष भस्म कपालिक सूका गोवर और
पकी ईंट कोइ ले खपरैल बालुरेत इतनी वस्तु घडेमें घालके सीमपर गाडदेवे ५०

यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् । तानि संधिषु सीमा-
यामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विव-
दमानयोः । पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

अर्थ—इसप्रकारकी जिन वस्तुओंको बहुतकालके बाद होनेमेंभी भूमि न खा-
सके तिन वस्तुओंको दोनों ग्रामोंके सीममें गाडदेवे ॥ २५१ ॥ सीमके अर्थ वि-
वाद करनेवाले दो ग्रामोंके मनुष्योंका विवाद दूर करनेके अर्थ इन पूर्वोक्त चि-
न्होंकरके राजा सीमको बांट देवे या पहिलेके भोगनेसे या नदीके प्रवाह आगमक-
रके बांट देवे ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने । साक्षिप्रत्यय एव स्या-
त्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥ ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीमि
साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

अर्थ—और जो यदि चिन्होंके देखनेसेभी सीमके निश्चयमे संदेह होवे तो फिर विवाद करनेवाले मनुष्योंके साक्षीही निश्चय करनेवाले है ॥ २५३ ॥ ग्रामीयक मनुष्योंके आगे और दोनों ग्रामोंके विवादी मनुष्योंके सन्मुख जो कोई मनुष्य सीमके विषयमें साक्षी हो उसको सीमके चिन्ह पूछने चाहिये ॥ २५४ ॥

ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् । निबध्नीयात्तथा-
सीमां सर्वास्ताश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥ शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स-

ग्विणो रक्तवाससः । सुकृतैः शापिताः स्वैस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ५६

अर्थ—वे संपूर्ण पूछेहुये मनुष्य सीमके विषयमें जो निश्चयकरके कहै तैसेही संपूर्ण सीमको पत्रमें लिखे और उन संपूर्ण मनुष्योंके नाम लिखै ॥ २५५ ॥ वे साक्षी रक्तपुष्पोंकीमाला और रक्तवस्त्र पहिनके और पृथिवीके डले शिरपर धरके यह कहैं कि हमारे सुकृत नाश हो जो हम असत्य कहते हों तो ऐसे कहाके उस सीमको विधिसे निश्चय करे ॥ २५६ ॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः । विपरीतं नयन्तस्तु दा-

प्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥ साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः

सामन्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ ॥ २५८

अर्थ—वे सच्चे साक्षि शास्त्रोक्तविधिसे सीमको निर्णय करनेवाले पापोंसे दूर होजाते हैं और विपरीत विधिसे करनेवालेको दोसो पण दंड देना चाहिये ५७ और विवाद करनेवाले मनुष्योंके साक्षियोंके अभावमें समीपके ग्राम चारोंतर्फ आसपास बसनेवाले चार जमीदार साक्षी धर्मकरके सीमका निर्णय राजाके संपीजाके करे ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् । इमानप्यनुयु-

ज्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥ व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कै-

वर्तान्मूलखानकान् । व्यालग्राहानुच्छृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ६०

अर्थ—और परंपरासे प्राप्त होनेवाले जो सीमके साक्षी न हों तो वनमें रहनेवाले इन वक्ष्यमाण पुरुषोंको सीमके विषयमें साक्षी करे ॥ २५९ ॥ पहले कहे इन सबके अभावमें, व्याध और जानवरोंको मारके भक्षण करनेवाले और गोपाल मच्छीको मारनेवाले वृक्षोंको पाडनेवाले सर्पोंको पकडनेवाले उच्छृत्तिकरनेवाले अन्य वनचारी इन सबको सीमके विषयमें पूछलेवे ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणम् । तत्तथा स्थापयेद्राजा-
धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥ क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृह-
स्य च । सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

अर्थ—वे व्याध आदिक पूछेहुये सीम संधिमें जैसे लक्षण कहै सो तैसेही राजा
दोनों ग्रामोंकी सीमको व्यवस्थाकरके स्थापन करे ॥ २६१ ॥ एक ग्राममें क्षेत्र कू-
प तलाव बगीचा घर इनोंके और सीमके और सेतुके विवादमें अपने देशमें व-
सनेवाले सब साक्षियोंका प्रमाण जानना व्याध आदिका प्रमाण नहीं ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् । सर्वे पृथक् पृथग्द-
ण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥ गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा
भीषया हरन् । शतानि पञ्च दण्डयः स्यादज्ञानाद्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

अर्थ—सीमके निमित्त विवाद करनेवाले मनुष्योंमें रुषारुषी पक्षकरके जो य-
दि आसपास ग्रामोंमें वसनेवाले मनुष्य मिथ्या कहैं तो वे संपूर्ण पृथक्पृथक् रा-
जाकरके मध्यम साहस दंड देनेके योग्य हैं ॥ २६३ ॥ घर तडाग, बगीचा
क्षेत्र इनोंको जो मारणके भयसे या बंधनादि भय कहके जो कोई हरलेवे उ-
सको राजा धर्मको जानके पाँचशौ पण दंड देवे बलसे लेनेवालेको तीनशौ पण
दंड देना ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्याया स्वयं राजैव धर्मवित् । प्रदिशेद्धूमिमेतेषामुप-
कारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥ एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमा-
विनिर्णये । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

अर्थ—सीमके चिन्ह और साक्षियोंके अभावमें धर्मज्ञ राजाही आपही विचार-
करके उस अविषह्य सीमको अर्थात् विनानिश्चय हुई सीमको, जिन विवादी
पुरुषोंका अधिक नुकसान होता हो उन्होंनेहीके लिये देदेवे क्योंकि तिनोंको उप-
कार है ऐसी धर्मकी व्यवस्था है ॥ २६५ ॥ यह धर्म सीमके निर्णयमें संपूर्ण क-
हा है और अब इससे ऊर्ध्ववाक् पारुष्यका अर्थात् कठोर वचन कहनेका निर्ण-
य कहते हैं ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाकुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा
शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्डयः क्षत्रियस्या-

भिशंसने । वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

अर्थ—जो यदि क्षत्रिय होके ब्राह्मणको चोर ऐसे पारुष्य वचन कहे तो क्षत्रि शौपण दंड देनेके योग्य है और वैश्य, वचनके अनुसार डेढशो या दोशोपण दंड देनेके योग्य है और शूद्र ब्राह्मणको खोटे वचन कहै तो वह शूद्र वधयाने मारनेके योग्य है ॥ २६७ ॥ ब्राह्मण जो क्षत्रीको परुष वचन कहै तो पचाशपण दंड देना ब्राह्मणको योग्य है और वैश्यको खोटे वचन कहै तो ब्राह्मणको पची-सीपण दंड देवे और शूद्रके मामलेमें बारहपण देवे ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे । वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥ एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् । जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥

अर्थ—समान जातीके द्विजाति जो आपसमें खोटे वचन कहे तो उनको बारहपण दंड देना और जो माता भगिनी आदिकोंको खोटे वचन कहै तो वही दूना दंड देवे ॥ २६९ ॥ जो शूद्र द्विजातियोंको पातक आदि घोर वाणीसे बोले तो उस शूद्रकी जिह्वाको छेदन राजा करादेवे क्योंकि वह शूद्र पादसे जन्मा है उसको खोटे वचन बोलनें द्विजातिके अर्थ योग्य नहीं ॥ २७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः । निक्षेप्योऽयोमयः शंकु-
ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥ २७१ ॥ धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य
कुर्वतः । तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

अर्थ—जो शूद्र होके द्विजातिको यह कहे कि रे यज्ञदत्त ब्राह्मण तू खोटा है ऐसे नामको जातिद्रोहसे बोले तो उस शूद्रके मुखमें दश अंगुलकी लोहेकी कील अग्निमें तपाइ हुईको प्राप्त करे यह उसके बोलनेका दंड है ॥ २७१ ॥ और जो शूद्र अभिमानकरके ब्राह्मणको धर्मका उपदेश देवे तो उस शूद्रके मुखमें और कानमें अग्निकरके तपाया हुआ तेल राजा आसेचन करावे अर्थात् कानमुखमें ताता तेल डलावे ॥ २७२ ॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च । वितथेन ब्रुवन् दर्पा-
दाप्यः स्याद्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥ काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि
तथाविधम् । तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

अर्थ—और जो कोई द्विजातिही द्विजातियोंको यह कहै कि तैनें यह बात न

मुनी और तू उस देशमें जन्मा नहीं और न तेरी यह जाति और न तेरा संस्कार हुआ ऐसे जो अहंकारकरके मिथ्या कहैं उसें दोसोपण दंड देना योग्य है ॥ २७३ ॥ और जो ब्राह्मणको काणा लंगडा दूटा ऐसे अंगोंकरके हीनकोभी जो सत्य वचनसे कहै तो उसे कार्षापण दंड देना योग्य है ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् । आक्षारयञ्छतं दाप्यः
पन्थानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः का-
र्यो विजानता । ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

अर्थ—माता पिता भाई अपनी भार्या पुत्र गुरु इनोंको अभिशाप न कर्ता या-
नें कुवचन बोले और वडोंके मार्गको त्यागदेवे तो उसको राजा शौपण दंड देवे
॥ २७५ ॥ ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर जो आक्रोश करें तो दंड शास्त्रको जा-
ननेवाले राजाकरके इस विधिसे दंड देना योग्य है कि ब्राह्मणको पूर्व साहस दंड
देवे और क्षत्रीको मध्यम साहस दंड देवे ॥ २७६ ॥

विद्रशूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः । छेदवर्जं प्रणयनं दण्ड-
स्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥ एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य
तत्त्वतः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

अर्थ—और जो वैश्य शूद्र आपसमें परस्पर आक्रोश करे तो वैश्यको प्रथम
साहस दंड और शूद्रको मध्यम साहस दंड देवे यह दंडविधि कही है ॥ २७७ ॥
यह वाक्पारुष्य दंडकी विधी तो कही अब इससे आगे दंडपारुष्य अर्थात् ताड-
ना आदिकका निर्णय कहेंगे ॥ २७८ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छेष्टमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य
तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥ पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छे-
दनमर्हति । पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

अर्थ—जो यदि शूद्र द्विजातिको जिस किसी अंगकरके ताडना देवे तो फिर
वही वही अंग उस शूद्रका छेदन करवाना योग्य है यह मनुजीकी आज्ञा है ॥
॥ २७९ ॥ जो शूद्र हाथको या लाठीको उठाके द्विजातिके ऊपर हनन करे तो
उस शूद्रका हाथ छेदन करानेके योग्य है और जो शूद्र कोपकरके द्विजातिको
पैरसे मारे तो उस शूद्रका पैर छेदन करानेके योग्य है ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः । कट्या कृताङ्गो निर्वास्यः

स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥ अवनिष्ठीवतो दर्पाद्वावोष्ठौ
छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

अर्थ—जो शूद्र ब्राह्मणकरके साथ आसनपर बैठनेकी इच्छा करे तो उस शूद्रकी कमरमें तपाये लोहके चिन्हका दाग देके देशसे निकाल देवे या उस शूद्रकी फीचको छेदन करादेवे ॥ २८१ ॥ जो शूद्र अभिमानकरके थूकसे ब्राह्मणका अपमान करे उसके दोनों ओष्ठ राजा छेदन करवादेवे और जो मूत्रसे अपमान करे तो लिंगइंद्रीका छेदन करावे और अपशब्दकरके अपमान करे तो गुदा छेदन करादेवे ॥ २८२ ॥

केशेषु गुल्लतोहस्तौ छेदयेदविचारयन् । पादयोर्दाढिकाया च ग्री-
वायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥ त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च
दर्शकः । मांसभेत्ता तु षणिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

अर्थ—जो शूद्र अभिमानसे द्विजातिको केश पकड़के पीड़ा देवे या मारनेके अर्थ द्विजातिके पैरको या श्मश्रुको या नाडको या वृषणोंको ग्रहण करे तो उसके हाथ छेदन करादेवे यह राजाका धर्म है ॥ २८३ ॥ जो मनुष्य अपनी जातिके मनुष्यकी चामको भेदन करदेवे या लोहको काढदेवे तो उसे शौपण दंड देवे और जो मांसको भेदन करदेवे तो छह निष्क सुवर्णका दंड देवे और अस्थिको भेदन करनेवालाको देशसे निकालदेवे ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा । तथातथा दमः कार्यो हिं-
सायामिति धारणा ॥ २८५ ॥ मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय
प्रहृते सति । यथायथा महदुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥ २८६ ॥

अर्थ—संपूर्ण वनस्पतिओंके फल पुष्प पत्रके भोग जैसे जैसे है तैसे तैसे उत्तम साहस आदि दंड हिंसामें करना ऐसी धारणा जानना अर्थात् फलोंके नुकसानके अनुसार दंड देवे यह व्यवस्था है ॥ २८५ ॥ मनुष्य तथा पशुओंके पीड़ा उत्पन्न करनेकेवास्ते जो प्रहार करता है उसको जैसी जैसी मनुष्यादिकोंको अधिक पीड़ा दीहै तैसाही कसूरके अनुसार दंड देवै ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा । समुत्थानव्ययं दाप्यः
सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽ-
ज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

अर्थ—हाथ पैरोंमें घाव हो जावे रुधिर निकसा जावे ऐसी पीडा कर देनेमें जिसको पीडा हुई है उसकी पीडा जबतक निवृत्त होवे तबतक औषधपथ्य आदिकोमें जो खर्चा लगे उसको वह पीडाकरनेवाला देवे और जो नहीं देवे तो राजा उसपर दंडकरके सब खर्चा दिलवावै ॥ २८७ ॥ जो कोई किसीके वरतन आदि द्रव्योंका नाशको जानके वा बिना जानें हुए करदेवै वह उसको अन्य द्रव्य देकै प्रसन्न करै और उस नष्ट कियेहुए द्रव्यके मूल्यकी बराबर राजा उसको दंड देवै ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च । मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥ यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च । दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

अर्थ—चाम चामके बनायेहुए मसक आदि वरतन वा काष्ठके तथा मिट्टीके वरतन इनके फोड डालनेमें तथा पुष्प मूल फल इनके नाशकर देनेमें इनके मूल्यसे पांचगुना दंड राजाको देवै और इन चीजोंवाले मालिकको प्रसन्न कर देवै ॥ २८९ ॥ रथआदि सवारी तिसका सारथी और उस सवारीका मालिक इनके जो यदि आगे कहेहुए दशनिमित्त हो जावेंतो कुछ दंड देनेको, ये योग्य नहीं है और उन दश निमित्तोंके बिना दंड देना कहा है ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभंगे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्ररश्म्योस्तथैव च । आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

अर्थ—वैलोंकी नाथ टूट जावे १ जूवा टूट जावे २ ऊंची नीची पृथ्वीपर रथ आदि तिरछा हो जावे ३ रथके पैहोकी धूरी टूट जावे ४ वा चक्रपैहें टूट जावे ५ चर्म आदिसें बंधेहुए यंत्र खुल जावे ६ वैलोंके पकड़नेके जोत ७ रज्जु छूट जावे और हांकनेके समय बैल चिमक जावे इन दश कारणोंके होनेमें जो यदि प्राणी हिंसा वा द्रव्यका नाश हो जावे तो सारथी आदिकोंको दंड देना योग्य नहीं है ऐसे मनुआदिकोंने कहा है ॥ २९१ ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेद्वण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥ प्राजकश्चेद्भवेदासः प्राजको दण्डमर्हति । युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ २९४ ॥

अर्थ—जहां सारथीके मूर्खपनेसे रथआदि सवारीमें कुछ नुकसान होके प्राणि हिंसा हो जाती है तहां उस रथ आदिके स्वामीको दोसौ २०० पण दंड देव ॥ २९३ ॥ जो यदि रथआदिको हांकनेवाला सारथी निपुण होवे तब किसी प्राणीकी हिंसा हो जावे तो उस सारथीकोही दोसो पण २०० दंड देवै और जो वह निपुण नहीं होवे तो उस सवारीमें बैठनेवाले सब पुरुषोंको सौ सौ पण दंड देवे क्योंकि मूर्ख सारथीकी सवारीमें बैठनेसे सबही दोष भागी होते है ॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा । प्रमापयेत्प्राणभृतस्त-
त्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥ मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्कि-
ल्विषं भवेत् । प्राणभृतसु महत्स्वर्थं गोगजोप्स्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

अर्थ—वह सारथी जो यदि मार्गमें पशुवोंसे अथवा अन्य रथअदिसे रुकजावे तोभी जो यदि उस सवारीके तोडनेमें प्राणियोंकी हिंसा हो जावे तो विनावि-
चार किये उस सारथीको दंड देवै ॥ २९५ ॥ जहां मनुष्यकी मृत्यु हो जानेंमें सारथीके मोडनेका कसूर है तहां चोरका दंड उत्तम साहससंज्ञक जुलवाना करै और अन्य प्राणधारी बड़े जीव गौ हाथी ऊंट घोडा इनके मारनेमें उत्तम साह-
सका आधा दंड देवै ॥ २९६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः । पञ्चाशत्तु भवे दण्डः
शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्या-
त्पञ्चमाषिकः । माषकस्तु भवेदण्डः श्वस्रकरनिपातने ॥ २९८ ॥

अर्थ—छोटी जातिके पशुओंके मारनेमें तिस सारथीको दोसौपण दंड देवै और सुंदर मृग तोता, मैना आदि पक्षी इनके मारनेमें पंचाशपण दंड देवै ॥ २९७ ॥ गधा बकरी भेड इनके मारनेमें चांदीके माषकसंज्ञक प्रमाण पांच दंड देवै और शूकर कुत्ता इनके मारनेमें एकमाषक चांदीका दंड देवै ॥ २९८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः । प्राप्तापराधास्ता-
ज्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नो-
त्तमाङ्गे कथंचन । अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ३०

अर्थ—भार्या पुत्र दास कही जानेंआनेवाला दूत सहोदर भाई इनसे कुछ अ-
पराध हो जावे तो इनको शिक्षाकेवास्ते रज्जु बेत बांसकी कामची इनसे पीडा देवै ॥ २९९ ॥ इन भार्या आदिकोंको रज्जु आदिसेभी पीठपे मारके ताडना दे-

वै और शिरपै कभी नहीं मारै और इस्से अन्यथा जो मस्तक आदिपर इनको ताड़ना देता है वह चोरके अपराधके योग्य है अर्थात् चोरका दंड उसको राजा देवै ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः । स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनाना निग्रहे नृपः । स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

अर्थ—यह दंड पारुष्यका संपूर्ण निर्णय कहा अब इस्से आगे चोरके दंड निर्णयमें जो विधि है उसको कहते हैं ॥ ३०१ ॥ चोरोंको दंड देनेमें राजा उत्तम यत्न करे क्योंकि चोरोंको दंड देनेसे राजाका यश और राज्य वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः । सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥ सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

अर्थ—जो राजा प्रजाको अभय देता है वह राजा निरंतर पूजनेयोग्य है और तिसकी यज्ञभी अभय दक्षिणासे युक्त सदा वृद्धिकों प्राप्त होती है ॥ ३०३ ॥ प्रजाकी रक्षाकरनेवाला राजाको संपूर्ण प्रजाके किये हुए धर्मसे छठा भाग मिलता है ऐसीही नहीं प्रजाकी रक्षाकरनेवाला राजाको प्रजाके पापमेंसे छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यददाति यदर्चति । तस्य षड्भागभाग्राराज्यं सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥ रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् । यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

अर्थ—जो कोई मनुष्य जप यज्ञ दान देवताका पूजन आदि करता है उस करनेवालेके कियेहुयेमेंसे छठे भागका भागी रक्षाकरनेसे राजा होता है इसमें कोई तरहका संदेह नहीं है ॥ ३०५ ॥ धर्मसे प्रजाकी रक्षा करता हुआ और मारनेके योग्य चोर आदिकोंको मारता हुआ राजा दिनदिनके प्रति लक्ष रुपैयेकरके युक्त दक्षिणावाली यज्ञके फलकी समान फलको प्राप्त होता है ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः । प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ अरक्षितारं राजानं बलिष-

इभागहारिणम् । तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥३०८॥

अर्थ—जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता हुआ अपनी उगाही आदिवलिको या करको या महीनोंके प्रति दंडको लेते हैं वे राजे मरके शीघ्रही नरकमें जाते हैं ॥ ३०७ ॥ जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता है और बलीको अर्थात् अन्न-के छोटे भागको लेता है उस राजाको संपूर्ण संसारके संपूर्ण पापोंका भागी कहते हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् । अरक्षितारमत्तरं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९॥ अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः । निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

अर्थ—जो राजा शास्त्रकी मर्यादाको त्याग देवे और नास्तिक होवे और अनुचित दंड आदिकरके धनको लेनेवाला ब्राह्मणको क्लेश देनेवाला प्रजाकी रक्षा न करनेवाला कर लेनेवाला ऐसे राजाको नरकगामी जानना चाहिये ॥ ३०९ ॥ अधर्मी चोर आदि दुष्टोंको तीन उपायोंसे जतनकरके राजा ग्रहण करे रोकने-करके या बांधनेकरके या अनेक प्रकारके हाथ पैरछेदन आदि मारनोंकरके निश्चै दुष्टोंको दंड देवे ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च । द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥ क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्पिणां नृणाम् । बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

अर्थ—दुष्ट पापियोंको दंड देनेसे और साधुओंकी रक्षा करदेनेसे राजा निरंतर पवित्र होते हैं जैसे द्विजाति यज्ञोंके करनेसे पवित्र होते हैं तैसे ॥ ३११ ॥ अपने दुःखको कहते हुये कार्यार्थि प्रत्यर्थी मनुष्योंके अर्थ राजाको क्षमा करनी योग्य है और अपने हितको करते हुये बालक वृद्ध रोगी इन्हींके अर्थभी क्षमा करनी योग्य है ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यातैस्तेन स्वर्गे महीयते । यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥ राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता । आचक्षाणेन तस्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—जो राजा दुःखी हुये मनुष्योंकरके तकलीफ दियाहुआभी क्षमा करता

है वह राजा स्वर्गमें पूजाको प्राप्त होता है और जो राज्य ऐश्वर्यके अभिमानसे क्षमा न करते हैं वे नरकमें जाते हैं ॥ ३१३ ॥ जो ब्राह्मणके सुवर्णको हरलेवे तो उस चोरको अपने केश खोलके राजाके पास जाके यह कहना चाहिये कि मैंने ब्राह्मणका सोना हरा है इससे आप मुझको शिक्षा देनेके योग्य हैं ॥ ३१४ ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लघुदं वापि खादिरम् । शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥ शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते । अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

अर्थ—कांधेपर मुसलधरके या खैरका सोटा, दोनों तर्फसे पैनी वरछी या लोहाका दंड इनको लेके राजाके समीप जाके यह कहै कि मैं ब्राह्मणके सुवर्णको हरनेवाला हूं मुझको इस दंडसे शिक्षा दो ॥ ३१५ ॥ शासनसे अर्थात् एकवार मुसलके मारनेसे प्राण निकसजावे तो या राजा जीवतेहीको छोड़दे तो ऐसा मनुष्य चोरभी चोरीकेपापसे छूटजाता है और जो राजा उसको दंड न देवे तो चोरके पापको प्राप्त होवेगा ॥ ३१६ ॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी । गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥ ३१७ ॥ राजनि धूर्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

अर्थ—जो भ्रूणहत्यारेके अन्नको भोजन करता है वह उसके पापका भागी होता है और व्यभिचारिणी भार्या अपने पतिकी क्षमाको जार पतिमें देखके अपने पाप पतिमें प्राप्तकर देती है और शिष्य गुरुको और पूजन करनेवाला आचार्यको चोर राजाको क्षमाके करानेसे अपने अपने पाप ये संपूर्ण इस प्रकार देदेते हैं इससे राजोंने चोरको दंड देना अच्छा है ॥ ३१७ ॥ पापोंको करनेवाले मनुष्य राजाके दंडसे पापोंसे छूटेहुये निर्मल होके स्वर्गमें जाते हैं जैसे सुकृत करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष जाते हैं ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्दिद्याच्च यः प्रपाम् । स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥ धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः । शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

अर्थ—जो मनुष्यने रज्जुको या घड़ेको कुवेसे हरता है या पौशराको भेद न करता है वह सोनेका माष संज्ञक दंड देने योग्य है और वह रज्जु घड़ा, लेके कुवेपर धर

देवे ॥ ३१९ ॥ दोशो पलका द्रोण होता है और बीस द्रोणका कुंभ होता है इस प्रकार दश कुंभोंसे ज्यादा अन्नको जो चोरता है उसको अन्नवालेके नुकसानके अनुसार ताडना देनी चाहिये या चोरीके अनुसार मारना अंग छेदनादि करे और पीछे फिर एकसे लेके दशकुंभपर्यंत हरे तो चोरेहुए अन्नसे ग्यारह ११ गुण दंड देवे और अन्न धनवालेका धन तिसके मालिकको देदेवे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः । सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषे त्वेकादशगुणं मूल्यादण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जैसे अन्नके हरनेवालेको वध करना कहा है तैसेही तोलके समय घड़ीके उड़ानेमें या सौना चांदि आदिके हरनेमें या उत्तम वस्त्रके हरनेमें सौसे अधिक पशु आदिके हरनेमें मारना आदि दंड देना ॥ ३२१ ॥ और जो पचाससे ऊपर चोरे तो उसके हाथ छेदन करादेवे ऐसा मनुआदिकोंने कहा है और शेष जो एक पलसे लेके पचाश पल सौना आदिके हरमें हरे हुये धनसे ग्यारह ११ गुणा दंड देवे ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः । मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥ महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें जन्मे हुये पुरुष और विशेषकरके उत्तम कुलमें जन्मीहुई नारी और वैदूर्य हीरा आदि श्रेष्ठ रत्न इन सबको हरनेवाले मनुष्योंको मारना योग्य है ॥ ३२३ ॥ बड़े पशुओंके हरनेमें अर्थात् हाथी अश्व गौ महिषी आदिके और खड्ग आदि शस्त्रोंके और घृत आदि औषधोंके हरनेमें दुर्भिक्ष अकालको देखके और अच्छे बुरे प्रयोजनको देखके राजा ताडना अंगछेदन आदि दंड देवे ३२४

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु हूरिकायाश्च भेदने । पशूनां हरणे चैव सद्यः कर्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥ सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च । दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥ वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च । मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥ मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च

घृतस्य च । मासस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥
 अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्यच । पक्वान्नानां च सर्वेषां त-
 न्मूल्याद्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु
 च । अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥

अर्थ—ब्राह्मणकी गौ हरलेवे और बंध्या गौको वाहनेके अर्थ नाकछेदन क-
 रादेवे या पशुओंके हरनेमें तत्पर होवे ऐसे मनुष्यका शीघ्र पैर छेदन करादेवे
 ॥ ३२८ ॥ ऊर्णा आदि सूत्र कपाससे होनेवाला सूत्र और मदिराका बीज गोम-
 य गुड दही दूध तक्र पानी तृण वांसके टुकड़ोंसे बनाये भांडे नौन मिट्टीके व-
 रतन मिट्टी भस्मी मच्छी पक्षी तेल घी मांस मधु और मृगकी चाम खड्ग शींग
 और इनसे आदि लैके भोजनके योग्य अन्न पका अन्न इन सबके चोरनेमें मो-
 लसें दुगुणा दंड देना चाहिये ॥ ३२९ ॥ पुष्प हरे अन्न गुच्छ वेल वृक्ष अन्य और
 बहुतसे वृक्ष इन्हींके हरनेवालेको पांचकृष्णलसंज्ञक दंड देवे ॥ ३३० ॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च । निरन्वये शतं दण्डः सान्व-
 येऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥ स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृत-
 म् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

अर्थ—खेतमें सिरटी आदिकोमे पके हुये अन्न और शाक मूल फल इनको
 विना संबंधी हरनेवाले मनुष्यको शौपण दंड देवे और संबंधीको पंचाशपण दंड
 देवे ॥ ३३१ ॥ जो बलसे अन्नवालेके आगे अन्न हरना आदि कर्म करे है उसे
 साहस कहते हैं क्योंकि चोरी विना संबंधीकी होती है और जो हरके निकलजावे
 उससेभी चोरी कहते हैं इससे उसे चोरका दंड न देना ॥ ३३२ ॥

यस्त्वेतान्युपकृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः । तमाद्यं दण्डयेद्राजा
 यश्चाग्निं चोरयेद्बृहात् ॥ ३३३ ॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृपु
 विचेष्टते । तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य इन उपकृप्त द्रव्योंको चोरता है और तो अग्निके स्थानसे
 अग्निहोत्रादिमें मिली हुई तिनों अग्नियोंको चोरता है उसे राजा प्रथम साहस
 दंड देवे ॥ ३३३ ॥ जिस जिस अंगकरके और जिस जिस प्रकारकरके चोर म-
 नुष्यमें जानाजावे उसका उसी उसी अंगको राजा प्रसंग दूर करनेके अर्थ छेद-
 न करादेवे ॥ ३३४ ॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः । नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥ कार्षापणं भवेदण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः । तत्र राजा भवेदण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥

अर्थ—पिता आचार्य प्यारा माता भार्या पुत्र पुरोहित इन्नोंके मध्यमें जो अपने स्वधर्ममें नहीं स्थित रहते हैं उनको राजा दंड निश्चै देवे ॥ ३३५ ॥ जिस अपराधमें अन्य मनुष्य कार्षापण दंड देने योग्य हों उस अपराधमें राजाको सहस्रपण दंड देना योग्य है अपने अर्थ किये दंडको राजा जलमें प्रवाह करे या ब्राह्मणोंको देवे ॥ ३३६ ॥

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् । षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् । द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तदोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

अर्थ—चोरीके गुण दोषको जाननेवाले शूद्रको चोरीमें आठगुना पाप है और दोष जाननेवाले वैश्यको सोलागुना क्षत्रीको बत्तीसगुना इस प्रकार पाप जानना ॥ ३३७ ॥ चोरीके गुण दोष जाननेवाले ब्राह्मणको चौंसठगुना दोष या पूरा शौगुना या एकसौ अठाईस गुणा ब्राह्मणके गुण अपेक्षासे जानना ॥ ३३८ ॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वण्यर्थं तथैव च । तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥ योऽदत्तादायिनो हस्तालिप्सेत ब्राह्मणो धनम् । याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

अर्थ—विना रोके वृक्षोंके मूल फल पुष्प और होमकी अग्निके अर्थ काष्ठ गौओंके चरनेके अर्थ तृण इन्नोंके लानेमें मनुजी चोरीका दोष नहीं कहते भये ॥ ३३९ ॥ अदत्त आदायि अर्थात् चोरके हाथसे जो ब्राह्मण धन लेनेकी इच्छा करता है याजन अध्यापन प्रतिग्रहसेभी वह ब्राह्मण जैसा चोर है तैसाही है अर्थात् उसे चोरकेसमान दंड देना योग्य है ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके । आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥ असंधितानां संधाता संधितानां च मोक्षकः । दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—द्विजाति जो यदि मार्गमें चलाजाता हो और पासमें भोजन न हो तो

दूसरेके खेतमेंसे दोऊंपके गंडे या दो मूली लेता हुआ दंड देनेको नहीं योग्य है ॥ ३४१ ॥ जो दूसरे मनुष्यके नहीं बंधे हुये अश्व आदिक पशुओंको अभिमानसे आप बांध लेते हैं या दूसरेके बंधे हुये पशुओंको खोल देता है और दास घोड़ा रथ इनको जो हरलेता है उसे चोरकी तुल्य दंड देना योग्य है और वह बड़े छोटे अपराधके अनुसार मारणा अंग छेदन करना धन आदि हरलेना इत्यादिक दंड देनेके योग्य है ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् । यशोऽस्मिन्प्राप्तु-
यालोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥ ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेत्सुर्य
शश्चाक्षयमव्ययम् । नोपेक्षेतक्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ३४४

अर्थ—इस विधिसे राजा चोरोंको दंड करता हुआ इस लोकमें यशको प्राप्त होवेगा और परलोकमें जाके उत्तम सुखको भोगेगा ॥ ३४३ ॥ संपूर्ण राजाओंका इंद्र होनेकी इच्छा करनेवाला और कभी जिस यशका नाश न होवे ऐसा अव्यय यशकी इच्छा करनेवाला राजा जो मनुष्य बलसे दूसरेके घरको दग्ध कर दे या दूसरेके धनको बलसे लेवे ऐसे साहसकारी मनुष्यको क्षणभी न देख सके ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः । साहसस्य नरः कर्ता
विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥ साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति
पार्थिवः । स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा खोटी वाणी बोलता है और चोर होता है जो दंडसे प्राणियोंको मारता है इन सबसे साहसको करनेवाला मनुष्य अधिक पापी जानना ॥ ३४५ ॥ जो राजा साहसकरनेवाले मनुष्यके अर्थ क्षमा करता है वह शीघ्रही नाशको प्राप्त होता है और राज्यके वशनेवाले मनुष्योंसे वैरको प्राप्त होता है ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् । समुत्सृजेत्साहसि-
कान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो
यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ३४८

अर्थ—जो साहसके करनेवाले मनुष्य संपूर्ण प्राणियोंको भय देते हैं उन मनुष्योंके पीछे मित्रताके वचनोंसे या बहुत धनके लांच देनेसे उनको कभी न छोड़े निश्चय दंड देवे ॥ ३४७ ॥ जहां धर्म नष्ट होता हो वहां द्विजातिको शस्त्र ग्रहण क-

करना योग्य है और जिससमय आपत्कालके योगसे अपना धर्म नहीं किया जाता है वे उस समयभी शस्त्रोंको धारण करे ॥ ४४८ ॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ
च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं
वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

अर्थ—तथा अपनी रक्षाकेवास्ते तथा राज्यके अभावमें स्त्री पुरुष सब आपस-
में युद्धकरनें लग जावे उस समय वा स्त्री ब्राह्मण गौ इनकी रक्षाकेवास्ते द्विजाति
पुरुष जो यदि शस्त्र धारणकरके किसीको मारता है उसको कुछ दोष नहीं है
और राजा उसको दंडभी न देवे ॥ ३४९ ॥ गुरु बालक वृद्ध वेदपाठी बहुश्रुत
ब्राह्मण इनको मारनेकेवास्ते आवते हुए पुरुषको बिना विचार कियेहुए
मार देवे ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं
वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥ परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्
न्महीपतिः । उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

अर्थ—आततायी अर्थात् सब जनोंके सन्मुख अथवा एकांतमें किसीके वधको
जो किया चाहता है उसके मारनेमें कछुभी दोष नहीं है क्योंकि मारनेवालेका
क्रोधाभिमानी देवता तिस हनन होनेवालेके क्रोधको प्राप्त हो जाता है ॥ ३५१ ॥
पराई स्त्रियोंके संग मैथुनकरनेमें प्रवृत्त हुए मनुष्योंको राजा उद्वेजन करानेवाला
अर्थात् होठ नाक कान आदि काटनेका दंड देवे फिर अपने देशसे निकला देवे ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः । येन मूलहरोऽधर्मः
सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥ परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां यो-
जयन् रहः । पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

अर्थ—परस्त्रीके संग मैथुनकरनेसे वर्ण संकर पुत्र उत्पन्न होता है और तिस वर्ण-
संकरसे धर्मका मूल छेदन हो जाता है वह मूलसे छेदन हुआ धर्म जगत्के नाश
केवास्ते कहा है ॥ ३५३ ॥ कोई पुरुष पराई स्त्रीके साथ एकांतमें अयोग्य वचन
बोलता हुआ तथा पहलेके उत्पन्न हुए दोष अथवा अपवादोंको स्त्रीसे प्राप्त हु-
आ जो हो वह पुरुष पूर्वसाहस दंडको प्राप्त होनेको योग्य है ॥ ३५४ ॥

यस्त्वननाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् । न दोषं प्राप्नुयात्कि-

अन्नं हि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥ परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽर-
ण्ये वनेऽपि वा । नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

अर्थ—जो पुरुष पहले तिस स्त्रीके प्रार्थना अभिशाप आदि दोषोंको नहीं प्राप्त है वह जो उसके साथ किसी कारणसे सब मनुष्योंके सामने बतलावे तो कुछभी दंडको प्राप्त नहीं होगा और उसका कुछभी दोष नहीं है ॥ ३५५ ॥ जो पुरुष जल भरनेके मार्गमें निर्जन देशमें अथवा वृक्ष लता आदिसे युक्त वनमें तथा नदियोंके संगमें किसीकी स्त्रीके साथ बतलाता है और पहले उससे कुछ दोष-
कोभी प्राप्त नहीं है तोभी वह संग्रहण अर्थात् हजार पण दंड प्राप्त होनेको योग्य है ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् । सह खट्वासनं चैव
सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्ष-
येत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

अर्थ—माला गंध चंदन आदिसे परस्त्रीका उपचार करना तिसके साथ क्री-
डा करनी वा उसके वस्त्र आभूषणोंका स्पर्श कर शय्या आसनपे उस स्त्रीके साथ बैठना यह सब संग्रहण कहाता है अर्थात् इसमें पूर्वोक्त दंड देवै ॥ ३५७ ॥ जो पुरुष स्त्रीकों एकांत जगहमें कुच आदिकी जगह पकड़े अथवा जो उस स्त्रीसे स्पर्श किया हुआ पुरुष आप सह जावे तहां आपसमें अंगीकार मिलाप होनेमें संपूर्ण संग्रहण कहा है ॥ ३५८ ॥

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति । चतुर्णामपि वर्णानां
दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥ भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः
कारवस्तथा । संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

अर्थ—शूद्र जो बिना इच्छावाली ब्राह्मण आदिसे संग्रहण करता होवे तो वह प्राणों-
समेत मारनेके दंडको योग्य है और चारोंवर्णोंको धन पुत्र आदिकोंसे अपनी स्त्रियोंकी सदा अत्यंत रक्षा करनी चाहिये ॥ ३५९ ॥ भिक्षा मांगनेवाले भिक्षु-
क स्तुति करनेवाले बंदीजन यज्ञार्थ दीक्षित पुरुष सर्पकार आदि जन ये सब पुरुष पराई स्त्रियोंके साथ अपने मतलबकेवास्ते प्रीतिरहित होके बतलावे ॥३६०॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धो भाषमा-
णस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥३६१॥ नैष चारणदारेण विधिर्नात्मो-

पजोविष्णु । सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

अर्थ—स्वामीसे वर्जा हुआ पुरुष स्त्रियोंके साथ संभाषण न करे और उसके पतिसे वर्जा हुआभी जो उस स्त्रीके साथ बतलावे तो वह सोलहमासे सुवर्णके दंड देनेको योग्य है ॥ ३६१ ॥ पराई स्त्रीके साथ नहीं बतलावे यह निषेध विधि नट आदि जातियोंकी स्त्रियोंका नहीं है और जो स्त्रीसेही आजीविका करते हैं उनकी स्त्रियोंका निषेध नहीं क्योंकि वे नट गायक आदि अन्य पुरुषोंको बुलाके अपनी स्त्रियोंके साथ एकांतमें रमण करवाते हैं ॥ ३६२ ॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् । प्रैष्यासु चैक-

भक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥ योऽकामां दूषयेत्कन्यां स

सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

अर्थ—तिन नट आदिकोंकी स्त्रियोंके साथ एकांत वन आदिमें बतलाता हुआ पुरुषको राजा थोडासा दंड देवे और नियमसे रहित हुई दासियोंके साथ तथा ब्रह्मचारिणी स्त्रियोंके साथभी एकांतमें बतलातेहुए पुरुषको थोडासा दंड देवे ॥ ३६३ ॥ जो बिना इच्छाकरनेवाली कन्याके संग जबर्दस्तीसे मैथुन करता है वह ब्राह्मणसे अन्य होवे तो मरवादेना चाहिये और जो सजीव पुरुष इच्छावाली कन्याके संग मैथुन करता हुआ पुरुष वधकरनेके योग्य नहीं है ॥ ३६४ ॥

कन्यां भजंतीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् । जघन्यं सेवमानां

तु संयतां वासयेद्बृहे ॥ ३६५ ॥ उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधम-

र्हति । शुल्कं दद्यात्सेवमानः समाभिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

अर्थ—उत्तम जातिके पुरुषको प्राप्त होती हुई कन्याको कलुभी दंड न देवे और नीच जातिके पुरुषको सेवती हुई कन्याको यतन करके बंद कर देवे ॥ ३६५ ॥ उत्तम कन्याके संग रमण करता हुआ नीच पुरुष मारण आदि वध करनेके योग्य है और समान जातिकी कन्याके संग मैथुन करता हुआ पुरुष जो यदि उस कन्याका पिता मानें तो उसको शुल्करूपी द्रव्य दे देवे फिर कलु दंड देनेको योग्य नहीं है और वह कन्या उसीको विवाह देनी चाहिये ॥ ३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्यादपेण मानवः । तस्याशु कर्त्ये अंगु-

ल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगु-

लिच्छेदमाप्नुयात् । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

अर्थ—जो पुरुष हठकरके अभिमानसे कन्याकी योनिमें अंगुलि प्रक्षेप करके दूषितकर देवे उसकी दोनों अंगुली कटवा देवे और छहसौ ६०० पण दंड देवे ॥ ३६७ ॥ और इच्छावाली कन्याको अंगुलिसे दूषित करता हुआ पुरुष अंगुली कटवानेके दंड देनेको योग्य नहीं है किंतु उसकी अत्यंत संग होनेकी निवृत्तिकेवास्ते दोसौ २०० पण दंड देवे ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः । शुल्कं च द्वि-
गुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्तुयाद्दश ॥ ३७९ ॥ या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री
सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति । अंगुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ३७०

अर्थ—जो कन्याही दूसरी कन्याको अंगुलीसे दूषित करदेवे तो उसको दो-
सौपण दंड देवे और उसके पिताके पिताको शुल्कका दुगुना मूल्य कसूरवाली
कन्यासे दिवावे और दशवेत लगवाना चाहिये ॥ ३६९ ॥ जो स्त्री कन्याको
अंगुली प्रक्षेपसे दूषित करती है तिस स्त्रीको मुंडमुंडाके उसी समय गधापर च-
ढाके मार्गमें निकासे अथवा उसकी अंगुलियोंकोही कटवा देवे ॥ ३७० ॥

भर्तारं लंघयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता । तां श्वभिः खादयेद्राजा
संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त
आयसे । अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—जो स्त्री अपने पिता बंधु भाई आदिकोंके गुणके गर्वसे अपने पतिके
कहनेमें नहीं रहती है उसको राजा बहुतसे मनुष्योंके सामने कुत्तोंको लगाके
खवावे ॥ ३७१ ॥ पहले कहेहुए पापकारी जारपुरुषको तप्त लोहेकी शय्यामें
सुवाके दग्ध करे और जलनेके समय तहां उसके ऊपर इतना काष्ठ गिरवा देवे
कि जिस्से वह पाप करनेवाला पुरुष भस्म होजावे ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः । व्रात्यया सह संवासे
चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥ शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं व-
र्णमावसन् । अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

अर्थ—वर्ष दिनसे खराब होता हुआ वा परस्त्रीकेसंग रमण करनेसे दूषित हु-
आ पुरुषको पहले कहे हुयोंसे दुगुना दंड देवे और व्रात्य जातिकी स्त्रीकेसंग
गमन करनेवाला वा चांडालीकेसंग गमन करनेवाला पुरुष जो वर्ष दिन व्यतीत
हुयेंतक खराब होवे तो उनकोभी पूर्वोक्त दंडसे दुगुना दंड देवे ॥ ३७३ ॥ शूद्र

जो यदि भर्त्तादिकोंसे रक्षितकी हुई वा विना रक्षितकी हुई स्त्रीके संग गमन करे तो विना रक्षितकी हुईके संग गमन करनेमें लिंग कटवा देवे और संपूर्ण धन हर लेवे और रक्षितकी हुईके संग गमन करनेमें राजा उसके सर्वस्व धनको हर लेवे ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः । सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ । वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

अर्थ—वैश्य जो ब्राह्मणीके संग वर्षदिनसे अधिक समयतक मैथुन करे तो उसका सर्वस्व धन हर लेवे और क्षत्रियको हजार पणोंका दंड देवे और गधाके मूत्रसे इस क्षत्रियका मुंडन करवा देवे ॥ ३७५ ॥ विना रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग जो वैश्य क्षत्रिय मैथुन करते हैं उनमें वैश्यको पानसौ ५०० पणोंका दंड देवे और क्षत्रियको हजार पण दंड देवे ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह । विष्णुतौ शूद्रवदण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥ सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रो बलाद्भजन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥

अर्थ—पति आदिकोंसे रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग गमन करनेवाले वैश्य क्षत्रिय इन दोनोंकोही शूद्रकी तरह सर्वस्व धनके हरनेका दंड देवे अथवा इनके कंठको बांधके दग्धकर देवे ॥ ३७७ ॥ रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग बलसे मैथुन करनेवाला ब्राह्मण हजार पण दंड देनेके योग्य है और इच्छा करती हुईके संग एकवार मैथुन करनेवालाको पानसौपण दंड देवे ॥ ३७८ ॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते । इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥ न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥

अर्थ—ब्राह्मणके शिरका मुंडन करवा देना यही शास्त्रमें उसका प्राणांत दंड कहा है और क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंका दोष होनेमें उनके प्राणोंका वध करवाना वा दोषके अनुसार अंग कटवाना आदि दंड कहा है ॥ ३७९ ॥ संपूर्ण पापोंमें स्थित हुएभी ब्राह्मणको कभी नहीं मारे किंतु संपूर्ण धनसे युक्त और शरीरकी ताड़नासे रहित हुए इस ब्राह्मणको अपने देशसे निकलवा देवे ॥ ३८० ॥

न ब्राह्मणवधाद्भयानधर्मो विद्यते भुवि । तस्मादस्य वधं राजा म-

नसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥ वैश्यश्चेत्क्षत्रिया गुप्ता वैश्या वा
क्षत्रियो व्रजेत् । यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके वधसे अधिक पाप पृथ्वीमें कोई नहीं है इसवास्ते इस ब्राह्मणके वधको राजा मनसेभी चिंतवन नहीं करे ॥ ३८१ ॥ वैश्य जो रक्षितकी हुई क्षत्रियाके संग गमन करे और क्षत्रिय वैश्यकी स्त्रीके संग गमन करे तो जो बिना रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग गमन करनेमें इनको दंड देना कहा है वही दंड देवै ॥ ३८२ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः
साहस्रो वै भवेदमः ॥ ३८३ ॥ क्षत्रियायामगुप्ताया वैश्ये पञ्चशतं
दमः । मूत्रेण मौण्डयमिच्छेत् क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

अर्थ—रक्षितकी हुई वैश्यकी स्त्री तथा क्षत्रियकी स्त्रीके संग मैथुन करनेवाला ब्राह्मण हजार पण दंड देनेको योग्य है और क्षत्रिया तथा वैश्याके संग गमन करनेवाले शूद्रोंको भी हजार पण दंड देवै ॥ ३८३ ॥ बिना रक्षितकी हुई क्षत्रियामें गमनकरनेवाला वैश्य पाँचसौपण दंड देनेको योग्य है और क्षत्रिय जो अरक्षित की हुई तिसके साथ गमन करे तो उसका गधाके मूत्रसे मुंडन करवा देवै अथवा पाँचसौपण दंड देवे ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् । शतानि पञ्च द-
ण्डयः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥ यस्य स्तेनः पुरे
नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् । न साहसिकदण्डघ्नो स राजा
शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

अर्थ—बिना रक्षा की हुई क्षत्रियाके संग वा वैश्याके संग तथा शूद्रकी स्त्रीके संग गमन करता हुआ ब्राह्मणको पाँचसौपण दंड देवै और चांडालीके संग गमन करता हुआको हजारपण दंड देवै ॥ ३८५ ॥ जिसके पुरमें चोर नहीं है और परस्त्रीसे गमन करनेवाला कोई चोर नहीं है और कठोर वचन बोलनेवाला तथा घर जलाने आदि साहसकर्मको करनेवाला वा दंड देनेवाला कोई पुरुष नहीं है वह राजा इंद्रके लोकमें जाता है ॥ ३८६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके । साम्राज्यकृत्सजात्येषु
लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥ ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं

चत्विक्त्यजेद्यदि । शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

अर्थ—चोर आदि इन पाँचोंको अपने राज्यमें निग्रह करता हुआ अर्थात् रोकता हुआ राजा अपने सजातीय राजाओंके मध्यमें उत्तम राज्यकरनेवाला कहाता है और संसारमें यशकरनेवाला होता है ॥ ३८७ ॥ जो राज्य अर्थात् यज्ञकरनेवाला यजमान महापातक आदि रहित अपने कर्मके अनुष्ठानमें युक्त ऐसे ऋत्विक् ब्राह्मणको त्यागता है अथवा वह ऋत्विक् ब्राह्मण उस यथोक्त यजमानको त्यागता है तो उन दोनोंको राजा सौ सौपण १०० दंड देवै ॥ ३८८ ॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्डयः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥ आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः । न विब्रूयानृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

अर्थ—माता पिता स्त्री पुत्र ये सब पोषणपालन आदिसे त्यागनेको योग्य नहीं है और जो इनको विना दोष त्यागता है उसको राजा छह सौपण दंड देवै ॥ ३८९ ॥ गृहस्थ आदि आश्रमोंके अपने जातिके विषयमें विवाद करते हुए द्विजातियोंके धर्मको अपने हितकी इच्छा करनेवाला राजा नहीं कहै ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे । अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ—जो जैसी पूजा करनेके योग्य है उसको तैसेही पूजके फिर राजा अन्य ब्राह्मणोंकरके पहले उनके क्रोधको शांत कर फिर इनका जो धर्म है उसको बोध करवावै ॥ ३९१ ॥ प्रातिवेश्य वह कहाता है जो हमेशा घरमें रहाता हो और अनुवेश्य वह कहाता है जो उस मालिकके साथ घरमें आता है इन दोनों ब्राह्मणोंको जो अन्य वीस २० ब्राह्मणोंको भोजन करवावे तबभी भोजन नहीं करवाता है वह योग्य ब्राह्मणोंको नहीं जिमानेवाला विप्र चांदीके माषक, दंड देनेको योग्य है ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् । तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥ अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः । श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥

अर्थ—विद्यावान् श्रोत्रिय ब्राह्मण जो यदि अपने समान श्रोत्रिय ब्राह्मणको वि-

वाह आदि यज्ञ आदि उत्सवोंमें भोजन नहीं करवाता है वह विप्र उस श्रोत्रिय-
केवास्ते भोजन करने लायकसे दुगुना अन्न देवै और सुवर्णमाषक दंड राजाको
देवै ॥ ३९३ ॥ अंधा बहिरा पांगला सत्तर वर्षसे अधिक वृद्ध ये पुरुष और
श्रोत्रिय विद्वानकी सेवा करनेसे आजीविका करनेवाले पुरुष इनसे क्षीण धन
हुआभी राजा कभी करको नहीं लेवे ॥ ३९४ ॥

श्रोत्रियं व्याधितातौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् । महाकुलीनमार्यं च
राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥ शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नैनिज्या-
न्नेजकः शनैः । न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥

अर्थ—विद्या आचारवाला श्रोत्रिय ब्राह्मण रोगी पुत्रवियोगआदिसे दुःखित
बालक वृद्ध दरिद्री बड़े कुलमें उत्पन्न हुआ उत्तम चरित्रवाला ऐसे पुरुषोंको राजा
दान मान आदिकोंसे सदा पूजै ॥ ३९५ ॥ शालवन वृक्षके कोमल लकड़मे शनै
शनै धोबी वस्त्रोंको धोवे और अन्य किसीके वस्त्रोंपर रखके वस्त्रोंको न धोवे और
एक किसीके वस्त्रोंको दूसरेको पहिननेके वास्ते न देवै और जो यदि ऐसेही करे
तो वह धोबी दंड देनेको योग्य है ॥ ३९६ ॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ॥ अतोऽन्यथा वर्तमानो
दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७ ॥ शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वप-
ण्यविचक्षणाः । कुर्युरर्घं यथापत्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

अर्थ—सूत विननेवाला जुलाहा दशपल अर्थात् आधसेरके अनुमान सूत लेजाके
उसके विननेमें माडमिलाके ग्यारह पल करले आवे अथवा ज्यादै सूत रखके
उस्सेभी कमकर देवे तो राजा उसको बारह पण दंड देवै और वह जुलाहा
सूतके मालिकको प्रसन्न करे ॥ ३९७ ॥ संपूर्ण राजाके महसूलोंको जाननेवाले
तथा संपूर्ण बेचनेकी चीजोंको जाननेवाले चतुर जन जिस चीजको बेचके मोल
उठाता है उसके फाइदेके बीसवां भागको राजा ग्रहण करे ॥ ३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च । तानि निर्हरतो
लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥ शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रय-
विक्रयी । मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

अर्थ—राजाके संबंधकरके जितने बेचनेके द्रव्य हैं हस्ती घोडे आदि जो राजा-
के उपयोगी हैं और निषेधकी हुई जो चीज हैं जैसे दुर्भिक्षमें अन्यदेशमें अन्न मत ले-

जावो ऐसे सब द्रव्योंको अन्य देशमें लोभसे लेजाते हुए वैश्यका राजा सर्वस्व धन हर लेवे ॥ ३९९ ॥ शुल्क अर्थात् जो वैश्य महसूल नहीं देनेके लिये चोरीसे अन्यमार्ग करकरके जाता है अथवा जो रात्रिकेआदि अकालमें बेचता खरीदता है और महसूल देनेकेवास्ते बेचनेके द्रव्यकी थोड़ीसंख्या बतलाता है इन चोरी करनेवालोंको राजा उस मांमूली महसूलसे आठ गुना महसूल लेवे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयाबुभौ । विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्कयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषा प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—यह कितनी दूरसे आयाहै और कितनी दूर जाता है कितने दिनका रक्खा हुआ इसमें क्या नफा नुकसान है ऐसे सब विक्रिय वस्तुओंको विचारके उनका बेचना खरीदना करे किस्से बेचने खरीदनेवालोंको पीडा न होवे ॥ ४०१ ॥ पांचवे पांचवे दिन अथवा पंद्रहवें पंद्रहवें दिन राजा मूल्यको जाननेवाले वैश्योंके आगे विक्रियकी चीजोंके मूल्यको स्थापित करवाता रहे अर्थात् एक मूल्यको कायम करवाता रहे ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् । षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे । पादं पशुश्च योषिञ्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

अर्थ—तुलामान अर्थात् सुवर्ण आदि तोलनेके कांटोंको और सब प्रकारके वाटोंको राजा अच्छे प्रकारसे छे छे महीनेके प्रति देखता रहे चतुर पुरुषोंसे उनकी परीक्षा करवा लेवे ॥ ४०३ ॥ खालीगाडी आदिको पुलके ऊपरकै उतारके लेजानेमें राजा एकपण शुल्क लेवै और बोझालिये हुए पार उतरनेवाला पुरुष आधापण महसूल देवै गौ आदि पशु स्त्री इनसे चौथाई पण लेवे खाली पुरुषके पार जानेंमें पणका आठवां हिस्सा शुल्क लेवे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥ दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् । नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥

अर्थ—वरतनोंसे भरी हुई गाडीको पार उतारनेमें उस मालकी कीमतके अनुसार किरावालेवे और खालीवरतन तथा कंबल आदिकोंको लिये पार उतरने-

वाले पुरुषोंसे थोड़ा महसूल लेवे और जो दरिद्री होवे उक्त महसूलको न दे सकें उनसे कुछ थोड़ासा महसूल लेवे ॥ ४०५ ॥ यह पार उतरनेका क्रम नदीके तीरपै कहा है और जो दूरतक नावमें बैठके गमन किया जावे तहां वर्षाआदि कालके अनुसार किरावा लेवे यह क्रमभी नदीके तीरपै है, जहाज आदिमें बैठके समुद्रके पार उतरनेमें जैसा उचित हो वैसा किरावा लेवे ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥ यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः । तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥

अर्थ—दोमहीनोंके गर्भसे आदि ले गर्भिणी स्त्री संन्यासी मुनि ब्रह्मचारी ब्राह्मण ये सब नदीके पार उतरनेमें किरावा न देवें ॥ ४०७ ॥ नौकामें बैठनेवाले मनुष्योंका जो कुछ मलाहके अपराधसे द्रव्य नष्ट हो जावे उस द्रव्यको संपूर्ण मलाह मिलके अपने अपने हिस्सेसे इकट्ठा करके देवे ॥ ४०८ ॥

एष नैयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः । दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च । पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

अर्थ—यह नौकामें चलनेवाले मनुष्योंके व्यवहारका निर्णय कहा है जो मलाहके अपराधसे जलमें डूबजावे द्रव्य उसका दंड लेना और दैवकी मरजीसे वायु आदिके हलानेसे नौकाके टूटनेसे नष्ट हुआ धनके अर्थ मलाहोंको दंड नहीं देना चाहिये ॥ ४०९ ॥ वणज खेती पशुओंकी रक्षा इन कर्मोंको राजा वैश्योसे करावे और द्विजातियोंका दासकर्म शूद्रसे करावे और इनकर्मोंको दोनों न करे तो राजा दोनोंको दंड देवे ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ विभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥ दास्यं तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् । अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥

अर्थ—आजीविकाके विना दुःखित हुए क्षत्रियको तथा वैश्यको ब्राह्मण कुटिलतासे रहित होके पोषण करे और अपने घरके कर्म करवाता रहै ॥ ४११ ॥ संस्कार किये हुए द्विजोंको जो ब्राह्मण लोभकरके दास बना लेता है और धन आदिके ऐश्वर्य गर्वसे उनसे पैर दबवाने आदि टहैल करवाता है उसको राजा छहसौपण दंड देवें ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा । दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ
ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥ न स्वामिना विसृष्टोऽपि शूद्रो
दास्याद्विमुच्यते । निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ४१४ ॥

अर्थ—मोलसे खरीदा हुआ अथवा विना खरीदा हुआ शूद्रको दास टहैलवा
बनावै क्योंकि ब्रह्माजीनें शूद्र ब्राह्मणका दासही रचा है ॥ ४१३ ॥ स्वामी ब्रा-
ह्मणसे त्यागा हुआभी शूद्र दासपनेंसे दूर नहीं होता है क्योंकि शूद्रकै दासपना
तो स्वभावसेही है इसवास्ते तिस दासपनेंसे उसको कौन हटा सक्ता है ॥ ४१४ ॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ । पैत्रिको दण्डदासश्च
सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाध-
नाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

अर्थ—युद्धकरनेमें जीता हुआ और भोजन आदिकेवास्ते आया हुआ दासी-
का पुत्र मूल्यसे खरीदा हुआ अन्य किसीसे दिया हुआ पिताआदिके कमसे स-
दासे दास होता हुआ दंड आदि धनकी शुद्धिकेवास्ते दास हुआ ये सात ७ प्र-
कारके दास है ॥ ४१५ ॥ स्त्री पुत्र दास ये तीनों मन्वादिकोनें निर्धन कहे है
क्योंकि ये तीनों जो धनको इकट्ठा करते हैं तो वह धन जिसके वे दास आदि है
उसीका है ॥ ४१६ ॥

विसब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्रव्योपादानमाचरेत् । नहि तस्यास्ति कि-
ञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥ वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि
कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥

अर्थ—ब्राह्मण जो शूद्रदाससे धन ग्रहण करता है यह वार्त्ता संभव नहीं है
क्योंकि उस दासपे कुछभी धन नहीं है वह तो उस अपने भर्त्तासेही धनको
ग्रहण करता है ॥ ४१७ ॥ वैश्य पासे खेती आदिकर्म और शूद्रसे सेवा आदि-
कर्म राजा करवाता रहै क्योंकि अपने कर्मसे भ्रष्ट हुए वे दोनों इस जगत्को
व्याकुल कर देते हैं ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च । आयव्ययौ च निय-
तावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥ एवं सर्वानिमान् राजा व्य-
वहारान्समापयन् । व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

अर्थ— राजा दिनदिनप्रति दृष्ट अदृष्ट कर्मोंको और हस्ति अश्व आदि वा-
हनोंको और लाभ खर्च सुवर्ण रत्न आदिकोंकि खधान इन सबको देखता रहै
॥ ४१९ ॥ इस प्रकारसे इन सब व्यवहारोंको समाप्त करनेवाला राजा संपूर्ण
पापोंको दूरकरके परम उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायांसंहिता-
यामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकाया-
मष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः । संयोगे विप्रयोगे च
धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥ अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पु-
रुषैः स्वैर्दिवानिशम् । विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥

अर्थ—धर्ममार्गमें रहनेवाले स्त्रीपुरुषोंके संयोगमें अर्थात् स्त्रीपुरुषोंके साथ
रहनेके और अलग अलग रहनेके सनातन धर्मोंको हम कहते हैं ॥ १ ॥ अपने
पति आदिकोंकरके स्त्रियें सदा आधीन रहनी चाहिये और जो स्त्रियें रूप रस
आदिकमें आसक्त हों उनकोभी उनके पति वगैरै अपने वशमें रखे ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न
स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥ कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्य-
श्रानुपयन्पतिः । मृते भर्तारि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

अर्थ—बालकअवस्थामें स्त्रियोंकी रक्षा पिता करता है और जवान अवस्थामें
भर्ता रक्षा करता है बुढापेमें स्त्रियोंकी रक्षा पुत्रआदिक करते हैं परंतु स्त्रियोंको
अपने आधीन रहना कभीभी योग्य नहीं है ॥ ३ ॥ स्त्रीको ऋतुकाल होनेसे पहले
जो उसका पिता दान नहीं देता अर्थात् विवाह नहीं करता है तो वह निंदित
होता है और विवाह होनेपीछे उसका पति जो ऋतुकालमें उसको ग्रहण नहीं
करता है तो वह निंदित है पतिमरे पीछे जो पुत्र रक्षा नहीं करे तो वह
निंदित है ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः । द्वयोर्हि कुलयोः

शोकमावहेयुररक्षिताः ॥५॥ इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्त-
मम् । यतन्ते रक्षितुं भार्या भर्तारो दुर्बला अपि ॥६॥

अर्थ—थोड़ेसे भी दुस्संगों से स्त्रियों की रक्षा विशेष करके करै क्योंकि विना रक्षित की हुई स्त्रियें पिताके और पति के दोनों कुलोंको संताप देती है ॥ ५ ॥ यह जो सब वर्णोंका स्त्री रक्षण उत्तम धर्म कहा जाता है इसको जाननेवाले दुर्बल पुरुष भी अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेका यतन करे ॥ ६ ॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च । स्वं च धर्मं प्रयत्नेन
जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥ पतिर्भार्या संप्रविश्य गर्भो भूत्वे-
ह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

अर्थ—यतनकरके अपनी स्त्रीकी रक्षा करता हुआ पुरुष अपनी उत्पत्ति श्रेष्ठ व्यवहार कुल आत्मा अपना धर्म इन सबकी रक्षा करता है ॥ ७ ॥ पति वीर्य रूपकरके अपनी स्त्रीके गर्भमें प्रवेश होके फिर पुत्ररूपकरके तिसमें जन्मता है यही स्त्रीका जायापना है अर्थात् स्त्रीकोजाया कहते हैं तिस शब्दका यही अर्थ है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् । तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं
स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥ न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिर-
क्षितुम् । एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकारके पुरुषको स्त्री सेवन करती है वैसेही पुत्रको जनती है इस लिये संतानकी शुद्धिकेवास्ते यतनकरके स्त्रीकी रक्षा करे ॥ ९ ॥ कोई भी पुरुष स्त्रीको हठकरके नहीं रोकसक्ता है किंतु आगे कहेहुए इन उपायोंकरके स्त्रियोंकी रक्षा करनी योग्य है ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् । शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां
च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैरास-
कारिभिः । आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

अर्थ—धनके इकट्ठे करनेमें और खर्चनेमें इस स्त्रीको युक्त करे और शौच शुद्धिमें तथा रसोई बनानेमें वा घरकी सब चीज वस्तुओंके देखनेमें इसको प्रयुक्त करे ॥ ११ ॥ आज्ञा करनेवाले पुरुषोंकरके घरमें रोकी हुई भी स्त्रियाँ रक्षित नहीं

हैं किंतु जो अपने आपको आपही समझाती है वे सुंदर प्रकारसे रक्षित हुई है ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥ नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः । सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

अर्थ—मदिरा आदिका पीना खोटे पुरुषका संग पतिका वियोग जहां तहां भ्रमण वेवक्तमें सोना पराये घरमें वास करना ये छह लक्षण स्त्रीके व्यभिचार आदि दोषसे उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥ ये स्त्रियें उत्तम रूपको नहीं देखती हैं और जवानअवस्थाकाभी नियम नहीं है किंतु सुरूप हो अथवा कुरूप हो पुरुषमात्रसे इनका काम है ॥ १४ ॥

पौंश्चल्याचलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः । रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापति-निसर्गजम् । परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

अर्थ—परपुरुषसे रमण करनेकी इच्छावाले स्वभावसे वा चंचलतासे स्नेहरहित स्वभाव होनेसे यत्नसे रक्षित की हुईभी स्त्री अपने पतिमें विकारको करती है ॥ १५ ॥ ब्रह्माजीकी सृष्टिसे सदासे स्त्रियोंका ऐसा पूर्वोक्त स्वभावको जानके इनकी रक्षाकेवास्ते पुरुष परमयत्न करे ॥ १६ ॥

शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् । द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥ नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः । निरिन्द्रिया ह्यमन्वाश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥

अर्थ—शय्या आसन अलंकार काम क्रोध कठोरता द्रोहभाव निन्दित आचार ये सब मनुजीनें सृष्टिकी आदिमें स्त्रियोंकेहीवास्ते रचे हैं इसवास्ते स्त्रियोंकी यत्नसे रक्षा करे ॥ १७ ॥ स्त्रियोंकी जातकर्म आदि क्रिया मंत्रोंकरके नहीं है यह धर्मशास्त्रकी मर्यादा है और इनको श्रुति स्मृतियोंका अधिकार नहीं है इसवास्ते धर्मकोभी नहीं जानती है और जिनके जपसे पाप दूर हों ऐसे मंत्रोंसे रहित हैं झूठ बोलनेके स्वभाववाली है इसवास्ते इनकी यत्नसे रक्षा करे ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि । स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥ यन्मे माता प्रलुलुभे विचर-

न्यपतिव्रता । तन्मे रेतः पिता वृत्तामित्यास्यैतन्निदर्शनम् ॥२०॥

अर्थ—व्यभिचारमें तत्पर रहना यह स्त्रियोंका स्वभाव कहा इसमें बहुत श्रुतियोंके वाक्य व्यभिचारकी परीक्षाके वास्ते पढ़े हैं और तिन श्रुतियोंमें जो व्यभिचारका प्रायश्चित्त करनेवाली श्रुति है तिसको सुनों ॥ १९ ॥ कोई पुत्र माताका मानस व्यभिचारको जानके कहता है कि मन आदिसे परपुरुषको चाहनेवाली अपतिव्रता मेरी माताका जो परपुरुषके संकल्पसे रज दुष्ट हुआ है तिसको मेरा पिता शोधो यह प्रायश्चित्त दिखाया गया है ॥ २० ॥

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा । तस्यैष व्यभिचारस्य निहवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥ यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि । तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥२२॥

अर्थ—स्त्री जो कुछ भर्ताका अप्रिय चिंतवन करती है और मनकरके परपुरुषका चिंतवन करती है उसके मानस व्यभिचारका यह प्रकृत मंत्र शोधनेकेवास्ते मन्वादिकोंने कहा है यह प्रायश्चित्तमंत्र पुत्रकेवास्ते कहा है ॥ २१ ॥ जैसे गुणवाले पतिकेसंग स्त्री विवाहविधिसे युक्त की जाती है तैसेही गुणवाली होती है जैसे समुद्रकेसाथ नदी अर्थात् मीठी नदीमें जाके क्षारजलवाली होजाती है ॥२२॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा । शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥ एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः । उत्कर्ष योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

अर्थ—अक्षमाला नामवाली स्त्री निकृष्ट योनिमें हुई वसिष्ठकरके संयुक्त पूज्यताको प्राप्त भयी और चटका स्त्री मंदपाल ऋषिकेसंग विवाह होनेसे उत्तमभावको प्राप्त होती भई ॥२३॥ ये और सत्यभामा आदि अन्य स्त्रियें अधम कुलमेंभी उत्पन्न हुई अपने भर्ताओंके उत्तम गुणोंकरके ऊंचे पदको प्राप्त होतीभई ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा । प्रेत्येह च सुखोदकार्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः । स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

अर्थ—यह लोकाचार स्त्रीपुरुषसंबंधी सदा शुभ कहा है अब इस लोकमें और परलोकमें जिसका उत्तरकालमें सुखदायी फल हो ऐसे संतानके धर्मोंको सुनों २५ ये स्त्रियें बड़ा उपकारवाली और गर्भधारणकेवास्ते बहुत कल्याणके पात्ररूप है

वस्त्र अलंकार आदिकोंसे पूजनके योग्य है अपने घरोंमें शोभा करनेवाली हैं और स्त्री श्री अर्थात् लक्ष्मी ये दोनों घरोंमें समान है अर्थात् स्त्री लक्ष्मीरूप है २६

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः
प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा र-
तिरुत्तमा । दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

अर्थ-पुत्रका जनना और जनैहुएकी पालना करनी और दिनदिनप्रति मित्र अतिथि अभ्यागत इनके भोजन आदि लोकाचारका कारण प्रत्यक्ष स्त्रीही है ॥ २७ ॥ संतान उत्पन्न करनी अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य शुश्रूषा अर्थात् टहैल करनी उत्तम रमण पितरोंका और अपना स्वर्ग ये सब स्त्रीकै आधीन है २८

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता । सा भर्तृलोकानाप्नोति
सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके
प्राप्नोति निन्द्यताम् । सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥

अर्थ-जो स्त्री मन वाणी देह इनकरके संपत्तिको प्राप्त हुईभी परपुरुषकेसंग व्यभिचारको नहीं करती वह भर्ताके लोकको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ लोगोंसे साध्वी ऐसी कही जाती है ॥ २९ ॥ स्त्री अन्य पुरुषकेसंग संपर्क करनेसे मनुष्योंमें निंदाको प्राप्त होती है और सियारीकी योनिको प्राप्त होती है तथा पाप-रोगोंसे पीडित होती है (ये दो श्लोक पांचवें अध्यायमें कहभी दियेथे परंतु यहां संतानप्रयोजनके अवसरके बलसे फिर कहे हैं ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महार्षिभिः । विश्वजन्यमिमं पुण्यमुप-
न्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥ भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

अर्थ-पहले होनेवाले मुनिजनोंकरके और मन्वादिकोंकरके पुत्रके उद्देश लेके कहा हुआ जो यह इस जगत्का हितदायक पुण्य कहाजावेगा इसके विचारको तुम सुनो ॥ ३१ ॥ भर्ताका पुत्र होता है यहां भर्ताके विषयमें दो प्रकारकी श्रुति है कई-कतो विना विवाहसे पुत्र उत्पन्न होनेवालेकोभी भर्ता कहते हैं और कईक वि-वाह हुए पतिकोही अन्यके सकाशसे पुत्र होनेमेंभी पुत्रवाला भर्ता कहते हैं ३२

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । क्षेत्रबीजसमायो-

गात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥ विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्वे-
व कुत्रचित् । उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ—स्त्री खेतरूप होती है और पुरुष बीजरूप है सो खेतके और बीजके योग होनेसे संपूर्ण देहधारियोंकी उत्पत्ति कही है ॥ ३३ ॥ कहीं परपुरुषका बीज प्रधान है और कहीं स्त्रीकी योनि प्रधान है जहां ये दोनों समान हों अर्थात् अपने पतिके सकाशसे स्त्रीके पुत्र उत्पन्न होवे वह उत्पत्ति श्रेष्ठ कही है ॥ ३४ ॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते । सर्वभूतप्रसूतिर्हि बी-
जलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥ यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपा-
दिते । तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

अर्थ—बीज और स्त्रीकी योनिरूप खेतके मध्यमें बीजही प्रधान है क्योंकि संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति बीजके लक्षणसेही दीखती है ॥ ३५ ॥ जिस जातिका बीज योग्य समयमें वर्षाकरके संस्कृत कियेहुए खेतमें बोया जाता है उसी जातिका और उसी रंगरूपके समान आकारवाला उस खेतमें उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते । न च योनिगुणा-
न्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥३७॥ भूमावप्येककेदारे कालोत्तानि
कृषीवलैः । नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥

अर्थ—यह भूमि संपूर्ण भूतोंकी सनातन योनि कहाती है और कोईभी बीज भूमिके गुणोंका अपनी पुष्टिमें नहीं करता किंतु अपनेही गुणोंसे बढ़ता है अर्थात् जो गुण उस बीजमें है वही बढ़ते चले जाते हैं ॥ ३७ ॥ एक जमीनके खेतमें कृषीकरनेवालेसे समयमें बोये हुए बीज अपने अपने स्वभावसे अनेक प्रकारके रूपोंवाले होते हैं अर्थात् जमीनके अनुसार रूप नहीं होता बीजहीके अनुसार रूप है ॥ ३८ ॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः । यथाबीजं प्ररो-
हन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नो-
पपद्यते । उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

अर्थ—सांठी चावल शालीसंज्ञक चावल मूग तिल उडद जव लस्सन ऊँख ये सब बीजके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥ अन्य कुछ बोये और अन्य कुछ

उत्पन्न होवे यह संभव नहीं है जो कुछ बीज बोया जाता है वही उत्पन्न होता है इसी तरह मनुष्योंमें भी बीज प्रधान है ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना । आयुष्कामेन वसव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥ अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः । यथा बीजं न वसव्यं पुंसां परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

अर्थ—सो वह बीज पिताआदिकी तरह शिष्ट और ज्ञान विज्ञान शास्त्रोंको जाननेवाला आयुकी इच्छावाला ऐसे पुरुषको पराई स्त्रीमें कभीभी नहीं बोना ॥ ४१ ॥ अतीत कालके जाननेवाले मुनि यहां इस अर्थमें वायुगीता अर्थात् छंद विशेष वाक्योंको कहते हैं कि इसवास्ते पुरुषको परस्त्रीमें बीज नहीं बोना चाहिये ॥ ४२ ॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविद्धयतः । तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पूर्वविदो विदुः । स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जैसे बाणसे बींथा हुआ मृगके छिद्रमें अन्य पुरुष बाण मारता है वह निष्फल है क्योंकि पहलेवार बाण मारनेवालासे हत हुआ मृग कहाता है इसी तरह अन्यकी स्त्रीमें प्राप्त किया हुआ बीज शीघ्रही नष्ट हो जाता है अर्थात् जिसकी स्त्री है उसीका पुत्र कहलाता है ॥ ४३ ॥ अतीत कालको जाननेवाले जन पहले ग्रहणकरनेसे इस पृथ्वीको पृथुकी भार्या कहते हैं और जिसको वृक्ष झाड़ आदिकाटके शुद्ध भूमि बनाई है उसीका वह खेत कहाता है और जिसने पहले बाण मारके मृग हत किया है उसीसे हत हुआ मृगको कहते हैं इसी तरह अन्य पुरुषके सकाशसे भी उत्पन्न हुई संतान पहले विवाह करानेवालेकीही कहाती है ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह । विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते । एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ४६

अर्थ—स्त्री और पुरुषके मिलनेसे संतान उत्पन्न होती है इसवास्ते वेदके जाननेवाले ब्राह्मणलोग ऐसे कहते हैं कि जो पति है वही भार्या कही है और इस भार्यामें जो उत्पन्न होता है वह पतिका पुत्र कहाता है ॥ ४५ ॥ वेचनेसे और

त्यागकर देनेसे स्त्री पतिको नहीं छोड़ती है अर्थात् उसका वह पति छुटना नहीं है ऐसे पहले कहा हुआ ब्रह्माजीके धर्मको हम मानते हैं ॥ ४६ ॥

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते । सकृदाह ददानीति त्री-
ण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥ यथा गोऽश्वोष्टृदासीषु महिष्यजा-
विकासु च । नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—पिता आदिकोंके धनका भागको पुत्र आपसमें एकही वार विभाग क-
रते हैं अर्थात् बांटते हैं और कन्यादान एकही वार किया जाता है और गौ
आदि धनभी किसीकेवास्ते एकही वार दिया जाता है ये तीनों वस्तु श्रेष्ठ पुरु-
षोंसे एकहीवार होती हैं ॥ ४७ ॥ जैसे गौ घोड़ी ऊंटनी दासी भैंस बकरी भेड़
इनमें अपने बैल घोड़ा आदिकोंसे वच्छा आदि संतान उत्पन्न करानेवाला पुरु-
ष उस संतानका भागी नहीं होता ऐसीही पराई स्त्रीमेंभी संतान उत्पन्न करने-
वाला पुरुष उस संतानका भागी नहीं ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः । ते वै सस्यस्य जातस्य
न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनये-
च्छतम् । गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो पुरुष खेतवाले नहीं हैं वे अपने बीजको पराये खेतमें वो देते हैं वे
पुरुष उस उत्पन्न हुए धान्य तृण आदिको कभीभी नहीं ले सकते हैं ॥ ४९ ॥
जो किसीका वृषभ, आंकिल अन्य किसीकी गौओंमें सैंकड़ो वच्छे उत्पन्न कर-
ता है तो वे वच्छे गौओंका स्वामीके हैं और वृषभके मालिकको वह वीर्यसेचन
निष्फल होता है ॥ ५० ॥

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः । कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न
बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥ फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजि-
नां तथा । प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

अर्थ—जैसे गौ आदिकोंके स्वामीके वे वच्छे हैं तैसेही जो पराई स्त्रीमें अपने
वीर्यको छोड़ते हैं वे उस स्त्रीके मालिककाही संतानका लक्षण करते हैं और
बीजवाला संतानके फलको नहीं प्राप्त होता ॥ ५१ ॥ जहां बीजवालेका और
खेतवालेका कुछ नियम नहीं होता है तहां प्रत्यक्षमें खेतवालोंकाही धन है इस-
वास्ते बीजसे योनि अधिक है ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टौ
बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥ ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे
प्ररोहति । क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जहां खेतवालेका और बीजवोनेवालेका ऐसा नियम हो जाता है कि
इस खेतमें जो धन होगा सो हमारा तुझारा दोनोंका है तहां दोनोंका हि-
स्सा देखा गया है ॥ ५३ ॥ जो जलके वेगसे वा वायुके वेगसे दूसरेके खेतमें
बीज उत्पन्न हो जाता है उसका फलभागी खेतवालाही होता है वोनेवा-
ला नहीं ॥ ५४ ॥

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च । विहंगमहिषीणां च
विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥ एतद्वः सारफाल्गुत्वं बीजयोन्योः
प्रकीर्तितम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

अर्थ—यह व्यवस्था गाय घोड़ी दासी ऊंटनी बकरी भेड़ पक्षी भैंस इनकी
योनिमें जाननी चाहिये अर्थात् जहां नियम होगया हो वहां दोनोंकी न
हुआ होतो क्षेत्रवालेकी ॥ ५५ ॥ यह बीजकी और योनिकी प्रधानता और
अप्रधानता अर्थात् सफलता निष्फलता दोनों कही हैं अब इससे आगे आपत्-
कालमें स्त्रियोंके धर्मोंको कहेंगे ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा । यवीयसस्तु या भा-
र्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥ ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवी-
यान्वाग्रजस्त्रियम् । पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ५८

अर्थ—बड़ा भाईकी जो बहू है वह छोटा भाईको गुरुकी पत्नीके समान है
और छोटा भाईकी बहू बड़े भाईको पुत्र वधूके समान कही है ॥ ५७ ॥ बड़ा भाई
छोटे भाईकी स्त्रीके संग और छोटा भाई बड़े भाईकी स्त्रीके संग संतानके अभावके
विनाहीं जो गमन करता है वह पतित हो जाता है ॥ ५८ ॥

देवराट्वा सपिण्डाट्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया । प्रजेप्सिताधिगन्त-
व्यासंतानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वा-
ग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ ६० ॥

अर्थ—संतान नष्ट हो जानेंमें स्त्रीको देवरके सकाशसे अथवा पतिके सपिंडी

पुरुषके सकाशसे मनोवांछित एक संतान उत्पन्न करनी योग्य है ॥ ५९ ॥ विधवा स्त्रीके संग नियोग करनेवाला पुरुष शरीरके घृत लगाके मौन धारणकर रात्रीके समय भोग करे इस प्रकार एक पुत्र उत्पन्न करे ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः । अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥ विधवायां नियोगार्थं निर्वृते तु यथाविधि । गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—नियोगधर्मको जाननेवाले अन्य आचार्य एक पुत्रवाला संतानरहितके समान है ऐसे प्रवादसे नियोगको व्यर्थ जानके स्त्रियोंमें धर्मसे दूसरा पुत्र उत्पन्न करनेको मानते है ॥ ६१ ॥ विधवा आदि स्त्रीमें नियोगका प्रयोजन अर्थात् शास्त्रके अनुसार गर्भधारण हो चुके तब स्त्रीके पतिका बड़ाभाई और वह छोटाभाईकी स्त्री ये दोनों आपसमें गुरुकी तरह और पुत्र वधूकी तरह वर्ते ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः । तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥ नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्

अर्थ—जो छोटा भाईकी स्त्रीके संग वा बड़ा भाईकी स्त्रीके संग नियोग किये हुए पुरुष पूर्वोक्त मौन धारण आदि विधिको त्यागके इच्छा पूर्वक भोग करते है वे पुत्र वधू गुरुपत्नी इनकी शय्यापे प्राप्त होनेवालोंकी तरह पतित हो जाते है ॥ ६३ ॥ और द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनको विधवा स्त्रियोंका अन्य पुरुषके संग नियोग नहीं करना चाहिये क्योंकि स्त्रीका अन्य पुरुषके संग नियोग करनेमे पतिव्रता सनातन धर्मको नष्ट करते है ॥ ६४ ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

अर्थ—विवाह प्रयोजनके मंत्रोंमें नियोग कहींभी नहीं कहा है और विवाहकी विधिमेंभी अन्य पुरुषके संग स्त्रीका फिर विवाह करना नहीं कहा है ॥ ६५ ॥ विद्वान् ब्राह्मणोंकरके यह पशु धर्म अर्थात् नियोग करना निंदित है वे न राजाके राज्यमें यह धर्म मनुष्योंकाभी चलाया गयाथा ॥ ६६ ॥

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे

कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां
स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

अर्थ—वह वेन राजा संपूर्ण पृथ्वीका राज्य करता भया इसवास्ते राजर्षि क-
हागया कुछ धार्मिक न था सो कामातुर हो नष्ट बुद्धि होके भाईकी भार्याके सं-
ग भोगकरके वर्ण संकर धर्म चलाता भया ॥ ६७ ॥ तवसे लेके जो पुरुष अ-
ज्ञानसे विधवा स्त्रीका नियोग संतानकेवास्ते करता है तिसको श्रेष्ठ पुरुष निंदि-
त करते हैं ॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन
निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां
शुचित्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृद्दृतावृतौ ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस कन्याका वाग्दान अर्थात् सगाई करनें पीछे पति मरजावे तिस
कन्याको भर्ताका छोटा भाई इस आगे कहेहुए विधानकरके विवाहै ॥ ६९ ॥
वह देवर यथार्थ विधिसे इसको विवाहके फिर सफेद वस्त्रोंको धारण किये हुए
और पवित्र व्रतको धारण कियेहुए ऐसी इसके संग ऋतुकालके प्रति प्रति एक
एक बार संतान होनेपर्यंत भोग करे ॥ ७० ॥

न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः । दत्वा पुनः प्रयच्छन्
हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥ विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां
विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—एकवार वाग्दान करके पीछे दूसरे किसीकेवास्ते बुद्धिमान् द्विज नहीं
देवे एकको देके फिर दूसरेको देनेवाला पुरुष असत्य भाषणके पापसे युक्त हो-
ता है ॥ ७१ ॥ विधिकरके ग्रहणकी हुईभी निंदित कन्याका त्याग करै और
वैधव्य लक्षणोंकरके युक्त रोगिणी दूषित हुई अधिक अंगवाली छलसेदी हुई
ऐसी कन्याको सप्तपदी कर्म हुए पहलेतक त्याग देवे ॥ ७२ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् । तस्य तद्वितथं कुर्या-
त्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥ विधाय वृत्तिं भार्याया प्रवसेत्का-
र्यवान्नरः । वृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो पुरुष दोषवाली कन्याको बिनाकहे दान देता है तिस दुरात्माका

कन्याको देनेवालेका वह दान निष्फलकर देवे अर्थात् त्याग देवे ॥ ७३ ॥ कार्यवाला पुरुष स्त्रीकेवास्ते भोजन वस्त्र आदिकोंका बंदोबस्तकरके परदेशमें जावे क्योंकि भोजन आदिकोंसे पीडित हुई शीलवालीभी स्त्री दूषित हो जाती है ७४

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता । प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥ प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः

समाः । विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—पति परदेशमें गया हो तब स्त्री शरीरकी सफाई दूसरेके घरों जाना इनको न करे और जो पतिविना बंदोबस्त कियें गया हो तो निंदारहित सूतकातना आदि कामसे अपना गुजरान करे ॥ ७५ ॥ गुरुकी आज्ञा संपादन आदि धर्मकार्यकेवास्ते पर देशमें गया हुआ पतिकी इन्तजारी स्त्री ५ वर्षतक देखे विद्या पढनेकेवास्ते अथवा यशकेवास्ते गया हुआकी ६ वर्षतक और अन्य स्त्रीकी कामना आदिकेवास्ते गया हुआ पतिकी ३ वर्षतक इन्तजारी देखे पीछे जहां पति हो वहां जावे ॥ ७६ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः । ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव

वा । सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

अर्थ—विषम आदिमें द्वेष करती हुई स्त्रीको पति वर्षदिन पर्यंत त्याग देवे जो पीछेभी द्वेष करे तो अलंकार गहिना आदि छीन लेवे और उसके साथ न रहै केवल उसका अन्न वस्त्र मात्रका निर्वाह कर देवे ॥ ७७ ॥ जो स्त्री जूवे आदिके प्रमादवाला तथा मदिरापान आदिसे प्रमत्तका तथा रोगसे पीडित अपने पतिकी सेवाको नहीं करती है वह वस्त्र विभूषण आदि छीनके तीन महीनोंतक त्याग देनी योग्य है ॥ ७८ ॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥ मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला

च या भवेत् । व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंसाऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

अर्थ—उन्मत्त अर्थात् वावला जातिसे पतित नपुंसक बीज रहित कुष्ट रोगवाला, ऐसे पतिसे द्वेष करती हुई स्त्रीका त्याग नहीं करे औ उसके गहिनें आदी भी न छीनें ॥ ७९ ॥ मदिरा पीनेवाली दुष्ट व्यवहारसे रहनेवाली भर्त्तासे विष-

रीत चलनेवाली कुष्ठ आदि व्याधिसे पीडित भृत्य आदिकोंको ताड़ना देनेवाली द्रव्यको निरंतर खर्च करनेवाली ऐसी स्त्री अधिवेत्तव्या है अर्थात् उसके जीवते हुए दूसरी स्त्री विवाहनी योग्य है ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा । एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी । या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः । सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

अर्थ—स्त्रीको पहिले रजस्वला धर्म हो उससे आदि लेके आठ वर्षतक संतान न होवे तो वन्ध्या जानना चाहिये तिसके जीवते हुए दूसरा विवाह करावे और पहिले रजस्वला धर्मसे दश वर्षतक संतान मरे तो मृत प्रजा जाने तबभी दूसरा विवाह करवावे और ग्यारह वर्षतक कन्याओंके जन्मनेसे स्त्री जननी जानें तब अन्य विवाह करावे अप्रिय वादिनी अर्थात् खोटे वचनवालीको शीघ्र त्यागकरके दूसरा विवाह करे ॥ ८२ ॥ जो पतिका हितकरनेवाली और शील स्वभाववाली स्त्रीके रोग हो जावे तो उस अपनी स्त्रीकी आज्ञा लेके दुसरा विवाह करावे और उस अपनी पहिली स्त्रीका अपमान कभी न करे ॥ ८२ ॥

अधि विन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्दुषिता गृहात् । सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥ प्रनिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि । प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानिषद् ॥

अर्थ—जिस स्त्रीका पति दूसरा विवाह कर ले तब प्रथम विवाही वह स्त्री जो उसके घरसे बाहर कही जावे तो उसें जल्दी रज्जू आदिकोसे बाधके रोकदे याकोप दूर हो जावे तब उस स्त्रीको उसके पिताके घरमें राख देवे ॥ ८३ ॥ जो क्षत्रियादिकोंकी स्त्री अपने पतिकरके बर्जा हुईभी विवाहादिकोंमें मदिराको पीती है वा, नाचनेको बहुत मनुष्योंमें जाती है वह स्त्री पहिले कहे सोनेके छः कृष्णल, दंडोंके योग्य है ॥ ८४ ॥

यदि स्वाश्रापराश्रैव विन्देरन् योषितो द्विजाः । तासां वर्णक्रमेव स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥ भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् । स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥

अर्थ—जो द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये अपनी जातिकी या पर जातिकी स्त्रीको विवाहें तो उन स्त्रियोंको मान तथा आनंदके अर्थ बड़ापन,

आभूषण आदिकोंके देना और घरकी मालिकनी, ये सब जाति क्रमसे होवे ८५
अपने पतिके शरीरकी शुश्रूषा और अन्न दान आदि धर्मकार्य, भिक्षादान,
अभ्यागतके पूजन आदि नित्य कर्मोंको सब द्विजातियोंकी सजातीय भार्याही
करे और दूसरी जातीकी कभी न करे ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्थया । यथा ब्राह्मणचा-
ण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥ उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय स-
दृशाय च । अप्राप्तमपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी जातिकी स्त्री समीप होते अपने देहकी परिचर्याको
दूसरी जातीकी स्त्रीसे कराते है वे जैसे ब्राह्मणोंके विषे शूद्रसे जन्माहुआ चांडा-
ल है तैसें है ॥ ८७ ॥ अच्छे कुलका तथा अच्छे आचारवाला और सुंदर रूप-
वाला और अपनी जातिका ऐसे वरको थोड़ी उमरकी कन्याकोभी अर्थात् आठ
वर्षकीकोभी यथाविधिसे विवाह देवे ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्दृहे कन्यर्तुमत्यपि । नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणही-
नाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती
सती । ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अर्थ—उत्पन्न रजस्वला धर्मवाली विना विवाही कन्या मरणपर्यंत जो पिताके
घरमें रहे वोभी श्रेष्ठ है परंतु विद्यादि गुणहीन वरके अर्थ न देवे ॥ ८९ ॥ अप-
नेसे श्रेष्ठ कुलमें विवाह करानेवाली कन्या रजस्वला होकेभी तीन वर्षतक उत्तम
कुलके वरके लिये जतन करे और तिससे पीछे जो अधिक गुणवाला वर न
मिले तो समान जाति और समान गुणवालेसे विवाह करावे ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् । नैनः किञ्चिदवाप्नोति
न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥ अलंकारं नाददीत पित्र्यं
कन्या स्वयंवरा । मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥

अर्थ—पित्रादिकोकरके नहीं विवाही हुई कन्या यदि अपने यथोक्त कालमें
पतिको आपही वर लेवे तो उस कन्याको कुछ दोष नहीं और उसका पतिभी
कुछ पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ ९१ ॥ अपने पतिको आप वरनेवाली कन्या
पतिको वरें पहिलीही पिता माता भ्रातादिकोंके दिये गहानेको उन्हींहीको देदेवे
और उनको नहीं देवे तो चोरनेवाली होवेगी ॥ ९२ ॥

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादति-
क्रामेद्वतूना प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥ त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वा-
दशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

अर्थ—रजस्वला कन्याको विवाहता हुआ वर, कन्याके पिताको शुल्क न देवे
क्योंकि रजस्वला धर्म होनेके पीछे वह पिता कन्याका मालिक नहीं ॥ ९३ ॥
तीस वर्षका पुरुष बारह वर्षकी मनोहारा कन्याको विवाहै और चौबीस वर्षका
पुरुष आठ वर्षकी कन्याको विवाहै इससे अन्यथा करनेमें धर्म विगडता है ॥ ९४ ॥

देवदत्तां पतिभार्या विन्दते नेच्छयात्मनः । तां साध्वीं विभृत्या-
न्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥ प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं
च मानवाः । तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

अर्थ—भगोर्यमासविता पुरंधि इत्यादिक मंत्रोंके उच्चारण होनेसे देवतोंकरके
दीहुई भार्याको पुरुष प्राप्त होता है अपनी इच्छासे नहीं प्राप्त होता है इसवास्ते
देवतोंकी प्रीति करता हुआ तिस सती स्त्रीका सदा पोषण करे ॥ ९५ ॥ गर्भ
ग्रहण करनेके अर्थ स्त्री रची हैं और संतानके अर्थ मनुष्य रचे हैं इसवास्ते स्त्रीपु-
रुषका समान धर्म वेदमें कहा है ॥ ९६ ॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः । देवराय प्रदात-
व्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥ आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं
दुहितरं ददन् । शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जिस कन्याका संबंध होरहाहो और विवाह न हुआ हो उस कन्याका
यदि शुल्क देनेवाला पति मरजावे तो वह कन्या देवरको देनी चाहिये जो
कन्या पसंद करे तो ॥ ९७ ॥ पुत्रीको देता हुआ शूद्रभी शुल्कको नहीं ग्रहण करे
क्योंकि शुल्कको देता हुआ पुरुष कन्याका गुप्तविक्रय करता है ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः । यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुन-
रन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥ नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

अर्थ—यह पहिले होनेवाले श्रेष्ठ पुरुष कभी न करतेथे न इस समयमें करते हैं
कि एक वरको कन्या देके फिर दूसरेको देदेवे ॥ ९९ ॥ पूर्व कल्पोंमेंभी यह

वृत्तांत हमनें कभी न सुना कि शुल्क संज्ञक मोलसे कोई श्रेष्ठ पुरुष पुत्रीको गुप्त बेचताथा ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः । एष धर्मः समासे-
न ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु
कृतक्रियौ । यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

अर्थ—भार्या पतिको मरणपर्यंत धर्म अर्थ काम इनके विषे आपसमें अव्यभि-
चारी होना अर्थात् परस्पर प्रीति रखना यही स्त्रीपुरुषोंका श्रेष्ठ धर्म जानना
चाहिये ॥ १०१ ॥ जिस भार्या पतिका धर्मविवाह हुआ हो उन्होंनेको ऐसा यतन
करना चाहिये कि जिस प्रकार आपसमें व्यभिचार न होवे अर्थात् धर्म अर्थ
काममें जुदाई नहीं होवे ॥ १०२ ॥

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः । आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दाय
भागं निबोधत ॥ १०३ ॥ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

अर्थ—यह भार्या पतिका आपसमें प्रीतियुक्त धर्म तुल्यारे आगे कहा और सं-
तानके न होनेमें संतानकी प्राप्तिभी कही अब पिताआदिके धनका विभागको
सुनों ॥ १०३ ॥ माता पिताके मरनेके पीछे जितने भाई हों वे सब मिलके पि-
ताके धनका बराबर हिस्सा करे क्योंकि मातापिताके जीवते हुये मातापिताके
धनमें पुत्र हिस्सेवाले नहीं और जो अपनी राजीसे विभाग मातापिता करे तो
पुत्रोंका हिस्सा है ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठ एव तु गृहीयात्पितृयं धनमशेषतः । शेषास्तमुपजीवियुर्यथैव
पितरं तथा ॥ १०५ ॥ ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

अर्थ—पिताके संपूर्ण धनको बड़ा बेटा लेवे और छोटे भाई जो बाकी रहे वे
सब बड़े भाईसे भोजन कपडा मात्र लेवे जैसे पिताके सामने रहतेथे तैसेही रहै
॥ १०५ ॥ बड़े पुत्रके जन्म होनेसेही मनुष्य पुत्रवाला होता है और ज्येष्ठ पुत्रके
जन्म होनेसेही पितरोंके ऋणसे छूटजाता है इससे बड़ाही पुत्र संपूर्ण धन लेनेको
योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते । स एव धर्मजः पुत्रः
कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥ पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रा-
तृन् यवीयसः । पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥

अर्थ—जिस पुत्रके जन्मनेसे मनुष्य पितरोंके ऋणका दूर कर देता है और जि-
सके जन्मसे मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है उसीको धर्मसे जन्मा पुत्र कहते हैं
और सब पुत्रकामज है अर्थात् कामसे उनके जन्मोंको कहते हैं ॥ १०७ ॥ बड़ा
भाई छोटे भाईयोंका पुत्रकी तरह पालन करे अर्थात् जैसे पिता पुत्रको पाले
तैसे पालन करे और छोटे भाईभी बड़े भाईको पिताकी समान मानें यही धर्म है ॥८॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः । ज्येष्ठः पूज्यतमो लो-
के ज्येष्ठः सद्भिर्गर्हितः ॥१०९॥ यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव
स पितेव सः । अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बंधुवत् ॥११०॥

अर्थ—धर्म अधर्ममें प्राप्त होके ज्येष्ठ पुत्रही कुलको बढ़ाता है तथा ज्येष्ठही ना-
श करता है इससे धर्ममें वर्तनेवाला गुणवान् पुत्र संसारमें पूजनीय है और
वही श्रेष्ठ पुरुषोंकरके निंदाको नहीं प्राप्त होता ॥ १०९ ॥ जो बड़ाभाई छोटे
भाईयोंसे पिताकी समान वर्ते अर्थात् पिताकी समान पालन करे तो वह ज्येष्ठ
भाई मातापिताके समान पूज्य है और जो माता पिताके समान पोषण न करे
तो वह सब भाइयोंकी समान है ॥ ११० ॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया । पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्मा
र्द्धया पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥ ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च
यद्वरम् ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

अर्थ—इसप्रकार विना हिस्से किए संपूर्ण भाई इकट्ठे रहो या धर्मकी इच्छाकरके
न्यारे न्यारे रहो क्योंकि न्यारे न्यारे होनेसे पंचयज्ञ धर्म बढ़ता है इसवास्ते न्यारा हो-
नाभी धर्मका हेतु है ॥ १११ ॥ बड़े भाईको पिताके धनमेंसे बीसवा हिस्सा जोकि
संपूर्ण धनमें श्रेष्ठ हो वह देना चाहिये और विचलेको चालीसवां भाग देना
और छोटेके अशीवा हिस्सा याने भाग देना और बाकी रहे धनके बराबर
भागकर लेवे ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् । येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां

तेषा स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥ सर्वेषां धनजातानामाददी-
ताय्यमग्रजः । यच्च सातिशयं किञ्चिदशतश्राप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—बड़ा तथा छोटा पुत्र पूर्वश्लोकके अनुसार भाग लेवे और विचले पुत्र जो ज्येष्ठ कनिष्ठके मध्यके है उनका मध्यम भाग होना चाहिये ॥ ११३ ॥ संपूर्ण धनकी वस्तुओंमें जो श्रेष्ठ धन हो उसको बड़ा पुत्र ग्रहण करे और जिस धनमें एकवस्तु अधिक हो उसकोभी बड़ा पुत्र लेवे और दश गौ आदि पशुओंमें जो जो श्रेष्ठ पशु हो उसकोभी बड़ा पुत्र ग्रहण करे यह धर्ममे रहनेवाले गुणवान् पुत्रका क्रम है निर्गुणका नहीं है ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु । यत्किञ्चिदेव देयं तु
ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥ एवं समुद्धृतोद्दारे समानंशा-
न्प्रकल्पयेत् उद्दारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

अर्थ—पूर्वश्लोकमें यह कहा कि दश हिस्सोंमें श्रेष्ठ हिस्सा बड़ा पुत्र पावे सो यह क्रम अध्ययन यानें विद्या पढ़ना आदि कर्मोंकरके संयुक्त छोटे भ्राताओंके वडे भाईका नहीं परंतु यत्किञ्चित् वडे भाईको वेभी अधिक देवें क्योंकि वडेका मान वढनेके अर्थ कछुक अधिक देना योग्य है ॥ ११५ ॥ इस पूर्व कहे प्रकारसे निकाले उद्धारमेंसे भाइयोंके बराबर हिस्से बनावे और उन हिस्सोंमें वचेंको आगे कहेंगे जो क्रम उस प्रकार हिस्से करे ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धततोऽनुजः । अंशमंशं यवीयांस इति
धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥ स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्यु-
भ्रातरः पृथक् । स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥

अर्थ—एक हिस्सा अधिक अर्थात् दो हिस्से बड़ा पुत्र लेवे उससे छोटा पुत्र डेढ हिस्सा ग्रहण करे और बाकी छोटे पुत्र एकएक हिस्सेको लेवे इस प्रकार धर्मकी व्यवस्था है ॥ ११७ ॥ संपूर्ण भाई अपने अपने हिस्सोंमेंसे चौथा चौथा भाग अपनी अपनी बहनोंको देवे न्यारे न्यारे और जो न देवेंगे तो पतित होवेंगे ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् । अजाविकं तु विषमं
ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥ यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पा-
दयेद्यदि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

अर्थ—जो घोड़ा बकरी भेड़ आदि हिस्सेमें अधिक होवे तो उसको छोटे भाई बचके हिस्सा कभी न करें क्योंकि वह भाग बड़ा पुत्रकाही है ॥ ११९ ॥ यदि छोटा भाई बड़े भाईकी भार्यामें पुत्रको उत्पन्न करे तो उसके चाचाके साथ उस पुत्रका हिस्सा समान होना चाहिये यह धर्म व्यवस्था है ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते । पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥१२१॥ पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठाया च पूर्वजः । कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्तमंशयो भवेत् १२२

अर्थ—बड़ा भाईकी स्त्रीमेंहोनेवाला वह क्षेत्रज पुत्रभी पिताकी तरह अधिक भागवाला होवेगा इस शंकाको दूरकरके पूर्वोक्तकोही दृढ़ करते हैं कि क्षेत्रज पुत्र अप्रधान है और प्रधान क्षेत्रवालेका संबंध धर्मके अनुसार यहां नहीं है क्योंकि क्षेत्रीभी पिता पुत्रको उत्पन्न करनेमें प्रधान होता है इसवास्ते पूर्वोक्त प्रकारसे पितृव्यके साथ उस क्षेत्रजका समान भाग करे ॥ १२१ ॥ जो पहिले विवाही स्त्रीका छोटा पुत्र हो और पीछे विवाहीका बड़ा पुत्र होवे तो तहां कैसे विभाग करे यह संदेह हो जावे तो ॥ १२२ ॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥१२३॥ ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशा । ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

अर्थ—प्रथम विवाही स्त्रीमें उत्पन्न होनेवाला जो छोटाभी पुत्र है वह एक बैलको ग्रहण करे और उसके पीछे कनिष्ठसे उत्पन्न हुए बड़े पुत्र एक एक बैलकों लेवे इस प्रकार माताके विवाह क्रमसे ज्येष्ठ यानें बड़ापन है ॥ १२३ ॥ प्रथम विवाही स्त्रीके जन्मा हो और उमरमेंभी सब भाइयोंसे बड़ा हो वह एक बैल पंदरह गौ ग्रहण करे और जो पीछे विवाही स्त्रियोंसे जन्मे हैं वे अपनी माताके छोटा-इके हिसाबसे यथाजोग्य हिस्सा करलेवे ॥ १२४ ॥

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः । न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥१२५॥ जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं स्वब्राह्मण्या-स्वपि स्मृतम् । यमयोश्चैव गर्भेषुजन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

अर्थ—अविशेषकरके समजाति अर्थात् अपनी जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुये पुत्रोंका माताके क्रमसे ज्येष्ठपना नहीं किंतु अपने जन्महीसे ज्येष्ठपना है ॥१२५॥

स्वब्राह्मणाख्य मंत्रकरके इंद्रका बुलाना होता है उसमें प्रथम पुत्रके नामसे कहते हैं कि अमुक नामवालेका पिता पूजन कर्त्ता है यह ऋषियोंने कहा है इसवास्ते पहले होनेवाला ज्येष्ठ पुत्र मुख है तथा गर्भमें दोहोवें तो जन्मसे ज्येष्ठता कही है ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुता कुर्वीत पुत्रिकाम् । यदपत्यं भवेदस्यां
तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥ अनेन तु विधानेन पुरा च-
क्रेऽथ पुत्रिकाः । विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

अर्थ—विना पुत्रवाला इस विधिकरके पुत्रीको पुत्रवाली करे कि विवाहके समयमें जामातृसे यह कहे कि जो इसके पुत्र होगा वह मेरा श्राद्धादिक और्ध्वदै-
हिक क्रिया करानेवाला होगा यह करारकरके विवाह करे ॥ १२७ ॥ पहिले आप दक्षप्रजापति अपने वंशकी वृद्धिके अर्थ इस पूर्व कहे हुए विधानकरके संपूर्ण पुत्रियोंको पुत्रोंवाली आप करताभया ॥ १२८ ॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश । सोमाय राज्ञे सत्कृत्य
प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥ यथैवात्मा तथा पुत्र पुत्रेण दुहिता
समा । तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

अर्थ—प्रसन्न आत्मा वह दक्षप्रजापति गहने वस्त्र आदिकोसे सत्कार करके दश पुत्रियोंको धर्मके अर्थ देताभया और तेरह कश्यपको तथा सताईस औषधियोंके राजाको अर्थात् चंद्रमाके अर्थ देताभया ॥ १२९ ॥ जैसा अपना शरीर है वै-
साही पुत्र होना है क्योंकि वेदमें कहा है आत्माही पुत्र जन्मता है और पुत्रीभी पुत्रहीके समान है इस लिये पिताके समान रूपवाली पुत्रीके जीवते हुए विना पुत्रवाले मरेहुए पिताके धनको पुत्रीके विना अन्य कैसे लेसक्ता है ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः । दौहित्र एव च ह-
रेदपुत्रस्यालिलं धनम् ॥ १३१ ॥ दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य
पितुर्हरेत् । स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

अर्थ—जो माताका धन है वह माताके मरेपीछे पुत्रीहीका भाग है पुत्रोंका नहीं है पुत्ररहित नाना संपूर्ण धनको दौहित्रही ग्रहण करे ॥ १३१ ॥ विना पुत्रवाले नानाके संपूर्ण धनको दौहित्र दोहिताही वे और वह दौहित्रही दोपिण्ड पिताके अर्थ और नानाके अर्थ देवे ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः । तयोर्हि मातापितरौ
संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥ पुत्रिकाया कृतायां तु यदि पुत्रोऽ
नुजायते । समस्तत्रविभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः १३४ ॥

अर्थ-पौत्र और दौहित्रका लोगोंमें कुछ भेद नहीं है धर्मसे क्योंकि तिन पौत्र
दौहित्रोंके माता पिता एकहीके देहसे होते हैं ॥ १३३ ॥ पुत्रिकाके करनेपीछे
अर्थात् यह विचार करलेवे कि इस मेरी पुत्रीके जो पुत्र होवेगा सो मेरा है उ-
सके जो पुत्रिका करनेवालेके जो पुत्र होवे तो तहां उनका समविभाग करना
चाहिये क्योंकि स्त्री पक्षकरके उनको ज्येष्ठता नहीं है ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन । धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरे-
त्तैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥ अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्स-
दृशात्सुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

अर्थ-विना पुत्रवाली पुत्रिका यदि मरजावे तो किसी प्रकारसे उस पुत्रिका-
के धनको तिसका पति विना विचारसे लेवे अर्थात् तहां कुछ विचार करनेका
काम नहीं ॥ १३५ ॥ कृतपुत्रिका विधानवाली या अकृत पुत्रिका विधानवाली
जो समान जातिके पतिसे पुत्रको प्राप्त होवे तो उस पौत्रकरके नानापौत्रवाला
है और वही पिंड देवे तथा धनको लेवे ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रे-
ण ब्रह्मस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥ पुत्राम्नो नरकाद्यस्माच्चायते
पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेवस्वयम्भुवा ॥ १३८ ॥

अर्थ-पुत्रका जन्म होनेसे मनुष्य स्वर्ग आदि लोकोंको प्राप्त होता है और
पौत्रका जन्म होनेसे तिन स्वर्ग आदिक लोकोंमें बहुत कालतक स्थित रहता है
और पुत्रके पौत्रका अर्थात् प्रपौत्रका जन्म होनेसे सूर्यलोकको प्राप्त होता है
॥ १३७ ॥ पुत्राम्नो नरक है उससे पिताको पुत्र तारता है इसवास्ते आपही ब्र-
ह्मानें पुत्र ऐसा कहा है ॥ १३८ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोदपद्यते । दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं
संतारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥ मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रि-
कासुतः । द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

अर्थ—पौत्र और दौहित्रकी लोगोंमें न्यून्य अधिकता नहीं है इससे दौहित्रभी इस मनुष्यको परलोकमें पौत्रकी तरह तारता है ॥ १३९ ॥ पुत्रीका पुत्र पहिले माताको पिंड देवे पीछे नानाको देवे इस प्रकार तीन पिंड देवे ॥ १४० ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः । स हरेत्तैव तद्विक्थं
संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः
क्वचित् । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥

अर्थ—बारह पुत्रमें धनको ग्रहण करनेवाले पुत्रको कहते हैं जिसका दत्तक पुत्र अध्यायनादि संपूर्ण गुणोंसे युक्त हो वह दूसरे गोत्रसे आया हुआ भी औरस पुत्रके होते हुए पिताके धन याहसे हिस्सेको लेवे अर्थात् औरस पुत्रही पिताके धनका मालिक होता है इससे औरसकी समान दत्तक पुत्रका हिस्सा नहीं किंतु छठा भाग देना न्याय है ॥ १४१ ॥ दत्तकपुत्र जन्मनेवाले पिताके गोत्र धनको कभी नहीं प्राप्त होता है और पिंड, गोत्र धनके अनुसार है इसवास्ते जिसके गोत्र धनको लेता है उसीके अर्थ पिंड देवे अर्थात् जो अपने जन्मे हुवे पुत्रको देता है उस पिताका पिंड श्राद्धादिक दिये हुए पुत्रसे निवर्त हो जाता है ॥१४२॥

अनियुक्ता सुतश्चैव पुत्रिण्यासश्च देवरात् । उभौ तौ नार्हतौ भा-
गं जारजातककामजौ ॥१४३॥ नियुक्तायामपि पुमान्नार्या जा-
तोऽविधानतः । नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः १४४

अर्थ—जो अपने पिताके संयोग बिना जारसे उत्पन्न हुआ है और जो पति-पुत्रवाली, स्त्रीको देवरसे कामकरके उत्पन्न किया है वे दोनों जारज और कामा-भिलाषज है अर्थात् जारसे और कामकी अभिलाषासे जन्मे है इसवास्ते धनके भागको योग्य नहीं है ॥ १४३ ॥ नियुक्त नारीमें भी जो बिना विधानसे जन्मा है अर्थात् घृत लगाये बिना जो विषयसे उत्पन्न हुआ है वह अपने क्षेत्रिक पिताके धनको लेनेको नहीं योग्य है क्योंकि वह पतितसे जन्मा है ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः । क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं
धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥ धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव
च । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

अर्थ—नियुक्तामें जो पुत्र उत्पन्न हुआ है वह क्षेत्रवाले पिताके धनको औरस

पुत्रकी तरह लेवे क्योंकि धर्मसे वह पुत्र और वह बीज क्षेत्रवालेकाही है ॥ १४५ ॥
जो मरे हुए भाईके धन और स्त्रीको लेवे वह अपने भाईकी स्त्रीमें नियोग वि-
धिसे पुत्रको उत्पन्नकरके तिस भाईका धन उसकी स्त्रीकोही देदेवे ॥ १४६ ॥

या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्याप्यवाप्नुयात् । तं कामजमरिक्थीयं
वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥ एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयो-
निष्ठ । बह्वीष्ट चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो गुरु आदिकोकरके विना आज्ञा दर्ईहुई देवरसे या दुसरेसे पुत्रको
उत्पन्न कराती है वह पुत्र यदि कामसे जन्मा हो तो उसको पिताके धनका मालिक
मनु आदिक नहीं कहतें है और वृथा जन्माहुआ कहते हैं ॥ १४७ ॥ समान जा-
तिकी भार्याओंमें एक पतिकरके जन्मे हुवे पुत्रोंके विभागकी यह विधि है ऐसे
जानना अब अनेक जातिकी बहुतसी स्त्रियोंमें एक पतिकरके जन्मेहुए पुत्रोंका
विभागकों सुनों ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतसस्तु यदि स्त्रियः । तासां पुत्रेषु जाते-
षु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥ कीनाशो गोवृषो यानमलं-
कारश्च वेश्म च । विप्रस्योद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

अर्थ—ब्राह्मणकै जो क्रमकरके ब्राह्मणी आदि चार स्त्री होवे तो उन तीनोंमें
जन्मे हुए पुत्रोंकी यह विभागकी विधि है जो आगे मनुआदिकोंने कही है २४९
की नाश याने कृषिवल गो वृष यान अर्थात् अश्व हस्ती आदि और अलंकार
यानें अंगुली आदिके गहनें और घर इत्यादि प्रधान जितने अंश हैं उनमें एक
सबसे अच्छा अंश ब्राह्मणीके पुत्रको उद्धारके अर्थ देवे और बाकी रहेको कही
हुई विधिसे बांट देवे ॥ १५० ॥

त्र्यंशं दायाद्वरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः । वैश्याजः सार्धमेवां-
शमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥ सर्वे वा रिक्थजातं तद्वशधा प-
रिकल्प्य च । धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

अर्थ—धनमेंसे तीन भाग ब्राह्मण लेवे दो अंश क्षत्रिय जातिकी स्त्रीका पुत्र
लेवे और डेढ़ अंशको वैश्य जातिकी स्त्रीका पुत्र लेवे और एक अंशको शूद्र
जातिकी स्त्रीका पुत्र लेवे और जो ब्राह्मणी क्षत्रियाणी इन दो स्त्रियोंकेही पुत्र हो
वें तो तहां पांच हिस्सेकरके तीन हिस्से ब्राह्मण लेवे दो हिस्से क्षत्रियाणीका-

पुत्र लेवे इसी प्रकार ब्राह्मणी वैश्या आदिके पुत्रोंका भाग जान लेना ॥ १५१ ॥
या संपूर्ण तिस धनके दश हिस्सेकरले और पीछे विभाग धर्मको जाननेवाले ध-
र्मसे विभाग इस आगे कही हुई विधिसे करे ॥ १५२ ॥

चतुरौंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः । वैश्यापुत्रो हरेद्व्यंश-
मंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥ यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोप्यसत्पुत्रोऽपि
वा भवेत् । नाधिकं दशमादद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

अर्थ—चार अंशोंको ब्राह्मण लेवे और तीन हिस्सोंको क्षत्रियाका पुत्र लेवे
और वैश्याका पुत्र दो अंशोंको लेवे और एक अंशको शूद्राका पुत्र लेवे ॥ १५३ ॥
यदि ब्राह्मणके चारों वर्णोंकी स्त्रियोंके पुत्र जीते हों याने जीवते हों तो तहां शू-
द्राके पुत्रका पीछे हिस्सा करे और तिन द्विजाति वर्णकी स्त्रियोंके पुत्र न जीवते
हों तो तहां उन पुत्रोंके पिताको शूद्राके पुत्रको दशमां हिस्सा देना चाहिये औ-
र धर्मको जानके अधिक हिस्सा न देवे यह शूद्राके पुत्रको निषेध है और क्षत्रि-
य वैश्याके पुत्र तो पिताके धनको लेनेवाले है ॥ १५४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता द-
दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥ समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा
द्विजन्मनाम् । उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन जातिके पिताको धनको शूद्रका पुत्र लेनेवाला
नहीं है किंतु जो धन पिताही शूद्राके पुत्रको देदेवे वही उसका धन है ॥ १५५ ॥
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वर्णोंके मनुष्योंकी समान जातिवाली भार्याओंके जो
पुत्र जन्में हों वे सब बड़े भाईको हिस्सा देके पीछे बाकी रहेको बड़े भाईकेसाथ
संपूर्ण धनके समान भाग करेलेवे ॥ १५६ ॥

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते । तस्या जाताः समां-
शाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७ ॥ पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां
स्वायम्भुवो मनुः । तेषा षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः १५८ ॥

अर्थ—शूद्रको समान जातिकी स्त्रीसे विवाह कराना लिखा है और दूसरे वर्ण-
की स्त्रीको नहीं ग्रहण करसक्ता क्योंकि शास्त्रोंमें विधान नहीं किया इससे उस
समान जातिवाली शूद्रामें जो सौ पुत्रभी जन्में हों तबभी उन पुत्रोंका समान

भाग है ॥ १५७ ॥ मनुष्योंके जिन बारह पुत्रोंको स्वायंभुव मनु कहता भया उन पुत्रोंमें छह ६ पुत्र गोत्र धनको लेनेवाले है और पीछे कहे हुए छह पुत्र गोत्र धनको प्राप्त होनेवाले नहीं बांधवतो है इससे उदक क्रिया अर्थात् जल देना आदि क्रियाओंको करो और पिंड नहीं देना ॥ १५८ ॥

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्त कृत्रिम एव च । गूढो त्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥ कानीनश्च सहोदश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

अर्थ—औरस क्षेत्रज दत्त कृत्रिम गूढोत्पन्न अपविद्ध ये छह ६ पिताके धनके हिस्सेवाले है और इन्हींकी बांधवसंज्ञाभी है ॥ १५९ ॥ कानीन अर्थात् कन्याके जन्मा हुआ और सहोद अर्थात् आपहीसे आया हुआ क्रीत अर्थात् मोल लिया हुआ और पौनर्भव और स्वयंदत्त यानें लडकेका पिता आप देदेवे और शौद्र ये छह पुत्र पिताके गोत्र धनको प्राप्त होनेवाले नहीं और बांधवतो है ॥ १६० ॥

यादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरन् जलम् । तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥ यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ । यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्रह्नीत नेतरः ॥ १६२ ॥

अर्थ—जैसे मनुष्य तृण आदिकोंकरके बनाई हुई खोटीनाओंकरके जलको तिरता हुआ जैसे फलको प्राप्त होता है अर्थात् दुःख पाता है तैसेही क्षेत्रज आदि कुपुत्रोंकरके परलोकमें होनेवाले दुःखको नहीं तिर सक्ता इससे यह जानागया कि क्षेत्रज आदि पुत्र औरसके सम नहीं ॥ १६१ ॥ विना पुत्रवाले मनुष्यको दूसरेकी स्त्रीमें उत्पन्न किया हुआ पुत्र दोनों पिताओंके धनका मालिक है और शास्त्र धर्मसे दोनों पिंड देनेवालाभी है और जो क्षेत्रज पुत्रके पीछे औरस पुत्र होजावें तो वे औरस क्षेत्रज दोनों पुत्र पिताके धनके भागीभी है परंतु जो धन जिसके पिताका हो वही लेवे दूसरा न लेवे ॥ १६२ ॥

एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थप्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥ षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

अर्थ—एकही औरस पुत्र पिताके धनका मालिक है और बाकी क्षेत्रजादिक पुत्रोंको पापके संबंधकों दूर होनेके अर्थ भोजन वस्त्र आदिक देवे ॥ १६३ ॥

औरस पुत्र पिताके धनका विभाग करता हुआ क्षेत्रज पुत्रको छठा या पांचमा हिस्सा देवे यह पांचमा छठा हिस्सा गुनवालेको क्रमसे जानना अर्थात् निर्गुणको पांचमा गुणीको छठा यह विकल्प जानना ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ । दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्भि यम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—औरस और क्षेत्रज पुत्र पिताके धनके भागी है और बाकी जो दत्तक आदिक दश पुत्र है वे गोत्रके भागी है और क्रमकरके धनकोभी लेनेवाले है ॥ १६५ ॥ अपनी धर्मसे विवाही हुई स्त्रीमें जो मनुष्य आपही उत्पन्न करता है जिस पुत्रको, उस पुत्रको औरस जानना अपनी जातिकी स्त्रीमें अपने सकास करके जन्मा हुआ यह पुत्र उत्तम कहाता है ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा । स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥ माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥

अर्थ—जो मनुष्य मरगया होवे या नपुंसक होवे या प्रसवका विरोध करनेवाली व्याधिकरके पीडित हो ऐसे ऐसे मनुष्योंकी स्त्रीमें घृताक्तत्वादिनियोगधर्म करके जो कोई पुत्र जन्मता है वह क्षेत्रज पुत्र मनु आदिकोंने कहा है ॥ १६७ ॥ माता पिता आपसमें सलाहकरके प्रीतियुक्त जिस पुत्रको जलसे संकल्पकरके आपत्कालमें जो देते है वह दत्त्रिम पुत्र जानना ॥ १६८ ॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः । स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

अर्थ—जो पुत्रको लेनेवाला है वह अपनी समान जातिवाला और गुणदोषोंको जाननेवाला और पुत्रके गुणोंकरके युक्त ऐसे पुत्रको गोद लेवे और उसी पुत्रका नाम कृत्रिम जानना ॥ १६९ ॥ अपने घरमें रहती हुई जिस मनुष्यकी स्त्रीके पुत्र उत्पन्न होजावे और यह न जानाजाय कि किस पुरुषके संयोगसे जन्मा है तो फिर वह घरमें गुप्त उत्पन्न हुआ पुत्र जिसकी स्त्रीके जन्मा है उसी मनुष्यका है ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा । यं पुत्रं परिगृह्णीयाद-
पविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जन-
येद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्रवम् ॥ १७२ ॥

अर्थ—मातापिताओंकरके त्यागा हुआ या मातापिताओंके मरें पीछे अन्यो-
करके त्यागाहुआ पुत्रको जो मनुष्य पुत्रकरके रखता है वह पुत्र अपविद्ध नाम-
वाला कहा है ॥ १७१ ॥ पिताके घरमें बिना विवाही कन्या जिस पुत्रको गुप्त
जन्मे लेती है वह पुत्र उस कन्याको व्याहर्णवाले पतिका है और नामकरके उस
पुत्रको कानीन कहै ॥ १७२ ॥

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती । वोढुः स गर्भो
भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥ क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं माता-
पित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ७४

अर्थ—जो गर्भवती या जिसके गर्भकी नहीं मालूम हुई है ऐसी कन्या व्याही
जाती है और पीछे विवाहके वह गर्भ उस स्त्रीके जन्मा है तो वह पुत्र विवाहर्ण-
वाले पतिका है और सहोढ ऐसा कहाजाता है ॥ १७३ ॥ जो कोई मनुष्य अ-
पना पुत्र बनानेके अर्थ किसीके पुत्रको पुत्रके मातापिताओंसे मोल लेवे तो वह
मोल लिया पुत्र मोल लेनेवालेका है और समान जातिका हो या असमान जा-
तिका हो मोल लिये क्रीतक पुत्रमें जातिका नियम नहीं है ॥ १७४ ॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भू-
त्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥ सा चेदक्षतयोनिः स्याद्भूतप्र-
त्यागतापि वा । पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

अर्थ—जो पतिकरके त्यागी हुई स्त्री या विधवा स्त्री अपने पतिके मरेपीछे
अपनी इच्छाकरके दूसरे पुरुषकी भार्या होके जिस पुत्रको जन्मती है वह उ-
त्पन्न करनेवाले पुरुषका पौनर्भव पुत्र कहा है ॥ १७५ ॥ जो स्त्री अक्षतयोनि
होवे अर्थात् जिस स्त्रीको पतिका संयोग न हुआ हो वह स्त्री यदि दूसरेके आश्र-
य होनेकी इच्छा करे तो तब तिस पौनर्भव भर्ताको फिर विवाह कराना योग्य है
अथवा ओ स्त्रीही बालक पतिको छोड़के दूसरेका संयोगकरके फिर जवान होने-
पर अपने पतिकेपास आवे तो तब उसके पतिको फिर विवाह करना योग्य है १७६

मातापितृविहीनो यस्यक्तो वा स्यादकारणात्॥ आत्मानं स्पर्श-
येद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥१७७॥ यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां का-
मादुत्पादयेत्सुतम् । स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारवशः स्मृतः ॥१७८

अर्थ—जिसके माता पिता मरगये हो वा जीवते हुए माताओंको वैर करके
त्याग दिया होवे ऐसा पुत्र आत्माको याने अपने शरीरको जिनके अर्थ देता है
वह स्वयंदत्त नामवाला उसीका पुत्र मनुआदिकोंने कहा है ॥ १७७ ॥ विवाही
हुई शूद्रामें जो ब्राह्मण कामकरके पीडित हुआ जिस पुत्रको उत्पन्न करता है वह
जीवताही मुरदेकी समान है इस्से पारशव कहा है ॥ १७८ ॥

दास्या वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् । सोऽनुज्ञातो हरे-
दंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥ क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकाद-
श यथोदितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥१८०॥

अर्थ—जो शूद्रकी दासीके पुत्र होवें या दाससंबंधी दासीके अपने सकाससे
होवे तो वह पुत्र पिताकरके आज्ञा दिया हुआ धर्मसे विवाही हुई स्त्रियोंके पुत्रों-
के समान भाग लेवे यह शास्त्रोंमें धर्मव्यवस्थाका नियम है ॥ १७९ ॥ इन क्षे-
त्रज आदि ग्यारह पुत्रोंको, पुत्रकेकरनेके योग्य जो श्राद्धादि क्रिया उसका लोप-
न होवे इसवास्ते बुद्धिमान मुनियोंने पुत्रप्रतिनिधिपना कहा है अर्थात् इन ग्या-
रह पुत्रोंको यत्किंचित पुत्रभाव है ॥ १८० ॥

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः । यस्य ते बीजतो
जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥१८१॥ भ्रातृणामेकजातानामेकश्रे-
त्पुत्रवान् भवेत् । सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२

अर्थ—ये जो क्षेत्रज आदिक पुत्र दूसरे पुरुषके बीजसे उत्पन्न हुए औरस पुत्र-
के प्रसंगसे कहे हैं वे जिसके बीजसे जन्मे हैं उसीके पुत्र हैं क्षेत्रवालेके नहीं हैं
॥ १८१ ॥ एक मातापिताके जन्में हुये अनेक भाइयोंमें जो एकभी पुत्रवाला होवे
तो वे संपूर्ण भाई तिस पुत्रकरके पुत्रवाले हैं ऐसे मनुजनीने कहा है ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् । सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण
प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥१८३॥ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रि-
क्थमर्हति । बहवश्चेतु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

अर्थ—एक पुरुषके बहुत स्त्री होवें तो उन स्त्रियोंमें एक स्त्रीभी जो पुत्रवाली होवे तो वे संपूर्ण स्त्री तिस पुत्रकरके पुत्रवाली है ऐसे मनुजीने कहा है ॥ १८३ ॥ औरस आदि पुत्रोंमें पूर्व पूर्व पुत्रके न होनेसे अधम अधम पुत्र धनको लेवें और जो बहुतसे पुत्र समान होवें तो संपूर्ण पुत्र धनके बराबर भागी हैं ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः । पिता हरेदपुत्रस्य
रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः
प्रवर्तते । चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके औरस पुत्र नहो और क्षेत्रज आदिक होवें तो उस मनुष्यके धनको लेनेवाले न सोदर भाई है न पिता है, किंतु औरस पुत्रके अभावमें क्षेत्रज आदिक पुत्रही पिताके धनको लेनेवाले है और जिसके पुत्र न होवे तो उसके धनको पिता लेवे या भ्राता लेवे ॥ १८५ ॥ पिता आदि तीन पुरुषोंके यानें पिता दादा बडा दादा इनको तर्पणमें जल देवे और तिन तीनोंहीकों पिंड देवे और चौथा पिंड जलका देनेवाला और पांचमेंका यह काम नहीं है ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्ध्वं सकुल्यः
स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥ सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा
रिक्थभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ८८

अर्थ—सपिंडके मध्यमें जो औरस पुत्र है वह पिताके धनका मालिक है और औरसके अभावमें पुत्री या पुत्रिकाका पुत्र धनका भागी है और दौहित्रकेभी न होनेमें क्षेत्रज आदि ग्यारह पुत्र क्रमसे धनके अधिकारी हैं और इनकेभी अभावमें अपनी स्त्री संपूर्ण धनकी मालिकनी है और इनसे पीछे समानोदक आचार्य लेवे या शिष्यही लेवे ॥ १८७ ॥ संपूर्णोंहीके अभावमें ब्राह्मण धनके भागवाले हैं परंतु वे ब्राह्मण कैसे होवेकि तीनों वेदोंके पढे हुए और शरीरको बाहर भीतरसे शुद्ध रखनेवाले और इंद्रियोंको जीतनेवाले होवे इस प्रकारसे मरे हुए धनवाले पुरुषका श्राद्धादिक धर्म नष्ट नहीं होता है ॥ १८८ ॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः । इतरेषां तु वर्णानां
सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥ संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमा-
हरेत् । तत्र यदिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

अर्थ—ब्राह्मणका धन राजाको न लेना चाहिये यह शास्त्रकी मर्यादा है और

इतर वर्णोंका अर्थात् क्षत्रियादिकोंका धनको पहिले कहे हुए मनुष्योंके अभावमें राजा लेवे ॥ १८९ ॥ विना पुत्रवाले संस्थित पुरुषकी भार्या यानें जिसका पति मरगया हो वह स्त्री समान गोत्रवाले पुरुषसे बड़ोंकरके नियुक्त करी हुई नियोग धर्मकरके पुत्रको उत्पन्न करे और अपने पतिका धन पुत्रको समर्पण करे ॥ १९० ॥

द्वौ तु यौ विवेदेयाता द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने । तयोर्यद्यस्य
पित्र्यं स्यात्तत्स गृहीत नेतरः ॥ १९१ ॥ जनन्यां संस्थितायां तु
समं सर्वे सहोदराः । भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२

अर्थ—जिस स्त्रीका विवाहा पति मरजावे और एक पुत्र उस पतिका होवे और वह बालक पुत्रको जानके पतिके धनको लेके दूसरे पौनर्भव पतिसे संतान यानें दूसरे पुत्रको जन्मलेवे और वह पतिभी मरजावे तब उसकेभी धनको ग्रहण कर-लेवे फिर जब वे जवान होवे और धनके अर्थ विवाद करें तब जो धन जिसके पिताका हो वही उस उस धनको लेवे दूसरा न लेवे ॥ १९१ ॥ माताके धनको माताके मरेंपीछे संपूर्ण भाई और विनाव्याही बहन समान भाग करलेवे और अपने अपने भागको लेलेवे और विवाही हुई बहनको धनके अनुमानसे मान-के अर्थ देवे ॥ १९२ ॥

यास्तासा स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः । मातामह्या धनात्कि-
ञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च
प्रीतिकर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

अर्थ—जो तिन पुत्रियोंकी विना विवाही पुत्री है उन्हेंकोभी जैसा योग्य हो तैसा यत्किंचित् धन मातामही अर्थात् नानीके धनसे प्रीतिपूर्वक देवे ॥ १९३ ॥ विवाहके समयमें जो पिताको अग्निके समीप दिया है वह अध्यग्नि स्त्रीधन है और जो गौनेंमें धन दिया है वह अध्यावाहनिक है और जो भर्तानें अपने प्रीतिहेतु कर्ममें दिया है और स्त्रीके भाईने या पिताने माताने जो समयातासे दिया है ऐसे छ प्रकारका यह स्त्रीका धन कहा है ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्वत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् । पत्यौ जीवति वृत्ता-
याः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥ ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्ये-
षु यद्वसु । अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

विवाहसे पीछे पतिके कुलसे या पिताकुलसे जो धन स्त्रीको प्राप्त हुआ है

और जो प्रसन्न होके पतिनें दिया है वह धन भर्ताके जीवते यदि स्त्री मर जावे तो तिसके पुत्रोंका है ॥ १७५ ॥ ब्राह्म दैव आर्ष गांधर्व प्राजापत्य इन पांच विवाहोंमें जो छ प्रकारका धन स्त्रियोंको प्राप्त हुआ है वह विना पुत्रवाली मरनेवाली स्त्रीका धन पतिका है ऐसे मनुआदिकोंने कहा है ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु । अप्रजायामतीता-
या मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥ स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा
दत्तं कथंचन । ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८

अर्थ—और जो धन स्त्रीको आसुरराक्षस पैशाच इन विवाहोंमें प्राप्त हुआ है वह धन विना पुत्रके उत्पन्न हुयें मरनेवाली स्त्रीको मातापिताओंका है ऐसे कहा है ॥ १९७ ॥ यदि ब्राह्मणके चारों वर्णोंकी स्त्री हों और उन स्त्रियोंमें जो क्षत्रियआदि वर्णोंकी विना पुत्र और विना पतिवाली स्त्री मरजावे तो उस स्त्रीके पिताके दिये धनको उस स्त्रीकी सापत्न कन्या अर्थात् ब्राह्मणी सौतिकी कन्या ग्रहण करे और सापत्नेयी कन्याके अभावमें कन्याका पुत्र लेवे ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् । स्वकादपि च वि-
त्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलं-
कारो धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते २००

अर्थ—भाई आदि बहुत सामान्य कुटुंब धनसे भार्या आदि स्त्रियोंकरके अलंकारके अर्थ धन चोरना न चाहिये और अपने भर्ताकी आज्ञाके विना पतिके धनसेभी चोरके संचय न करे क्योंकि वह स्त्रीका धन नहीं है ॥ १९९ ॥ भर्ताके जीवते पतिकी आज्ञासें जो अलंकार स्त्रियोंनें धारण कर रक्खा है उस अलंकारको पतिके मरे पीछे धनको बांटनेके समय पुत्र आदि नहीं बांट सक्ते और जो वह बांटते हैं तो फिर पतित होते हैं यानें पापी होते हैं ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च ये
च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं श-
क्त्या मनीषिणा । ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२

अर्थ—नपुंसक पतित जात्यन्ध बधिर उन्मत्त जड मूक और जो कुण रोगी हो या पांगला हो इत्यादि ये सब पिताके धनके भागी नहीं हैं किंतु भोजन वस्त्रके भागी हैं ॥ २०१ ॥ संपूर्ण इन क्लीबआदिकोंको इतने वे जीवे इतने शास्त्रको

जाननेवाले मनुष्यको उन संपूर्णोंके पिताका धन लेनेवाले न बुद्धिमान् मनुष्य-
को भोजन वस्त्र देना योग्य है और जो न देता है वह पतित होता है याने पापी
होता है ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्रीबादीना कथंचन । तेषामुत्पन्नतन्तूना-
मपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥ यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठो-
ऽधिगच्छति । भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

अर्थ—श्लोकमें कथंचन ऐसा कहनेसे यह जाना जाता है कि नपुंसक आदि-
कोका विवाह करना अयोग्य है, यदि किसी प्रकार नपुंसकादिकोंकी विवाहकी
इच्छा होवे तो नपुंसकके क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न होनेसे तिस नपुंसकके भाइयोंके पुत्र
नपुंसकके धनके भागी है ॥ २०३ ॥ पिताके मरे पीछे संपूर्ण धनके
विभाग नहीं करनेपर यदि बड़ा भाई अपने औरससे कुछ अधिक धनको प्राप्त होवे
तो उस धनमें विद्या पढ़े हुये छोटे भाइयोंका भाग है अन्योका नहीं है ॥ २०४ ॥

अविद्याना तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् । समस्तत्र विभागः स्या-
दपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥ विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव ध-
नं भवेत् । मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

अर्थ—संपूर्ण भाइयोंका खेतीवणज आदि व्यापारसे जो धन होता है उस धनमें
सब भाइयोंका समान भाग है तहां उद्धार नहीं होता क्योंकि पिताका नहीं है
॥ २०५ ॥ विद्या धन जो विद्यासे मिला हो और मैत्री धन जो मित्रतासे मिला
हो औद्वाहिक, जो विवाहमें वरको मिला हो मधुपर्कमें जो मिला हो इत्यादि
धन जो जिसको मिला है वह धन उसीका है ॥ २०६ ॥

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा । स निर्भाज्यः स्वका-
दंशात्किञ्चित्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण
यदुपार्जितम् ॥ स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

अर्थ—जो राजाकी नौकरी आदि कर्मोंकरके धनको संचय करता है वह भाइ-
योंके साधारण धनकी इच्छा न करता है तोंभी वेह भाइयोंने बापके धनमेंसे किं-
चित धन देके वहे प्रथक् कर देना योग्य है क्योंकि न्यारा करनेसे उसके पुत्रादिक
कभी कालांतरमें विवाद न कर सकेंगे धनके लिये ॥ २०७ ॥ पिताके धनको
नहीं नष्ट कराता हुआ जो अपने श्रमसे धनको करता है याने खेती आदि क्ले-

शौंसे संचय करता है वह अपने कमाये धनको न देनेकी इच्छा करता हुआ भाइयोंको देनेके अर्थ अयोग्य है अर्थात् नहीं देवे यदि इच्छा होवे तो देवे ॥२०८॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः
स्वयमर्जितम् ॥२०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्य-
दि । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

अर्थ—पिता अपने धनको यदि किसीको देके लेनेको न समर्थ हो और पुत्र अपनी शक्तिसे उस धनको ले लेवे तो फिर उस अपने संचय किये धनको न देनेकी इच्छा करता हुआ पुत्रोंको न देवे ॥ २०९ ॥ पहिले एकवार सोद्धार निरुद्धार वा धनको बांटके फिर संपूर्ण भाई जो धनको मिलाके साथ वसते रहै यदि फिर वे विभाग करें तो समान भाग करना चाहिये वडेको उद्धार नहीं देना येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । प्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥ सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य स-
हिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२१२॥

अर्थ—जिन भाइयोंमें कोई भाई विभाग समयमें संन्यास लेके अपने भागसे दूर हो जावे या मरजावे तो उसका हिस्सा लोप नहीं होता ॥ २११ ॥ किंतु सहोदर भाई और सहोदरा वहेन ये सब इकट्ठे होके उसके भागको समानकरके बांट लेवे ॥ २१२ ॥

यो ज्येष्ठा विनिकुर्वीत लोभाद्भातृन् यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्यादभा-
गश्च नियंतव्यश्च राजभिः ॥२१३॥ सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति
भ्रातरो धनम् । न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् २१४

अर्थ—जो बड़ाभाई लोभसे छोटे भाइयोंको ठगता है वह अपने बड़ पनसे रहित हो जाता है और सोद्धारकोभी लेने योग्य नहीं है और उसको राजाको दंड देना योग्य है ॥ २१३ ॥ जो संपूर्ण भाई द्यूत याने जूआ और वेश्याका संग इत्यादिक विकर्मोंमें आसक्त रहनेवाले होंतो वे पिताका धन लेनेको नहीं योग्य है और छोटे भाइयोंको नहीं बड़ा भाई यह न करै कि वहीमें जमाकर लेकि मैने तो दे दिया ॥ २१४ ॥

भ्रातृणामविभक्ताना यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता

दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥ ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्ध-
नम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

अर्थ—जो संपूर्ण भाई पिताके साथ वसतेहुए धनको विना बाँटे यदि धन संचयकरनेको सब साथही उत्थान करे यानें पर देशको जावें तो तहां विभाग कालमें किसी पुत्रको अधिक धन पिता न देवे ॥ २१५ ॥ जो जीवता हुआ पिता ही पुत्रोंकी इच्छा देखके विभागकर देवे और धनका विभाग करे पीछे जो पिता-के और पुत्र उत्पन्न हो जावें तो वह पुत्र पिताके मरे पीछे पिताके धनको लेवे और जिन पुत्रोंके भागकर दियेथे उनोंने वह धन फिर पिताके धनमें मिलादिया है तो फिर उस पुत्रके उन भाइयोंसे पिताके मरे पीछे समान भाग करना चाहिये ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां
पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते य-
थाविधि । पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—जिस पुत्रके संतान नहीं हो उस पुत्रके धनके हिस्सेको माता लेवे और माताकेभी मरें पीछे पिताकी माता लेवे या नेंदादी लेवे ॥ २१७ ॥ जब पितानें ऋण और धन ये सब शास्त्रकी विधिसे विभागकरके पुत्रोंको दे दिये हों तिस-सें पीछे जो कुछ करजा या धनविना जानें बाँटनेके समय रहगया हो उसको संपूर्णको सब भाई समान ले लेवे ॥ २१८ ॥

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः । योगक्षेमं प्रचारं च न वि-
भाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥ अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रि-
याविधिः । क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

अर्थ—वस्त्र वाहन आभूषण ये वस्तु हिस्से कियें पहिले जो जिसनें भोगी है वह उसीकी है उसका विभाग नहीं करना यह थोरे मोलकी वस्तुका क्रम है ब-हुत मोलवालीका विभाग कर लेवे और स्त्रियोंनें पकायाहुआ अन्न जल ये बाँ-टनेको अयोग्य है दासी आदि योग क्षेम यानें मंत्री पुरोहित आदि और गौ आदिकोंका मार्ग इन संपूर्णोंके विभाग नहीं करने ऐसे मनुआदिकोंने कहा है ॥ २१९ ॥ यह क्षेत्रजआदि पुत्रोंके धनका हिस्साका विभागकरनेका प्रकार तुम्हारेआगे कहा है और अवद्यूत व्यवस्थाको सुनों ॥ २२० ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् । राजान्तकरणावेतौ द्वौ

दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमा-
ह्वयौ । तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—द्यूत अर्थात् जूआ समाह्वय याने जानवर पक्षी आदिके लड़ानेसे हार जीत करना, इन दोनोंको राजा अपने राज्यसे निकास देवे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओंके नाशकरनेवाले हैं ॥ २२१ ॥ जूआ और समाह्वया अर्थात् पक्षिआदिकोंकी लड़ाइसे हार जीत करना ये प्रत्यक्षमें चौरपना है इनसे द्यूत समाह्वयके दूर करनेमें राजा यत्नकरनेवाला होवे ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियते यस्तु
स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥ द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्का-
रयेत वा । तान्सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

अर्थ—विना पक्षियोंकी लड़ाइके जो हार जीत किया जाता है वह लोगोंमें द्यूत अर्थात् जुआ ऐसा कहा जाता है और जो जानवर मेंढा मुरगा आदिकोंकी लड़ाइसे हार जीत होती है उसको समाह्वय कहते हैं ॥ २२३ ॥ द्यूत और समाह्वय इन दोनोंको जो करे और जो करावे तो उनको राजा हस्त छेदादिकोकरनेसे मरवावे और जो शूद्र होके जनेऊआदि ब्राह्मणके चिन्होंको धारण करे तो उन सबको राजा मरवावे ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान् क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् । विकर्मस्थान्
शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥ एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः
प्रच्छन्नतस्कराः । विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

अर्थ—कितव अर्थात् जूआ खेलनेवाले कुशील अर्थात् श्रुतिस्मृतिके धर्मसे रहित होनेवाले और क्रूर पाषण्डमें स्थित रहनेवाले मनुष्य और विना आपत्कालमें दूसरेके कर्मसे आजीवन करनेवाले और मदिरा पीनेवाले इतने मनुष्योंको जल्दी राजा अपने राज्यसे निकला देवे ॥ २२५ ॥ इतने कितवादिक राजाके राज्यमें प्रकट चोर वर्तमान रहते हैं सोवे रहतेहुवे नित्य वंचन विकर्म क्रियाकरके कुशल युक्त सज्जनोंको पीडा करते हैं ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महद् । तस्माद् द्यूतं नसेवेत हा-
स्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत

यो नरः । तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

अर्थ—इसी समयमें जूआ वैर करनेवाला नहीं है किंतु पूर्व कल्पोंमेंभी यह जूआ अतिशय वैर करनेवाला दीखता है इससे बुद्धिमानोंको हांसीके अर्थभी जूआका सेवन करना नहीं ॥ २२७ ॥ जो मनुष्य जूआको गुप्त होके या प्रकट होके खेलता है उसको जैसी राजाकी इच्छा होवे तैसा दंड देवे ॥ २२८ ॥

क्षत्रविदशूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् । आनृत्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥ स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धनां दरिद्राणां च रोगिणाम् । शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

अर्थ—क्षत्रिय वैश्य शूद्र जातिमें होनेवाले मनुष्य यदि निर्धनतासे दंड देनेको समर्थ नहीं तो अपने अपने कर्मकरके दंड देवे यानें नौकरीकरके पूराकर देवे और ब्राह्मण शनैःशनैः देवे अर्थात् ब्राह्मणसे नौकरी न करावे ॥ २२९ ॥ स्त्री बालक उन्मत्त वृद्ध दरिद्री रोगी इनोंको राजा कांमचीवेत रस्सी आदिकोंसे दंड देवे ॥ २३० ॥

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम् । धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥ कूटशासनकर्तृश्च प्रकृतीनां च दूषकान् । स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्विदसेविनस्तथा ॥

अर्थ—जो राजाने अदालतमें मुकदमेंवालोंके मुकदमें करनेको नियुक्तकर रखे है वे यदि धनसे आधीन होके कामवालोंके कामोंको विगाड देते है उनोंका सर्वस्व राजा लेके उनोंको निर्धनकर देवे ॥ २३१ ॥ झूठेही राजाकी मोहर करनेवाला और मंत्रियोंके मन फाडनेवाला और स्त्री ब्राह्मण बालकों मारनेवाला वैरीसे प्रीतिकरनेवाला ऐसे ऐसे मनुष्योंको राजा मरवा देवे ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत् । कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥ अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा । तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

अर्थ—जहां कहीं करजालेनेआदि व्यवहारमें जो मुकदमा शास्त्रव्यवस्थासे निर्णयकरके किया जावे और सजातक ठीक होगई हो तो फिर उस मुकदमेंको लौटके नकरे ॥ २३३ ॥ अमात्य अर्थात् मंत्री अथवा प्राड्विवाक यानें मुकद-

माकरनेवाला हाकिम जो सुकदमेंको अन्यथा करदेवे तो फिर उस सुकदमेंको राजा करे और उन मंत्रियोंको और प्राड्विवाकको सहस्रपण दंड देवे ॥२३४॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः । एते सर्वे पृथक् ज्ञेया
महापातकिनो नराः ॥२३५॥ चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तम-
कुर्वताम् । शरीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ—ब्राह्मणको मारनेवाला मदिराका पीनेवाला सुवर्णका हरनेवाला मनु-
ष्य और गुरुकी स्त्रीको गमनकरनेवाला ये सब महा पातकी जानने ॥ २३५ ॥
ये चार पूर्व कहेहुये महापातकी जो यदि पापोंके दूर होनेकेअर्थ प्रायश्चित्त न
करे तो उनको शरीर दंड अपराधके अनुसार देवे धनके लेनेकरके धन संबंधी
दंडभी धर्मकेअनुसार देवे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं का-
र्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥२३७॥ असंभोज्या ह्यसंयाज्या असं-
पाठ्याविवाहिनः । चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः २३८

अर्थ—जो गुरुकी स्त्रीसे गमन करते हैं उन पुरुषोंके मस्तकमें तपाये हुए
लोहेकरके योनिका चिन्हकर देवे और मदिराके पीनेवाले द्विजातिके मस्तकमें
सुरा पात्रका चिन्हकर देवे और सोनेके हरनेवालेके मस्तकमें कुत्तेके पैरका चिन्ह
तपायेहुये लोहसे करदेवे ब्राह्मणको मारनेवाले मनुष्यका शिर काट लेवे २३७
पूर्व कहे हुये जो महापातकी मनुष्य है इन सबको अन्न भोजन करना नहीं चा-
हिये और इन पापियोंका पूजन न करे और इनको पढावेभी नहीं और इनका
विवाहभी न करे और ये संपूर्ण धर्मोंसे बहिष्कृतहुये पृथ्वीमें भ्रमतेहुये फिर-
ने योग्य है ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः । निर्दया निर्नमस्का-
रास्तन्मनोरनुशासनम् ॥२३९॥ प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा
यथोदितम् । नांक्या राज्ञा ललाटेऽस्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् २४०॥

अर्थ—जातिके भाईबांधवोंको जिनके मस्तकमें चिन्हहो रहे हैं वे मनुष्य त्यागने
योग्य है और उन्होंके ऊपर दया न करनी और उनको नमस्कार न करना यह
मनुकी आज्ञा है ॥ २३९ ॥ शास्त्रमें कहेहुये प्रायश्चित्तको करनेवाले ब्राह्मण क्ष-

त्रिय वैश्यके मस्तकमें राजाको चिन्ह कराना नहीं योग्य है उत्तम साहस अर्थात् उत्तम दंड देना योग्य है ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः । विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः । सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२॥

अर्थ—यदि ब्राह्मणसे अपराध होजावे तो गुणवान् ब्राह्मणको मध्यम साहस दंड देवे और पहिले कहाहुआ उत्तम दंड तो निर्गुणको देना कहा है और जो कामसे अपराध करदेवे तो धन परिच्छदकरके संयुक्तको अपने राज्यसे निकालदेवे ॥ २४१ ॥ ब्राह्मणसे अन्य क्षत्री वैश्य शूद्र यदि ये विना इच्छा किये इन पापोंको करता है तो इन पापोंको करनेवालाका सर्वस्व हरना योग्य है और इच्छाकरके करनेवालोंको तो मारनाही योग्य है ॥ २४२ ॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् । आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥ अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् । श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

अर्थ—धर्मात्मा राजा महापातकी संबंधी धनको न ग्रहण करे और लोभसे ग्रहण करता हुआ पुरुष तिस महातक दोषकरके संयुक्त होता है ॥ २४३ ॥ तिस दंड धनको नदी आदि जलमें प्राप्तकरके वरुणदेवताके अर्थ दे देवे या वेदशास्त्रकरके संपन्न ब्राह्मणको दे देवे ॥ २४४ ॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः । ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥ यत्र वर्जयते राजा पापकृद्ध्यो धनागमम् । तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥

अर्थ—महापातकीके दंड धनका स्वामी वरुण है इससे राजाओंकाभी दंडका देनेवाला होनेसे प्रभु है जैसे वेदोंका पार जानेवाला ब्राह्मण संपूर्ण जगत्का स्वामी है इस लिये प्रभु होनेसे ब्राह्मण और वरुण ये दोनों दंड धनके लेनेको योग्य है ॥ २४५ ॥ जिस देशमें महापातकीके धनको राजा नहीं ग्रहण करते हैं उन देशोंमें परिपूर्ण कालकरके मनुष्य जन्मते हैं और धनी आयुवाले होते हैं ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् । बालाश्च न प्र-

मीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥ ब्राह्मणान्बाधमानं तु
कामादवरवर्णजम् । हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

अर्थ—वैश्योंके जैसे धान्यादि सस्यवोएहुए पृथक्पृथक् उत्पन्न होते हैं तैसेही
तिन राजोंकी प्रजा जन्मती है और अकालमें बालक नहीं मरते हैं और कोई
विकारभी नहीं होता है ॥ २४७ ॥ अपनी इच्छासे ब्राह्मणोंको पीडा देनेवाले
शूद्रको नानाप्रकारके बहुत क्लेशोंके देनेवाले मारनेके उपायोंकरके राजा मर-
वा देवे ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे । अधर्मो नृपतेर्दृष्टो
धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥ उदितोयं विस्तरशो मिथो वि-
वदमानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

अर्थ—जो मनुष्य मारने योग्य नहीं है उन मनुष्योंके मारनेमें जो अधर्म रा-
जाओंने शास्त्रकरके जाना है उतनाही मारनेके योग्य मनुष्यके छोड़नेमें अधर्म है
और शास्त्रकी रीतिसे दंड देनेवालेको धर्म होता है इससे पापीको दंड देना अ-
च्छा है ॥ २४९ ॥ अठारह किसमेंके ऋण यानें करजा लेने आदि व्यवहारोंमें
आपसमें विवाद करतेहुए अर्थ प्रतियर्थियोंका यह कार्यका निर्णय कहा है ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः । देशानलब्धान्लिप्सेत
लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥ सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च
शास्त्रतः । कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्तमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

अर्थ—इस कहेहुये प्रकारकरके धर्मसे निर्णयको करतेहुये राजा मनुष्योंके
अनुरागकरके बहुत देशोंके राजको प्राप्त होवेगे और लब्धहुए देशोंको अच्छे
प्रकारकरके पालन करेंगे ॥ २५१ ॥ जांगल सस्यकरके संपन्न जो देश उसमें अ-
च्छेप्रकार आश्रित होके और तहां सातमी अध्यायमें कहे प्रकारसे किलावनाके
चोररूप कंटकोंके दूर करनेमें सदा उत्तम यत्न करे ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् । नरेन्द्रास्त्रिदिवं या-
न्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृ-
ह्णाति पार्थिवः । तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षा करनेसे और साहसके नाश करनेसे या शिक्षा दे-

नैसे प्रजाके पालनमें तत्पर होनेवाले राजा स्वर्गको जाते हैं इससे चोररूप कंट-
कोंके नाशमें जतन करे ॥ २५३ ॥ जो चोरोंको शिक्षारूप दंड नहीं देतेहुये
राजा छठे हिस्सेकरको लेते हैं उस राजाको राज्यमें वसनेवाले मनुष्यको शर्त है
और वह स्वर्गमेंभी नहीं प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् । तस्य तद्वर्धते नित्यं
सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥ द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद-
व्यापहारकान् । प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

अर्थ—जिस राजाकी भुजाओंके बलसे राज्यमें वसनेवाले मनुष्य चोर आदि-
कोंके भयसे निर्भय रहते हैं उस राजाकी प्रजा नित्य वृद्धिको प्राप्त होती है जै-
से जलके सींचनेसे वृक्ष बढ़ते हैं तैसे ॥ २५५ ॥ दूत हैं नेत्र जिसके ऐसा राजा
दो प्रकारके पराये धनके हरनेवाले चोरोंको जानें एक प्रकट दूसरा अप्रकट ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः । प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये
स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥ उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चका कि-
तवास्तथा । मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥

असम्यकारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः । शिल्पोपचारयुक्ताश्च
निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥ एवमादीन्विजातीयान्प्रका-

शाल्लोककण्टकान् । निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥

अर्थ—तिन चोरोंमें जो अनेक प्रकारकी दुकानोंसे अनुचित प्रकारके परधन-
को हरते हैं वे प्रकट चोर हैं और जो वनमें वसके श्रेष्ठ पुरुषोंको मारके गुप्त
धनको लेते हैं वे गुप्त चोर हैं ॥ २५७ ॥ जो मुकदमोवालेसे लांच लेके मुकदमें-
वालोंके कामको विगाड देते हैं वे उत्कोचक होते हैं और औषधिक उने कहते
हैं कि जो भय दिखाके धनवालेसे धन लेते हैं और ठग और पाखंडी और जो
किसीको धन मंगलादिके लोभ देके ठगते हैं वे और भद्र उन्हें कहते हैं कि जो
जिनोंके मनमें पाप हो और अच्छे होके जो धन ठगते हैं ॥ २५८ ॥ और जो दूसरेके
लिखेहुयेके अच्छे बुरेको जानते हैं और महामात्र अर्थात् हस्तीके पढानेवाले
और वैद्य ये दोनों असम्यक् करनेवाले और शिल्प अर्थात् लिखने आदि उप-
चार युक्तोंको और दूसरे मनुष्यको वस करणोंमें निपुण जो बेइया स्त्री इन स-
बोंको जाहरदारीके ठग जानलेवे और जो ब्राह्मणके वेशको धारण करनेवाले

शूद्र आदि है इनकोभी राजा ठग जाने ॥ २५९ ॥ इन पूर्व कहे वंचकोंको प्रकट संसारके कंटकरूप जाने और अन्य जो श्रेष्ठ पुरुषोंके रूपको धारणकरके निगूढ़ अर्थात् गुप्त विचरते हैं जो अधम पुरुष हैं उन सबको बड़ी सजा देके राजा अपनै वस करे ॥ २६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः । चारैश्चानेकसंस्थानैः
प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥ तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे
कर्मणि तत्त्वतः । कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥ २६२ ॥

अर्थ—उन पूर्वोक्त वंचकोंको श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणकरके गुप्त होनेसे और तिनोंके कर्म करनेसे आचरणसे अनेक स्थानके वसनेसे जानके सकत दंड देके राजा अपनै वसमें करे ॥ २६१ ॥ तिन गुप्त प्रकट चोरोंके दोषोंको संसारमें प्रकट करके तिनोंके चौर्य आदि कर्मोंको तत्त्वसे देखके अपराधके अनुसार तिनोंके धन शरीरसामर्थकी अपेक्षाके अनुसार राजा दंड देवे ॥ २६२ ॥

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्तेनानां पाप-
बुद्धीनां निभृतं चरता क्षितौ ॥ २६३ ॥ सभाप्रपापूपशालावेश
मद्यान्नविक्रयाः । चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च २६४

अर्थ—पापोंमें जिनकी बुद्धि है और जो दुष्ट श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणसे पृथ्वीमें विचरते हैं उन चोरोंको दंडकेविना पापकर्मसे दूर करनेको कौन समर्थ है कोईभी नहीं है इससे उनोंकों दंड देना श्रेष्ठ है ॥ २६३ ॥ सभाप्रया अर्थात् जलकी प्याऊ बेचनेका घर बेइया स्त्रीका घर मदिराके अन्नोंके बेचनेके स्थान चौराहा प्रसिद्ध वृक्षोंकी जड़ जनसमूहोंके स्थान चौपाड़ आदि और देखने भालनेकी जगह ॥ २६४ ॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च । शून्यानि चाप्य-
गाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥ एवंविद्यान्मृपो देशान्युल्मैः
स्थावरजङ्गमैः । तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

अर्थ—जीर्ण धर्मशाला आदि अरण्य वन शिल्पी जनोंके घर शून्य मकान आ-
न्न आदिकोंके वन बगीचे ॥ २६५ ॥ इन प्रकारोंकी जगहमें राजा बेल वृक्ष आ-
दिकोंमें एकांत स्थित होनेवाले और पैदल विचरनेवाले ऐसे अपनै जसूसोंक-

रके और सिपाही वगैरोंकरके चौरोंका निवारण करे अर्थात् ऐसे स्थानोंमें विशेषकरके चौर ठहरे रहते है ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः । विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः
पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः । शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

अर्थ—उनकी सहायताको कहनेवाले और उनके पीछे चलने वा अनेक प्रकारके कर्मोंको करनेवाले पहले चोरकी वृत्ति करनेवाले अत्यंत निपुण ऐसे जासूसोंकरके राजा तिन चौरोंको मालूम करे अर्थात् बंदोबस्त करे ॥ २६७ ॥ वे जासूस उन चौरोंको खानेपीनेके किसी वहानेसे अथवा हमारे देशमें उत्तम ब्राह्मण है उसके दर्शन करेंगे ऐसे दर्शनके वहानेसे अथवा कुस्ती युद्ध आदिकोंके वहानेसे लाके राजाके आगे समागम करदेवे ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये । तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्स-
मित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥ न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मि-
कोनृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

अर्थ—जो चौर तहां भक्ष्य भोज्य आदिकोंके वहानेसे पकड़नेकी शंकाको जानके न आवें और जो राजाके उन जासूसोंके मारनेके वास्ते सावधान होजावें तो राजा उनको जबर्दस्तीसे पकड़के उनको भाई बंधु मित्र पुत्रआदि सब कुटुंब समेत मरवा देवे ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा द्रव्य हरना लूट मारपीट वगैरहसे-विना निश्चयहुए चौरोंको न मरवावे किंतु द्रव्य आदिकोंकी चोरीकी साबूती देखके उनको निस्संदेह मरवा देवे ॥ २७० ॥

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः । भाण्डावकाशदाश्चैव
सर्वास्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥ राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव
चोदितान् । अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याचौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥

अर्थ—ग्रामोंमें जो कोई पुरुष चौरोंको जानके तिनको भोजन आदिक देते है और उनके योग्य वरतन आदि देते है तथा उनको अपने घरोंमें छिपाते है उनकोभी राजा मरवा देवे ॥ २७१ ॥ राज्यमें जो रक्षामें नियुक्त रहनेवाले अर्थात् पुलिस आदिके आदमी और सीमापर रहनेवाले सीपाही वगैरह कूर होके चौरोंके उपदेशमें मध्यस्थ होंवे उनकोभी राजा शीघ्रही चौरोंकेसमान दंड देवे ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः । दण्डेनैव तमप्योषेत्स्व-
काद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥२७३॥ ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषा-
भिदर्शने । शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः २७४

अर्थ—जो ब्राह्मण पराये यज्ञ आदि कराके वा दान आदि धर्म बतलाके उन प्रतिग्रहोंको लेते हैं ऐसे धर्म जीवन अर्थात् धर्मकी आजीविकासे जीनेवाले और अपने धर्मसे भ्रष्ट ब्राह्मणोंकोभी राजा दंड देके संताप करे ॥ २७३ ॥ डाकूर आदिकोंसे ग्रामके लुटनेमें और पुल आदिकोंके लूटनेमें मार्गमें चोरके दिखनेमें जो तहांके निकटमें रहनेवाले जन अपनी शक्तिके अनुसार रक्षा नहीं करते हैं उनको राजा उनके असबाब आदिकोंसहित अपने देशसे निकालदेवे ॥२७४॥

राज्ञः कोषापहर्तृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररी-
णां चोपजापकान् ॥२७५॥ संधिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति
तस्कराः । तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् २७६

अर्थ—राजा अपने खजानेको हरनेवालोंको वा हुक्म आदि न करनेसे प्रति-
कूल चलनेवालोंको और शत्रुओंको बहकाके राजाके संग बैर बढ़ानेवालोंको क
सूरके अनुसार तिनकी जीभ नाक आदि कटाके अनेक प्रकारके दंडोंसे बध
करे ॥२७५॥ जो चौर रात्रीमें दिवालफोरके चोरी करते हैं राजा उनके हाथोंको-
कटवाके फिर उनको पैनी शूलिर लटकवा देवे ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये
वधमर्हति ॥ २७७ ॥ अग्निदानभक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ।
संनिधातृश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो चौर वस्त्रमें बंधेहुए सुवर्ण आदिकी गांठको काटलेते हैं राजा पह-
ली बार पकड़नेमें उनकी अंगुली कटवा देवे और दूसरी बार पकड़नेमें उनके
हाथ पैर कटवा देवे तीसरे बारभी उनको कहीं पकड़े तो फांसी दिवादेवे
॥ २७७ ॥ गांठ काटने आदि चोरी करनेवालोंको जानके जो मनुष्य अग्नि
देते हैं वा भोजन देते हैं वा शस्त्र देते हैं अथवा जो उनको रहनेकेवास्ते मकान
देते हैं वा उस चोरीके धनको जो धरते हैं उनकोभी राजा चौरकी तरह दंड
देवे ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा । यद्वापि प्रतिसंस्कुर्यादा-

प्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥ कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेद-

कान् । हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

अर्थ—जो तलाव बावडी आदि जलाशयोंको पुल आदि बांधके तोड़वा देता है उसको जलमें डुबवाके मरवादेवे और जो यदि उस तुड़वायेहुएको फिरसे चिनवा देवे तो उसको उत्तम साहस संज्ञक पहले कहाहुआ दंड देवे ॥ २७९ ॥ राजाके खजानेके मकानोंको अथवा शस्त्रोंके मकानोंको अथवा देवताओंके मकानोंको विनाशनेवाले जनोंको अथवा हस्ती अश्व रथ इनको हरनेवालोंको राजा शीघ्रही मरवा देवे ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् । आगमं वाप्यपां भि-

द्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्व-

मेध्यमनापदि । स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् २८२

अर्थ—जो कोई पुरुष प्रजाकेवास्ते पहले किसीके बनायेहुए सब जलका नाश करदेता है वह वध दंडके योग्य है और जो तलावमें आतेहुए जलको रोकता है वह प्रथम साहस दंड देनेके योग्य है ॥ २८१ ॥ रोगकेविना जो पुरुष राजमार्गमें सड़क आदिमें जंगल फिरदेता है वह दो पण दंड देवे और मलको शीघ्रही उठाडाले ॥ २८२ ॥

आपद्रुतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा । परिभाषणमर्हन्ति

तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥ चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या

प्रचरतां दमः । अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

अर्थ—व्याधिवाला पुरुष वृद्ध गर्भिणी स्त्री बालक ये दंड देनेको योग्य नहीं है किंतु यह क्या किया ऐसे झडकनेके योग्य है और उस जगहको शुद्ध करवा लेवे ऐसी शास्त्रकी मर्यादा है ॥ २८३ ॥ कायशल्य आदि सब प्रकारकी चिकित्सा करनेवाले वैद्य जो अच्छा इलाज न करते हों तो दंड देना योग्य है गौ अश्व आदि पशुओंके खराब इलाज करनेवालेको प्रथम साहस दंड देवे और मनुष्योंके खराब इलाज करनेमें मध्यम साहस दंड देवे ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः । प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च

दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने

तथा । मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अर्थ—प्रतिमा और लकड़ीआदिकोंका छोटासा पुल ध्वजानदी कूवा आदिकी छकड़ी इनको तोड़नेवाला पुरुष इन सबको फिरसे बनवादेवे और पानसौ पण ५०० दंड देवे ॥ २८५ ॥ श्रेष्ठद्रव्योंमें दूषितद्रव्य मिलाके तिनको दूषित करनेमें और विना बींधीहुई मणिआदिकोंके फोड़नेमें और मोतिआदिकोंको खराब बींधनेमें प्रथम साहस दंड देवे ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा । समाप्नुयाद्वमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥

अर्थ—बराबरके मूल्य देनेवालेको जो घटिया बढिया चीज देनेका व्यवहार करता है अथवा जो समान मूल्यके द्रव्यको देके, अर्थात् किसी चीजको देके किसीसे घटाबढाके मूल्य लेता है वह मनुष्य प्रथम साहस वा मध्यम साहस दंड देनेको योग्य है ॥ २८७ ॥ राजा बंधनके बेडी आदिके मकानोंको मार्गमें बन जावे जहां पापकरनेवाले विकृतहुए उन दुःखित पुरुषोंको सब देखें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् । द्वाराणां चैव भङ्गारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥ अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः । मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

अर्थ—और राजाके कोट दीवालआदिको तोड़नेवाला वा खाहीको भरनेवाला वा उसको दरवाजोंको तोड़नेवाला ऐसे पुरुषको राजा शीघ्रही अपने देशसे निकलवा देवे ॥ २८९ ॥ संपूर्ण अभिचारोंमें अर्थात् शास्त्रोक्त मारणमंत्र यंत्र होम आदि घायलके कर्तव्योंमें और किसीको मोहके धनग्रहणकेवास्ते वशीकरणमें तथा अनेक प्रकारके उच्चाटन आदिकर्मोंमें दोसौ २०० पण दंड देवे और जो इन कामोंमें मरना हो जावे तो करनेवालेको खूनकी सजा देवे ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च । मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥ सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्तमानमन्याये छेदयेत्त्वशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

अर्थ—जो नहीं जामनेलायक बीजको अच्छा बताके बेचता है और जो यह सबसे अच्छा है ऐसे उत्कृष्ट कहके बीजको बेचता है जो सीम आदिमर्यादको तोड़ता है उसको विकृत वधकों प्राप्त होवे अर्थात् नाक कान आदि काटनेके यो-

ग्य है ॥ २९१ ॥ सब ठगोंमें असंत पापवाला जो सुनार कांटेसे तोलेहुए सुवर्ण आदिमें खोट मिलाके तिस सुवर्णको अन्यायसे हरलेवे उसका कसूर देखके संपूर्ण शरीर शस्त्रसे काट डाले टुकड़े बना देवे ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्यं च राजा
डाण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ
सुहृत्तथा । सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

अर्थ—हल कुश आदिकृष्यमाणभूमि द्रव्योंके हरनेमें शस्त्रोंके हरनेमें वा औषधोंके हरनेमें खट्वा आदिके हरनेमें राजाकालकी और प्रयोजनकी अपेक्षा देखके दंड देवे ॥ २९३ ॥ राजा मंत्री राजाका नगर राज्य देश खजाना दंड अर्थात् हस्ती अश्व पियादे मित्र ये सात प्रकृति कहाती है ऐसे सात अंगोंवाला राज्य कहाता है ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं
जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥ सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य
त्रिदण्डवत् । अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

अर्थ—इन सात राजप्रकृतियोंमें इस पूर्वोक्त यथार्थ क्रम उत्तर उत्तर पिछली प्रकृतिके नाश होनेमें पहली पहली प्रकृतियोंके अत्यंत दुःख होता है जैसे मित्रके सेनाको व्यसन सेनाके नाशमें खजानाको तिसके अभावमें राज्यको इस क्रमसे जानों ॥ २९५ ॥ इस राज्यके सप्ताङ्गमें अर्थात् सात अंगोंमें यतीके प्रसिद्ध त्रिदंडकी तरह कोनसाभी अधिक नहीं है जैसे यतिजनके एक दंडका शास्त्रमें कुछ अधिक फल नहीं कहा है तैसेही अन्योन्य आपसके गुणोंकी अपेक्षा होनेसे इन प्रकृतिमें कोई अधिक नहीं है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन यत्साध्यते कार्यं
तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥ चारेणोत्साहयोगेन क्रियैव च
कर्मणाम् । स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

अर्थ—तिन तिन कृत्योंमें जिस जिस अंगसे जो जो कार्य सिद्ध होता है वही अंग उसी कार्यमें श्रेष्ठ है और दूसरे अंगसे उस कार्यकी सिद्धि न होनेसे उसी अंगको प्रधानता है ॥ २९७ ॥ सप्तम अध्यायमें कहेहुए जासूसोंकरके अथवा

सेनाके उत्साह योगसे और कामोंकी कारगरवाईकी देखनेसे राजा अपनी शक्ति को और शत्रुकी सामर्थ्यको सदा जान लेवे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च । आरभेत ततः कार्यं
संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः
पुनः पुनः । कर्माण्यारम्भमाणं हि पुरुषं श्रीर्नीषेवते ॥ ३०० ॥

अर्थ—सब प्रकारके पीडनोंको और कामक्रोध आदि दुःखोंको अपने तथा शत्रुके गुरु लघु कमज्यादैको विचारके राजा सुलह करलेवे अथवा युद्धके कामको प्रवर्त्त करे ॥ २९९ ॥ श्रान्तहुआ हुआ राजाभी अपने राज्यकी वृद्धि केवास्ते वारंवार कामोंको प्रारंभही करता है क्योंकि कर्मोंको प्रारंभ करताहुआ पुरुष लक्ष्मीको पाता है ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरंकलिरेव च । राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा
हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ कलिः प्रसुप्तो भवति सजाग्रद्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ—सत्ययुग त्रेता द्वापर कलियुग ये ४ युग राजाहीकी चेष्टा तथा वर्त्ताव आदि है क्योंकि राजासेही सत्य आदि युगोंकी प्रवृत्ति होती है इसवास्ते राजा-को युग कहते है ॥ ३०१ ॥ जब अज्ञान आलस्य आदिकोंसे राजा सोता है तब कलियुग है जब जानताहुआ राजा तिन कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करता है तब द्वापर है और जब कर्मोंके अनुष्ठानमें स्थित होता है तब त्रेता है जब शास्त्रके अनुसार वारंवार कर्मोंका अनुष्ठान करता है और विचरता है तब सत्य-युग है ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च । चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च
तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥ वार्षिकाश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभि-
प्रवर्षति । तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

अर्थ—इंद्र सूर्य वायु यम वरुण चंद्रमा अग्नि पृथ्वी इनके तेजरूप कर्मको राजा करे ॥ ३०३ ॥ जैसे चातुर्मासमें इंद्र सस्यकी समृद्धिकेअर्थ वर्षता है तैसेही इंद्र-के चरित्रका अनुष्ठान करताहुआ राजा अपने देशमें आयेहुए साधुजनोंके वांछित मनोरथ पूर्ण करे ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः । तथा हरेत्करं राष्ट्रा-

नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥ प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति
मारुतः । तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

अर्थ—जैसे सूर्य मंगशिर आदि आठ महिनोतक अपनी किरणोंकरके जलको
सुखाता है तैसेही राजा अपने राज्यसे करलेता रहे क्योंकि यह राजाका नित्य-
कर्म कहा है ॥ ३०५ ॥ जैसे प्राण वायु सब जीवोंके भीतर प्रवेश होकर विच-
रता है तैसेही राजा जासूसोंकरके अपने और पराये राजाके अंतरमें प्रवेश होके
सब कामोंको जानें क्योंकि यह मारुतव्रत कहाता है ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति । तथा राज्ञा नियन्त-
व्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥ वरुणेन यथा पाशैर्वद्ध एवा-
भिदृश्यते । तथा पापान्निगृहीयाद्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ—जैसे यम पुण्यात्मा वा पापीसे प्राप्त कालमें प्रियता और द्वेषपना करता
है तैसेही राजाको अपराध कालमें प्रजाको दंड देना और अन्य कालमें रक्षा
करनी यह यमव्रत कहाता है ॥ ३०७ ॥ पापी पुरुष वरुणकी फांसीकरके
बंधाहुआही जैसे दिखता है तैसेही राजा पापियोंको निःशंक होके शिक्षा
देवै यह वारुणव्रत कहाता है ॥ ३०८ ॥

परिपूर्ण यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः । तथा प्रकृतयो यस्मि-
न्स चन्द्राव्रतिको नृपः ॥३०९॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्या-
त्पापकर्मसु । दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

अर्थ—जैसे परिपूर्ण चंद्रमाको देखके सब मनुष्य प्रसन्न होते हैं तैसेही हर्ष उ-
त्पन्न करनेसे राजाकी सब प्रकृति प्रसन्न रहै यह राजाका चंद्रव्रत कहाता है ॥ ३०९ ॥
पापकरनेवालोंपर नित्यप्रति दंडपातकरनेसे प्रतापयुक्तहुआ तेजस्वी रहै और
दुष्ट मंत्री आदिकोंके मारनेमें तत्पर हो यह इसका अग्निव्रत कहा है ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् । तथा सर्वाणि भूतानि
बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥३११॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तौ नित्यमत-
न्द्रितः । स्तेनान् राजा निगृहीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

अर्थ—जैसे पृथ्वी सब भूत जीव मात्रोंको बराबर धारण रखती है तैसेही सब
प्राणियोंको राजा समान रखे यह इसको पार्थिवव्रत कहाता है ॥ ३११ ॥

इन उक्त उपायोंकरके और अन्य उपायोंकरके राजा आलस्य रहित हुआ अपने राज्यमें अथवा पर राज्यमें चौरोंको पकड़े सजा देवे ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् । ते ह्येनं कुपिता हन्युः
सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥ यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च
महोदधिः । क्षयी चाप्यायितः सोमः कोन नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥ ३१४

अर्थ—खजानें आदिको नाशको प्राप्त हुआ भी राजा ब्राह्मणोंको क्रोध नहीं करवावे क्योंकि कुपित हुए वे ब्राह्मण इस राजाको बल वाहनोंसमेत शीघ्रही नष्ट कर देते हैं ॥ ३१३ ॥ जिन ब्राह्मणोंके शापकरके अग्नि सब वस्तुओंको भक्षण करनेवाला कर दिया और समुद्र अपेय अर्थात् खारा कर दिया चंद्रमा कलाओंसे क्षीण कर दिया तिन ब्राह्मणोंको क्रोध कराके कौन नहीं नष्ट होवे ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यात्सृजेयुर्ये लोकपालाश्च कोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांश्च
कः क्षिण्वंस्तान्समृधुयात् ॥ ३१५ ॥ यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका
देवाश्च सर्वदा । ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः ॥

अर्थ—जो स्वर्ग आदि अन्य लोकोंको और लोकपालोंको रचरच ऐसे उनकी संभावना है और कोप होके देवताओंको मनुष्य कर देवे तिनको पीडा देता हुआ कौन समृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३१५ ॥ यज्ञ आदि करने करानेसे जिनके आश्रय हुए स्वर्गादिक लोक ठहरते हैं और सर्वदा देवते जिनके आश्रय हैं जिनके मोक्षसाधन वेदधन हैं ऐसे तिन ब्राह्मणोंको जीवनेकी इच्छा करनेवाला कौन मारे ॥ ३१६ ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् । प्रणीतश्चाप्रणीतश्च
यथाग्निदैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको
नैव दुष्यति । हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

अर्थ—मूर्ख हो अथवा विद्वान् हो ब्राह्मण महान् देव है जैसे मंत्रादिकोंसे संस्कार किया हुआ अथवा विनासंस्कार किया हुआ अग्नि महान् देव है तैसे ॥ ३१७ ॥ तेजवाला अग्नि श्मशानमें भी शवको जलाता हुआ दोषभागी नहीं होता किंतु यज्ञमें आव्हान किया हुआ फिर बढ़ता है ॥ ३१८ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु । सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः
परमंदैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥ क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति
सर्वशः । ब्रह्मैव संनियन्तुस्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अर्थ—ब्राह्मण यद्यपि संपूर्ण अनिष्ट कर्मोंमें भी वर्तते हैं परंतु तब भी सब प्रकारसे पूजने योग्य है वे प्रकृष्ट देवता हैं यह स्तुतिका वचन है कहीं विरोधकी शंका नहीं करनी ॥ ३१९ ॥ ब्राह्मणोंके प्रति पीडासे अनुवृत्त हुए क्षत्रियोंका सर्वदा ब्राह्मणही उद्धार बंदोबस्त करे क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणोंसेही उत्पन्न भये हैं ॥ ३२० ॥

अग्न्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् । तेषां सर्वत्रगं तेजः
स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥ नाब्रह्म क्षत्रमृधोति नाक्षत्रं ब्रह्म
वर्धते । ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चासुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जलसे अग्नि ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है इसी-वास्ते अग्नि क्षत्रिय लोहा इनका सब जगह बल रहता है परंतु अपनी योनिमें तेज नहीं रहता अर्थात् जल ब्राह्मण पत्थर इनमें ये अग्नि आदि शांत होजाते हैं ॥ ३२१ ॥ ब्राह्मण रहित क्षत्रिय नहीं बढ़ता है और क्षत्रिय रहित ब्राह्मण नहीं बढ़ता है किंतु ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों मिलके आपसमें इस लोकमें वा परलोकमें वृद्धिको प्राप्त होते हैं अर्थात् आपसकी सहायतासे बढ़ते हैं ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् । पुत्रे राज्यं समासृज्य
कुर्वीत प्रायणं हरे ॥ ३२३ ॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजा धर्मेण
पार्थिवः । हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंकेवास्ते संपूर्ण दंडके धनको देके और अपने पुत्रकेवास्ते राज्य सौंपके मरनेके समीप राजा अत्यंत फल वैकुण्ठलोककी प्राप्तिकेवास्ते युद्धमें अथवा अनशन आदि व्रतमें प्राणोंका त्याग करे ॥ ३२३ ॥ इस तरह पूर्वोक्त कहे-हुए राजधर्मोंमें युक्त इन आचरणोंको करताहुआ राजा संपूर्ण प्रजाके हितके वास्ते अपने सब भृत्योंको नियुक्त करे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः । इमं कर्मविधिं वि-
द्याकमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा

दारपरिग्रहम् । वार्ताया नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

अर्थ—यह परंपरासे चला आता हुआ सनातन राजाके कर्मकी संपूर्ण विधि कही है अब क्रमसे वैश्य और शूद्रके कर्म विधिको आगे कही हुईको जानों ॥ ३२५ ॥ उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत आदि संस्कार कियाहुआ वैश्य विवाह आदिककरके आगे कहीहुई कृषिकर्म आदि आजीविकामें और पशुओंके पालनेमें सदा युक्त रहे ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्यायसृष्ट्वा परिददे पशून् । ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥ न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति । वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

अर्थ—क्योंकि ब्रह्माजी पशुओंको रचके वैश्यकेवास्ते देते भये इसवास्ते वैश्यको पशु पालने चाहिये, और ब्रह्माजी अपनी रचीहुई सब प्रजाको रक्षाकेवास्ते ब्राह्मणको तथा राजाको देते भये ॥ ३२७ ॥ मैं पशुओंकी रक्षा न करूं ऐसी इच्छा वैश्यको कभी न करनी चाहिये और जब वैश्य पशुकी रक्षा करता हो तब अन्य किसीको रक्षा करनी योग्य नहीं है ॥ ३२८ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च । गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घवलाबलम् ॥ ३२९ ॥ बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्थ च । मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ३३०

अर्थ—मणि मोती मूंगा लोहा वस्त्र और कपूर आदि गंध वस्तु लवण आदि रस इनका भाव देश कालकी अपेक्षासे वैश्य सदा जानें ॥ ३२९ ॥ सब बीजोंके बीजोंकी विधिको जाननेवाला होवे और ऊपर भूमि आदि खेतके गुण दोषको भी जाननेवाला होवे और सेर आदिमान तथा तोलकोभी जाननेवाला होवे ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् । लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥ भृत्यानां च भृतिं विद्याद्वाषाश्च विविधा नृणाम् । द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रय्येक्रियमेव च ॥ ३३२ ॥

अर्थ—भाण्डोंका सार असार जानें अर्थात् यह द्रव्य श्रेष्ठ है यह उच्छिष्ट है और देशोंके गुणदोषोंको जानें अर्थात् इस देशमें यह फायदा है यह नुकसान

है तथा बेचनेकी द्रव्योंको लाभ अलाभ जानै अर्थात् इसको इतने काल रखनेसे यह फायदा है यह नुकसान है और तैसेही इस देशमें इस समयमें इस पानी घास आदिसे पशू बढ़ते हैं इससे नाश होते हैं ॥ ३३१ ॥ नौकरोंकी तनक्खाहको जाननेवाला और अनेक देशके मनुष्योंकी बोलीको पहिचाननेवाला मालके अच्छी तरह रहनेका स्थान योगको जाननेवाला और बेचने खरीदनेको जाननेवाला ऐसा वैश्य होवे ॥ ३३२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्तमुत्तमम् । दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥ विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् । शुश्रुषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

अर्थ—धर्मकरके बेचने खरीदनेके व्यवहारकरके द्रव्य बढ़नेमें उत्तम यत्न करे और संपूर्ण प्राणियोंको विशेषकरके अन्नही देवे अर्थात् अन्नका व्यवहार विशेष रखे ॥ ३३३ ॥ वेदके पढ़ेहुए विद्वान् गृहस्थी अपने धर्मके अनुष्ठानसे यश प्राप्तिवाले ऐसे ब्राह्मणोंकी सेवा करनी यही शूद्रका परमधर्म है स्वर्ग आदिका हेतु है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥ एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः । आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

अर्थ—पवित्र रहनेवाला अच्छी टहैल करनेवाला मुलायम बोलनेवाला अहंकारसे रहित ब्राह्मण आदि तीन जातियोंके आश्रय रहनेवाला ऐसा शूद्र अपनी योनिमें उत्तम जाति कहलावेगा ॥ ३३५ ॥ यह शुभकर्मविधि सब वर्णोंकी आपत्ति रहित समयमें कही है अब जो आपत्कालकी विधि है उसको क्रमसे सुनों ॥ ३३६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषा
नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥ सर्वेषां ब्राह्मणो विद्यादृत्त्युपायान्यथा-
विधि । प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ—अपने कर्ममें सावधानहुए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीनों जाति वर्ण
वेदको पढ़ें और इनमें पढ़ानेवाला ब्राह्मण होवे क्षत्रिय वैश्य अन्यको पढ़ावे
नहीं अर्थात् ब्राह्मणके सकाशसे आप पढ़ लेवे ऐसा निर्णय कहा है ॥ १ ॥ स-
ब वर्णोंका आजीवनका उपाय शास्त्रके अनुसार ब्राह्मण जानें क्षत्रिय आदि-
कोंकेवास्ते ब्राह्मण उपदेश करे और आपभी तैसेही शास्त्रोक्त नियमोंका आच-
रण करे ॥ २ ॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठयान्नियमस्य च धारणात् । संस्कारस्य विशेषा-
च्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा
द्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

अर्थ—जातिकी उत्कर्षतासे और ब्रह्माजीके उत्तम अंगमुखसे उत्पन्न होनेसे
और वेदके पठनपाठनकेवास्ते धारण करनेसे संस्कारकी अधिकता होनेसे सब
वर्णोंका प्रभु ईश्वर ब्राह्मण है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीनों वर्ण संस्का-
र होनेसे द्विजाति है और चौथा वर्ण एकजाति शूद्र इनसे जुदा पांचवा कोई
वर्ण नहीं है ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूता जा-
त्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादि-
तान्सुतान् । सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अर्थ—संपूर्ण वर्णोंमें समान जातिकी और परपुरुषके संपर्कसे रहित शुद्ध क-
न्यामें शास्त्रके अनुसार विवाह होके जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे उसी अपनी जा-
तिके होते हैं ऐसे जानना ॥ ५ ॥ क्रमकरके अन्य जातियोंकी स्त्रियोंमें द्वि-
जोंकरके उत्पन्नहुए पुत्र अर्थात् ब्राह्मणसे क्षत्रियामें क्षत्रियसे वैश्यामें उत्पन्न
हुए पुत्रोंको मन्वादिक पिताकी सदृश कहते हैं क्योंकि वे माताके दोषसे निदि-
त है इससे साक्षात् पिताकी जाति नहीं है ॥ ६ ॥

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः । द्व्येकान्तरासु जातानां

धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो
नाम जायते । निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—अपनी जातिसे एक दर्जे हीन जातिवाली स्त्रियोंमें संतान उत्पन्न होनेकी यह सनातनविधि कही अब दो दर्जे हीन जातियोंवाली स्त्रियोंमें उत्पन्न होनेकी अर्थात् ब्राह्मणसे वैश्यामें क्षत्रियसे शूद्रामें उत्पन्न होवे ऐसे जनोकी आगे कही-हुई विधिको जानों ॥ ७ ॥ ब्राह्मणसे विवाहीहुई वैश्यकी कन्यामें उत्पन्न होने-वाला अंबोष्ठनाम जाति कहाता है और ब्राह्मणसे शूद्रकी कन्यामें उत्पन्न होने-वाला निषाद जाति कहाता है तिसको पारशवभी कहते हैं ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् । क्षत्रशूद्रवपूजन्तुरुग्रो
नाम प्रजायते ॥ ९ ॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ—क्षत्रियके सकाशसे शूद्रकी कन्यामें जो उत्पन्न होता है वह क्रूर आचरण करनेवाला और क्षत्रिय शूद्रके स्वभाववाला ऐसा उग्रनामवाला पुत्र कहाता है ॥ ९ ॥ ब्राह्मणके सकाशसे क्षत्रिय आदि तीन वर्णकी स्त्रियोंमें उत्पन्नहुए और क्षत्रियके वैश्य शूद्र इन दो वर्णकी स्त्रियोंमें उत्पन्नहुए वैश्यके शूद्रामें उत्पन्नहुए ये छह पुत्र अपसद कहाते हैं अर्थात् सजातीयास्त्रीके पुत्रोंसे निकृष्ट कहाते हैं ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः । वैश्यान्मागधवैदेहौ
राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चा-
धमो नृणाम् । वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

अर्थ—क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होवे वह सूत कहाता है और वैश्यसे क्षत्रियामें उत्पन्न होवे वह मागध कहाता है तथा वैश्यसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होवे वह वैदेह कहाता है ॥ ११ ॥ शूद्रसे वैश्यामें वा क्षत्रियामें वा ब्राह्मणीमें उत्पन्न होनेवाले क्रमकरके आयोग व क्षत्ता मनुष्योंमें अधम चंडाल ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ । क्षत्रवैदेहकौ तद्व-
त्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥ पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजा क्रमे-
णोक्ता द्विजन्मनाम् । ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

अर्थ—एक वर्णके अनुलोमकरके अर्थात् एक दर्जे निकृष्ट योनिकी स्त्रीमें उत्पन्नहुए पुत्र जैसे अंबाष्ठ और उग्र नामवाले कहे हैं तैसेही प्रतिलोमसे जन्म होनेमें क्षत्ता और वैदेह ये दो पुत्र कहदिये हैं ॥ १३ ॥ क्रमकरके जो द्विजन्माओंके सकाशसे अनंतर अर्थात् निकृष्ट योनिकी स्त्रीमें उत्पन्नहुए पुत्र हैं वे माताके दोष होनेसे अनंतर नामवाले कहाते हैं ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते । आभीरोऽम्बष्ठकन्या-
यामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥ आयोगवश्च क्षत्ता च च-
ण्डालश्चाधमो नृणाम् । प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः १६

अर्थ—ब्राह्मणके सकाशसे उग्र जाति कन्यामें उत्पन्न हुआ पुत्र आवृतनाम-
वाला कहाता है और अम्बष्ठ जातिकी कन्यामें उत्पन्न हुआ आभीर कहाता है
और ब्राह्मणके सकाशसे पूर्वोक्त आयोग जातिकी कन्यामें उत्पन्न हुआ पुत्र धिग्व-
ण जाति कहा है ॥ १५ ॥ आयोग व क्षत्ता चंडाल ये मनुष्योंमें अधम तीनों
प्रतिलोमकरके शूद्रके सकाशसे ब्राह्मणी आदि स्त्रियोंमें होते हैं ये तीनों निकृष्ट हैं ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु । प्रतीपमेते जायन्ते प-
रेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥ जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति
पुक्कसः । शूद्राजातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

अर्थ—वैश्यसे क्षत्रिया और ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुए मागध वैदेह और क्ष-
त्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न सूत येभी प्रतिलोमसे उत्पन्न होनेसे तीनों निकृष्ट कहाते
हैं ॥ १७ ॥ निषादजातिसँ शूद्रामें उत्पन्न हुआ पुत्र पुक्कसजाति कहाता है
और शूद्र पुरुषसे निषाद जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुआ कुक्कुटक ऐसा कहाता है ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते । वैदेहकेन लम्बष्ठ्या-
मुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु
यान् । तान्सावित्रिपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अर्थ—क्षत्ताके सकाशसे उग्राजाति स्त्रीमें होनेवाला श्वपाक कहाता है वैदेहसे
अम्बष्ठामें उत्पन्न होनेवाला वेण ऐसी जाति कहाता है ॥ १९ ॥ द्विजाति पुरुष
जो अपनी सजातीया स्त्रीमें जिन पुत्रोंको उत्पन्न करते हैं वेही जो यदि उपन-
यन संस्कारसे रहित होजाते हैं उनको व्रात्यसंज्ञक जानें ॥ २० ॥

ब्राह्म्यानु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः । आवन्त्यवाटधानौ
च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥ झल्लो मल्लश्च राजन्याद्रात्यान्निच्छि-
विरेव च । नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

अर्थ—ब्राह्म्यसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुआ पुत्र पापस्वभाववाला भूर्जकण्टक जा-
तिवाला होता है और आवन्त्य वाट धान पुष्पध येभी होते हैं अर्थात् देशभेदसे
इन नामोंके भेद उसी जातिके है ॥ २१ ॥ ब्राह्म्य संज्ञक क्षत्रियसे सवर्णा क्षत्रि-
यामें उत्पन्न होनेवाला झल्ल मल्ल निच्छिवि नट करण खस द्रविड ये पुत्र होते हैं
ये सब नाम देशभेदसे एकहीके हैं ॥ २२ ॥

वैश्यानु जायते ब्राह्म्यात्सुधन्वाचार्य एव च । कारूषश्च विजन्मा
च मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥ व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदने-
न च । स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

अर्थ—ब्राह्म्यसंज्ञक वैश्यसे अपनी सजातीया स्त्री वैश्याहीमें उत्पन्न होनेवाला
धन्वाचार्यका पुरुष विजन्मा मैत्र सात्वत इननामोंवाले पुत्र है येभी सब एकही जा-
तिके नामभेद हैं ॥ २३ ॥ ब्राह्मणआदिवर्णोंके परस्त्रीके संग गमनकरनें वा स-
गोत्राआदिके संग विवाहकरानेसे अथवा उपनयनआदि अपने कर्मोंका त्याग
करनेसे वर्णसंकरसंज्ञक जाति पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः । अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च
तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥ सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च
नराधमः । मागधः क्षत्रजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अर्थ—जो संकीर्ण अर्थात् परस्पर जातिके मिलापसे प्रतिलोम अनुलोमकरके
परस्पर संबंधसे उत्पन्न हुए हैं तिन सबको विशेष करिके आगे कहेंगे ॥ २५ ॥ सूत
वैदेह मनुष्योंमें अधम चण्डाल मागध क्षत्रजाति, आयोगव इनकोभी कहेंगे २६

एते षट्सदृशान्वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु । मातृजात्यां प्रसू-
यन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥ यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मा-
स्य जायते । आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् २८

अर्थ—ये पूर्वोक्त छह जाति अपनी योनिमें माताकी जातिमें और ब्राह्मणी-
आदि उत्तम जातिकी स्त्रीमें जो पुत्र उत्पन्न करतें हैं वे उन पिताओंकेही समान

होते हैं जैसे शूद्रके सकाशसे वैश्या स्त्रीमें आयोगव होता है सो अपनी जाति आयोगवीमें वा माताकी योनि वैश्यामें वा उत्तम जाति ब्राह्मणी आदिकमें तथा शूद्रामेंभी जो पुत्र उत्पन्न करता है वह उस आयोगवकेही समान है ॥ २७ ॥ जैसे तीनोंवर्णोंमें अनुलोमकरके ब्राह्मणसे क्षत्रिया वा वैश्यामेंभी द्विज उत्पन्न होता है और ब्राह्मणीमें भी द्विज उत्पन्न होता है तैसेही अपनी योनिसे आनंतर्ग्य पुरुषसे अपनी योनिमें उत्पन्न होनेवाला है वा बाह्यके जनोंमेंभी यह क्रम है जैसे वैश्यसे क्षत्रियामें क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें ऐसे द्विजोंके आपसमें प्रतिलोमसे संतान होना द्विजही है यह वचन शूद्रसे ब्राह्मणीआदिकमें प्रतिलोमसे उत्पन्न हुए इसको श्रेष्ठ कहनेकेवास्ते है ॥ २८ ॥

ते चापि बाह्यान् सुबहूँस्ततोऽप्यधिकदूषितान् । परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥ यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यश्रातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त वेभी छह आयोगवआदिक परस्पर अनुलोमकरके आपसकी जातिकी स्त्रियोंमें बहुतसी संतानको उत्पन्न करते हैं और वह संतान उनसेभी अधिक दूषित निंदित होती है ॥ २९ ॥ जैसे शूद्र ब्राह्मणीमें नीच जाति चंडालको उत्पन्न करता है तैसेही चारवर्णोंके स्त्रियोंमें वे अधम चंडाल उस पूर्व चंडालसेभी हीन जातिको उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्तमानबाह्याबाह्यतरान्पुनः । हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् । सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

अर्थ—प्रतिकूलवर्तनेवाले अधम चंडाल आदि तीन जाति चारवर्णोंकी स्त्रियोंमें अपनेसे निकृष्टहीन जाति संतानको उत्पन्न करते हैं एकसे एक हीन होता है जैसे चार वर्णोंकी स्त्रियोंमें तीन अधमोंसे तीन तीन होके १२ हुए और तीन वे उत्पन्न करनेवाले ऐसे पंद्रह निकृष्टजातिके जन उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥ वाल आदि धोना हाथ पैर आदि धोना दावना ऐसे कामोंकरके जीवन करनेवाला वा यज्ञआदिकेवास्ते मृगआदि सिकार मारनेवाला और सैरिन्ध्रनामवाला ऐसा पुत्र आगे कहाहुआ दस्युसे आयोगवी स्त्रीमें उत्पन्न होता है शूद्रसे वनि-यांनीमें हो वह आयोगवी होती है ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते । नृन्प्रशंसत्यजसं यो घण्टा-
ताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥ निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजी-
विनम् । कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

अर्थ—वैश्यसे ब्राह्मणीमें हुआ वैदेह आयोगवी स्त्रीमें मधुर बोलनेवाला मैत्रेय नाम पुत्रको उत्पन्न करता है वह मैत्रेय प्रातःकाल घंटा बजाके राजा आदिकोंकी निरंतर स्तुति करता है यही उसकी वृत्ति है ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणसे शूद्रांमें उत्पन्न हुआ निषाद आयोगवी स्त्रीमें मार्गव अर्थात् दास नामकको उत्पन्न करता है आर्यावर्तके निवासी जन तिसको कैवर्त अर्थात् नौकाको वहानेवाला धीमर कहते हैं ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीगर्हितान्नाशनासु च । भवन्त्यायोगवीष्वेते
जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥ कारावरो निषादात्तु चर्मकारः
प्रसूयते । वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

अर्थ—सैरिंध्र मैत्रेय मार्गव ये तीनहीन जाति पुरुष मृतके वस्त्रोंको पहिननेवाली क्रूर उच्छिष्ट भोजन करनेवाली ऐसी आयोगवी स्त्रीमें उत्पन्न होनेवाले पुरुष पिताकी जातिसे अलग अलग होते हैं ॥ ३५ ॥ निषादसे वैदेहिक जाति स्त्रीमें उत्पन्न होनेवाला कारावरसंज्ञक कहाता है और चामके कर्मोंको करनेवाला कहाता है और वैदेहिक सैरिंध्र इन भेदोंवाले ग्रामसे बाहिर रहनेवाले होते हैं ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् । आहिण्डिको नि-
षादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥ चण्डालेन तु सोपाको मू-
लव्यसनवृत्तिमान् । पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

अर्थ—चंडालसे वैदेहीमें उत्पन्न होनेवाला पांडु सोपाक नामवाला और वांसके पंखा तथा छाज वगैरह बनाके जीवनेवाला होता है और निषादसे वैदेही स्त्रीमें आहिण्डिक नामवाला उत्पन्न होता है ॥ ३७ ॥ शूद्रा स्त्रीमें निषादसे जन्मी हुईको पुक्कसी कहते हैं तिस पुक्कसीमें चंडालसे जन्मा हुआ सोपाक कहाता है वह पापात्मा और साधु पुरुषोंसे निंदित होता है और जल्लादकी वृत्तिवाला होता है ॥ ३८ ॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् । श्मशानगोचरं सूते

बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥ संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृ-
प्रदर्शिताः । प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

अर्थ—निषाद जातिकी स्त्रीमें चंडालसे जन्मा हुआ पुत्र अंत्यावसायी नामजा-
ति कहाता है और चंडालसेभी अत्यंत नीच सबसे अधम श्मशानमें रहनेवाला
और श्मशानकीही वृत्ति करनेवाला होता है ॥ ३९ ॥ वर्णसंकरके विषयमें ये
जाति इसवास्ते दिखाई गई हैं कि इसकी यह माता है और यह बाप है इस भेदके
वास्ते और गुप्त अथवा जाहिरकी जातियोंको अपने अपने कर्मोंसे जानें ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः । शूद्राणां तु सध-
र्माणः सर्वेपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ तपोबीजप्रभावैस्तु ते ग-
च्छन्ति युगेयुगे । उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—द्विजातियोंके तीन पुत्र सजातीया स्त्रीमें जैसे ब्राह्मणके ब्राह्मणीमें इस
क्रमसे ३ है और तीन अनुलोमकरके जैसे जैसे ब्राह्मणसे क्षत्रिया क्षत्रियसे वै-
श्यामें ऐसे छह पुत्र द्विजधर्मवाले हैं और अन्य प्रतिलोमसे होनेवाले सूत आदि
सब पुत्र शूद्रके समान धर्मवाले हैं ॥ ४१ ॥ सजातीय स्त्रियोंमें उत्पन्न होनेवाले
वा अनंतर स्त्रियोंमें उत्पन्न होनेवाले पुरुष तपके प्रभावसे युगयुगके प्रति उत्क-
र्ष जातिको प्राप्त हो जाते हैं और आने कहेहुए हेतुसे निकृष्ट जातिकोभी प्राप्त
हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके
ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रकाश्चौड्रविडाः काम्बोजा य-
वनाः शकाः । पारदापह्नुवाश्चीनाः किरता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

अर्थ—ये क्षत्रिय जाति, उपनयन आदि क्रियाओंके लोप होनेसे और या-
जन अध्यापन आदि प्रायश्चित्त आदिकेवास्ते ब्राह्मणोंके दर्शनके अभाव होनेसे
शनैशनै संसारमें शूद्रताको प्राप्त हवें ॥ ४३ ॥ पौंड्रश्चौड्र विड कांबोज यवन
शक पारद अपलह्व चीन किरात दरद खश इन देशोंमें उत्पन्न होनेवाले क्षत्रिय
क्रिया लोप होनेसे शूद्रताको प्राप्त भये ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपजानां या लोके जातयो बहिः । स्लेच्छवाचश्चार्यवाचः
सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥ ये द्विजानामपसदा ये चापध्वं-
सजाः स्मृता । ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इनकी जो क्रिया लोपसे बाह्य जाति हुई वे सब म्लेंच्छ भाषासे युक्त अथवा आर्य भाषासे युक्त दस्युसंज्ञक कहाते हैं ॥ ४५ ॥ जो पहले द्विजोंमें अनुलोमसे उत्पन्न होनेवाले अपसदसंज्ञक कहे हैं और प्रतिलोमसे उत्पन्न होनेवाले अपध्वंसज कहे हैं वे द्विजातियोंके उपकारक आगे कहेहुए निन्दित कर्मोंसे आजीवन करे ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् । वैदेहकानां स्त्रीकार्यं
मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥ मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टि-
स्त्वायोगवस्य च । मेदान्ध्रचुश्रुमद्रूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—सूतोंको अश्व हिलाना आदि रथका सारथी यह आजीवन है अम्बष्ठोंको शरीरके शल्य आदिकी चिकित्सा वैदेहोंकेवास्ते जनानें महलोंका काम मागधोंकेवास्ते वनियोंका काम ये ये इनके आजीवन है ॥ ४७ ॥ निषादोंकेवास्ते मच्छियोंका मारना आजीवन है आयोगवकेवास्ते काष्ठका छीलना घसना आजीवन है और भेद अंध्र चंचु मद्रु इनकेवास्ते वनमें मृग आदि पशु जानवर इनके मारनेसे आजीवन कहा है चंचुमद्रुये वैदेहक बंदी इनकी स्त्रियोंमें ब्राह्मणसे होते हैं ॥ ४८ ॥

क्षत्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् । धिग्वणानां चर्मकार्यं
वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु
च । वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

अर्थ—क्षत्ता उग्र पुक्कस इनका आजीवन बिलमें रहनेवाले गोह आदि जीवोंका मारना कहा है और धिग्वणोंका आजीवन चामका काम बनाना तिन जीवोंका वेचना यह आजीवन है और वेणोंका आजीवन ताशेढफडे नफीरी आदि बजाना है ॥ ४९ ॥ ग्रामोंके समीप बड़े वृक्षके नीचे वा श्मशानभूमिमें पर्वतके समीप, बाग बगीचोंमें अपने कर्मोंको करते हुए प्रसिद्ध हुए ये पूर्वोक्त निषाद आदि वास करे ॥ ५० ॥

चण्डालश्चपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्तव्या
धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥ वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भो-
जनम् । कार्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

अर्थ—चंडाल और श्वपाकोंका निवास ग्रामसे बाहिर होना चाहिये और निषिद्ध पात्रवाले हों और इनका धन कुत्ता वा गद्धा है और मृतपुरुषके वस्त्र वा पुराने चिंधरे इनके कपडे हों खपरेल आदि फूटे वरतन भोजनकेवास्ते हों लोहाके कडे आदिका आभूषण होवे और ये रातदिन भ्रमते रहें ॥५१॥ ५२ ॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां
विवाहः सदृशैः सह ॥५३॥ अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्विन्नभा-
जने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

अर्थ—धर्मके अनुष्ठानसमय इन चंडाल आदिकोंके संग दर्शन आदि व्यवहार न करे और इनका विवाह तथा लेन देन सब बराबर वालोंकेसाथ आपसमेंही हों ॥ ५३ ॥ इनकेवास्ते अन्न अपने हाथसे न देवे किंतु अन्य पात्रमें रखके भृत्य आदिके हाथसे दिवावे और ये चंडाल श्वपच आदि रात्रिके समयमें ग्राम तथा शहरोमें नहीं फिरें ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः । अबान्धवं शवं चैव
निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं
नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

अर्थ—अपने कामकेवास्ते ग्रामादिकोंमें राजाकी आज्ञासे किसी वस्तुका चिन्ह किय हुए दिनमें विचरें और जिसका कोई वारिस न होवे ऐसे मुरदेको ग्रामसे बाहिर लेजावें वह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ५५ ॥ शूली फांसी होनेंलायक वध्य पुरुषोंको ये चंडाल आदि शास्त्रके अनुसार राजाकी आज्ञासे फांसी आदि देके वध करे और उस वध्य पुरुषके वस्त्र गहनें शय्या आदिकोंको ग्रहण करे ॥५६॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् । आर्यरूपमिवानार्यं क-
र्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता नि-
ष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—वर्णसंकर हुआ मनुष्य गुप्त हो किसीको मालूम न हो आर्यरूपकी तरंग वर्णमें मिलरहा हों उसको निंदित कर्मोंके ऐसे आचरणोंसे पहिचानें ॥ ५७ ॥ दुष्टपना कठोरता क्रूरपना शील तथा कर्मानुष्ठानसे रहितता इन लक्षणोंकरके संसारमें वर्णसंकररूप जन्में हुएको प्रकट करते हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा । न कथंचन दुर्योनिः

प्रकृतिं स्वा नियच्छति ॥ ५९ ॥ कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य
स्याद्योनिसंकरः । संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

अर्थ—यह वर्णसंकर दुष्ट जाति पिता संबंधी स्वभावको भजता है तथा माता
संबंधी स्वभावको भजता है अथवा दोनोंके स्वभावको भजता है यह कभीभी
अपने कारणको छिपा नहीं सक्ता ॥ ५९ ॥ महान् कुलमेंभी जिसकी वर्णसंकर
योनि होजाती है वह थोड़ा अथवा घना पिताके स्वभावको सेवताही है अर्थात्
पिताके स्वभावके अनुसार होताही है ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषका राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षि-
प्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥ ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा देहत्यागोऽनु-
पस्कृतः । स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस राजाके देशमें वर्णोंके दूषक ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं वह राज्य
वहाँके निवासी जनोंसहित शीघ्रही नष्ट होजाता है ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण गौ स्त्री
बालक इनके प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते दुष्ट प्रयोजनसे रहित होके प्रतिलोमज अर्थात्
वर्णसंकरोंका जो प्राणत्याग है वह उनको स्वर्गप्राप्तिका हेतु है ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः एतं सामासिकं धर्मं
चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥ शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा
चेत्प्रजायते । अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ ६४ ॥

अर्थ—जीवोंकी हिंसा न करना सत्य बोलना अन्याय आदिसे पराया धन
नहीं हरना पवित्र रहना इंद्रियोंको वशमें करना यह धर्म संक्षेपमात्रसे चारों वर्णों-
का है ऐसे मनुजीने कहा है ॥ ६३ ॥ शूद्रा स्त्रीमें ब्राह्मणके सकाशसे पारशव
वर्ण उत्पन्न होता है वह जो कन्याही उत्पन्न होवे फिर वह कन्या दूसरे ब्राह्म-
णकेसाथ विवाही जावे तिसकैभी कन्या होवे और किसी अन्य ब्राह्मणके साथ
विवाही जावे ऐसे सातवें कुलमें बीज प्रधान होनेसे वह पारशववर्ण ब्राह्मणजाति-
ही होजाता है ॥ ६४ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मण श्रैति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु
विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥ अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु तदृ-
च्छया । ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं केति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—ऐसेही इस पहले श्लोककी रीतिसे शूद्र अर्थात् ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुआ पारशव सातवें कुलमें ब्राह्मणताको प्राप्त होजाता है और केवल शूद्राकेही संग विवाह होता रहै तो सातवें कुलमें ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ऐसेही क्षत्रियसे वा वैश्यसेभी शूद्रामें उत्पन्न हुआका उत्कर्ष अपकर्ष क्रमकरके जानें ॥ ६५ ॥ जो इच्छाकरके विना विवाही हुई शूद्रामें ब्राह्मणसे उत्पन्न हुआ है वह बीजप्रधान होनेसे श्रेष्ठ है अथवा ब्राह्मणीमें शूद्रसे उत्पन्न हुआ है वह श्रेष्ठ है ऐसे इन दोनोंमें संशय होता है तिनका निर्णय कहते हैं ॥ ६६ ॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः जातोऽप्यनार्यादा-
र्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥ तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो
व्यवस्थितः । वैगुण्याजन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

अर्थ—शूद्रास्त्रीमें जो ब्राह्मणसे उत्पन्न होवे वह जो शास्त्रके अनुसार यज्ञपाक आदि अनुष्ठानोंमें युक्त रहे तो श्रेष्ठ कहा है और शूद्रसे ब्राह्मणीमें जन्मनेवाला पुरुष प्रतिलोमसे उत्पन्न होनेसे शूद्रसेभी निकृष्ट है ऐसी धर्मशास्त्रकी मर्यादा है ॥ ६७ ॥ पारशव चंडाल ये दोनोंही संस्कार उपनयन आदि कर्मके योग्य नहीं हैं ऐसी धर्मकी व्यवस्था है पहिला तो शूद्रामें उत्पन्न होनेकरके जातिकी विगुण-तासे दूसरा शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होनेसे ये दोनोंही उपनयनके योग्य नहीं हैं ॥ ६८ ॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा । तथाऽर्याजात आर्यायां
सर्वे संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥ बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनी-
षिणः । बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

अर्थ—जैसे उत्तम बीज अच्छे श्रेष्ठ खेतमें बोया हुआ अच्छीतरह बढ़ता है तैसे ही द्विजाति पुरुषसे द्विजातिकी, स्त्रीमें उत्पन्न हुआ पुरुष संपूर्ण उपनयन आदि कर्मोंके योग्य है ॥ ६९ ॥ कईक पंडित बीजको प्रधान कहते हैं कईक क्षेत्रको प्रधान कहते हैं और कईक बीज क्षेत्र इन दोनोंको प्रधान कहते हैं तहां आगे कही हुई यह व्यवस्था है ॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति । अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं
स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥ यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभ-
वन् । पूजिताश्च प्रशास्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ—अक्षेत्र अर्थात् ऊपर भूमिमे वोयाभी बीज फल नहीं देता नाशको प्राप्त होता है तैसेही सुन्दरभी खेत विना बीज क्या कामका कारण अनाज नहीं होगा तिससे सुन्दर खेत और सुन्दर बीज दोनों प्रधान हैं ॥ ७१ ॥ जो कि वीर्यके प्रभावसे तिर्यक्योनि अर्थात् हरिण आदिकसे उत्पन्न हुये शृंगी ऋष्यादिक पूजित होते भये और वेदके ज्ञान आदिकोंसे स्तुतिके योग्य होते भये इस-वास्ते बीज श्रेष्ठ कहा है ॥ ७२ ॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्य चानार्यकर्मिणम् । संप्रधार्याब्रवीद्वाता न समौ नासमाविति ॥७३॥ ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः । ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—शूद्रको द्विजातिके कर्म करते हुयोंको और द्विजातिको शूद्रकेकर्म करते हुयेको ब्रह्माजी विचारिकै बोलेकि वे नतो समान है और न विषमहै अर्थात् द्विजाति शूद्रके कर्म करनेसे शूद्रके समान नहीं जातिका उत्कर्ष होनेसे और निषिद्ध आचरण करनेसे ये दोनों विषमभी नहींहै ॥७३॥ जो ब्राह्मण ब्रह्मजाति कारणसे ब्रह्म ध्यानमें निष्ठा रखते हैं और अपने कर्मोंके अनुष्ठानमें युक्त रहते हैं वे सम्यक् प्रकारसे आगे कहे हुए इन छह छह कर्मोंका क्रमसे अनुष्ठान करें ॥७४॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

अर्थ—पढ़ना पढ़ाना यज्ञकरना और अन्योकै कराना दान देना प्रतिग्रह लेना येह छह कर्म ब्राह्मणोंके हैं ॥ ७५ ॥ इन छह कर्मोंके मध्यमें यज्ञ कराना पढ़ाना द्विजातिसे प्रतिग्रह दान लेना ये तीन कर्म ब्राह्मणकै आजीविकाके हैं ॥ ७६ ॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥७७॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौप्रति हि तान् धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकी अपेक्षासे क्षत्रियके अध्यापन अर्थात् पढ़ाना, यज्ञकराना प्रतिग्रह दान लेना ये तीन कर्म निवर्त है यानें योग्य नहीं है ॥ ७७ ॥ वैश्यके प्रतिभी ये तीनों कर्म छूठ जाते है यह शास्त्रकी मर्यादा हैं क्योंकि प्रजापति मनु तिन वैश्य क्षत्रियोंके प्रति आजीविकाकेवास्ते उन कर्मोंको नहीं कहते भये॥७८॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः । आजीवनार्थं धर्म-
स्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥ वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य
च रक्षणम् । वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

अर्थ—प्रजाकी रक्षाकेवास्ते शस्त्र अस्त्र अर्थात् बाण आदिका धारण करना यह क्षत्रियका धर्म है और बनियाका धर्म पशुवोंकोपालना खेती करना वणज करना यह दोनोंके धर्म आजीविकाकेवास्ते है और दान देना पढ़ना यज्ञकरना ये कर्म धर्मकेवास्ते दोनोंके कहे हैं ॥ ७९ ॥ ब्राह्मणको वेदका अभ्यास करना और क्षत्रियको प्रजाकी रक्षा करना वैश्यको वणज पशुपाल खेती ये कर्म करना ये कर्म ब्राह्मणादिकोंके आजीवनकेवास्ते श्रेष्ठ कहे हैं ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा । जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स
ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥ उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति
चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण यथोक्त अध्यापन आदि अपनै कर्मकरके नित्यप्रति कुटुंबकेवा-
स्ते आजीवन करे और जो उसमें निर्वाह न होवे तो प्रजा रक्षण क्षत्रियके
कर्मसे आजीवन करे क्योंकि क्षत्रिय इसके नज्दी कहै ॥ ८१ ॥ जो यदि ब्राह्म-
ण वेदाभ्यास आदि अपनै कर्मसे वा क्षत्रियके कर्मसे आजीविका न कर सके
तो किस कर्म करके आजीविका करे ऐसे संशयमें खेती पशुपालन इत्यादि वैश्य-
की आजीविकाको करे ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां प-
राधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥ कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा
वृत्तिः सद्विगर्हिता । भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ८४ ॥

अर्थ—वैश्य वृत्तिकरके आजीविका करतेहुएभी ब्राह्मण वा क्षत्रिय बहुत हिं-
सावाली और पराधीन वृत्तिवाली ऐसी कृषिको अर्थात् खेतीको यतनसे वर्ज
देवें ॥ ८३ ॥ कईकजन खेतीको श्रेष्ठ कहते हैं परंतु वह वृत्ति श्रेष्ठ पुरुषोंकरके
निंदित है क्योंकि उसके करनेमें हल कुदाल आदिकोंसे पृथ्वीके खोदनेमें बहुतसी
जीवहिंसा होती है ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् । विदपण्यमुद्धृतोद्धारं

विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥ सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च
तिलैः सह । अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकै वा क्षत्रियके जो अपनी वृत्तिमें आजीवन नहीं होवे तो जो वैश्यको द्रव्यमात्र वर्जना कहा है उसको वर्जके और आगे कहे हुए इन द्रव्योंको वर्जके बा-
की रही वस्तुओंको वेचके आजीवन करे ॥ ८५ ॥ संपूर्ण रसोंको और पकाये
हुये अन्न तिलोंका पाक पत्थर लवण पशु मनुष्य इनको नहीं वेचे ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च । अपि चेत्स्युररक्तानि
फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥ अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च
सर्वशः । क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

अर्थ—संपूर्ण सूतके लाल वस्त्र शनके कपडे वा रेशमी कपडे भेडकी ऊनके कपडे
ये सब लाल नहीं होवे तोभी इनको वा फल मूलको तथा औषधियोंको न वेचे
॥ ८७ ॥ जल लोह विष मांस सोमवल्ली दूध दही शहद, तेल मधु गुड कुशा
और सब प्रकारके कपूर आदि गंध इन सबको वर्ज देवे अर्थात् वेचे नहीं ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च । मद्यं नीलिं च लाक्षां
च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥ काममुत्पाद्य कृप्यां तु स्वयमेव
कृषीवलः । विक्रीणीत तिलान् शूद्रान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

अर्थ—वनमें होनेवाले हस्ती आदि पशु दंष्ट्री, सिंहआदि कबूतरआदि जान-
वर जलके जीव मदिरा नील लाख एकशफ घोडा आदि पशु इनकोभी न वेचे
॥ ८९ ॥ खेती करनेवाला खेतीहर अपने खेतमें उपजेहुए तिलोंको अन्य वस्तु-
से मिले हुयोंको बहुत दिनतक घरमें रखके फिर किसी समयमें धर्मकेवास्ते वेचे
तिसमें दोष नहीं है ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनादानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः । कृमिभूतः श्वविष्ठायां
पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥ सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लव-
णेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

अर्थ—जोजन अभ्यंजन अर्थात् उवटना आदि दान इनकेबिना अन्य किसी
जगह जोतिलोंको वेचता है वह कुत्तेका विष्ठामें पितरोंसहित कृमि होके किसी
करता है अर्थात् उसके पितरभी कृमि होके कुत्तेका विष्ठामें पड़ते हैं ॥ ९१ ॥
४६ ॥ ९२ ॥

ब्राह्मण मांस लाख लवण इनके वेचनेसे तात्काल पतित हो जाता है और दूधके वेचनेसे तीन दिनमें शूद्रताको प्राप्त हो जाता है यह वचन अत्यंत दोष और प्रायश्चित्तकेवास्ते कहे हैं ॥ ९२ ॥

इतरेषा तु पण्याना विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥९३॥ रसा रसैर्निमाताया न त्वेव लवणं रसैः । कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

अर्थ—ब्राह्मण इन मांसादिकोंसे पृथक् अन्य वस्तुओंको इच्छासे वेचनेसे सात दिनमें वैश्यपनेको प्राप्त हो जाता है ॥ ९३ ॥ गुडआदि रस घृतादिकोंसे बदला कर लेवे और नमकको इन रसोंकरके नहीं बदलावे और पकाये हुए अन्नको कच्चे अन्नसे बदला लेवे और तिलोंको अन्य धान्यके समान देके बदला लेवे ॥ ९४ ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः । न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥ यो लोभाद्धमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः । तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥९६॥

अर्थ—क्षत्रिय आपत्कालमें इन निषिद्धभीरस आदिकोंके वेचनेकरके वैश्यकी वृत्तिसे आजीवन करे परंतु कभीभी ब्राह्मणकी वृत्तिसे आजीविका न करे ॥ ९५ ॥ जो अधमजाति पुरुष लोभसे उत्तमजातिके विहित कर्मोंकरके आजीविका करता है उसको राजा निर्धनकरके शीघ्रही अपने राज्यसे निकाल देवे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन्हिसद्यः पतति जातितः ॥९७॥ वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

अर्थ—अपना कर्म गुणरहितभी हो तोभी करना योग्य है और परजातिका उत्तम कर्मकोभी न करे पराये कर्मको करनेवाला पुरुष शीघ्रही जातिसे पतित हो जाता है ॥ ९७ ॥ वैश्य अपनी वृत्तिकरके आजीवन नहीं कर सके तो आपत्कालमें शूद्रकी वृत्तिका आचरण करे परंतु द्विजातिका उच्छिष्ट भोजन आदिकरनेके अकार्योंको वर्ज देवे और जब शक्तिमान् हो जावे अर्थात् आपत्काल निवृत्त हो जावे तब शूद्रवृत्तिसे निवृत्त हो जावे ॥ ९८ ॥

अशक्रुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्रा-
प्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥ यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्य-
न्ते द्विजातयः । तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च १००

अर्थ—जो शूद्र आपत्कालमें द्विजातियोंकी शुश्रूषा सेवाकरनेमें समर्थ न हो
और उसका कुटुंब क्षुधाकरके पीडित होता हो तब कारुककर्म अर्थात् चटाई छा-
ज बनाने आदिके कामोंसे आजीवन करे ॥ ९९ ॥ जिन कर्मोंकरके द्विजाति-
योंकी शुश्रूषा होती है तिन कारुककर्म और शिल्पीकर्म अर्थात् अनेक प्रकारके
चित्राम लिखनेका काम वा काष्ठ गडनेका काम करे ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः । अवृत्तिकर्षितः सी-
दन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥ सर्वतः प्रतिग्रहीयाद्ब्राह्मणस्व-
नयं गतः । पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ—अपनी वृत्तिमें स्थित हुआ ब्राह्मण जो आजीविका नहीं कर सके तो वैश्यवृ-
त्तिको नहीं करता हुआ आगे कहे इस धर्मका आश्रयण करे ॥ १०१ ॥ आपत्
कालको प्राप्त हुआ ब्राह्मण सबसे अर्थात् निंदित जनोंसेभी प्रतिग्रह दान लेले-
वे क्योंकि पवित्र जो है वह दूषित नहीं होता है जैसे गंगाजी रास्तेके जलसे
दूषित नहीं होती तैसे शास्त्रकी रीतिसे तिसको दोष नहीं ॥ १०२ ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् दोषो भवति विप्रा-
णां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥ जीवितात्ययमापन्नो यो-
ऽन्नमत्ति यतस्ततः । आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते १०४

अर्थ—ब्राह्मणोंको आपत् कालमें निंदित पुरुषोंको पढ़ाना वा निंदितोंके यज्ञ
कराना वा प्रतिग्रह दान लेना इनका दोष नहीं है क्योंकि वे ब्राह्मण पवित्र
होनेसे अग्नि वा जलके समान हैं ॥ १०३ ॥ जो ब्राह्मण प्राण निकसते हों ऐसे
विपत्तिकालमें जहां कहां प्रतिग्रह दान लेके आजीवन करता है वह पापसे नहीं
लिपता है तैसे कीचसे आकाश नहीं लिपता तैसे ॥ १०४ ॥

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्भुक्षितः । न चालिप्यत पापेन
क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ श्वमांसमिच्छन्नातोऽस्तु धर्माधर्म
विचक्षणः । प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

अर्थ—अजीगर्त नामवाला ऋषि भूखसे पीडित हुआ, अपने पुत्रको मारनेको चला तबभी क्षुधा निवृत्त करनेकेवास्ते ऐसा आचरण करता हुआभी तिस पापकरके नहीं लिपता भया ॥ १०५ ॥ धर्म अधर्मको जाननेला वामदेवनामक ऋषि क्षुधासे पीडित हुआ प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते कुत्तेके मांसको खानेकी इच्छा करता हुआ पापसे लिप्त नहीं भया ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने । बह्वीर्गाः प्रतिग्रहाह
वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥१०७॥ क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्र
श्वजाघनीम् । चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

अर्थ—पुत्रसहित हुआ भरद्वाज नामक महामुनि निर्जन वनमें उपवास करनेसे क्षुधासे पीडित हुआ वृधुनामवाले तक्षशिलीकी बहुतसी गौओंको गृहण करता भया ॥ १०७ ॥ क्षुधासे पीडित हुआ धर्म अधर्मको जाननेवाला विश्वामित्र ऋषि चाण्डालके हाथसे कुत्तेके मांसको ग्रहणकरके खानेको तैयार भये ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य
विप्रस्य गर्हितः ॥१०९॥ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृता-
त्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

अर्थ—ब्राह्मणको निन्दित जनोंका पढाना यज्ञकराना तिनका प्रतिग्रह दानलेना इनसबोंमें प्रतिग्रह दान सबसे निन्दित है जबतक पढाना यज्ञकराना आदिसे गुजराना तबतक प्रतिग्रह न लेवे बिलकुल गुजरान नहीं होवे तब असत् पुरुषोंका प्रतिग्रह लेके गुजरान करे ॥ १०९ ॥ यज्ञकराना अध्यापन अर्थात् वेद आदिका पढाना ये कर्म संस्कारवाले द्विजातियोंकेही कराये जाते हैं और प्रतिग्रह दान तो अन्य जन्मवाले शूद्रसेभी किया जाता है ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्या-
गेन तपसैव च ॥१११॥ शिलोज्ज्वलमप्याददीत विप्रोऽजीवन्य-
तस्ततः । प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयास्ततोऽप्युज्ज्वलः प्रशस्यते ॥११२॥

अर्थ—जो निन्दित पुरुषोंके याजन अध्यापन करानेका पाप ब्राह्मणके लगता है वह आगे कहे हुए जप होमके प्रायश्चित्तसे दूर हो जाता है और प्रतिग्रह निमित्तका पाप प्रतिग्रह द्रव्यके त्यागनेसे और तपकरनेसे दूर होता है ॥ १११ ॥ जहां

तहां अपनी अन्य आजीविका नहीं करसक्ता हुआ ब्राह्मण शिलोंछ वृत्तिको ग्रहण करे प्रतिग्रहसे शिल अर्थात् खेतमांहसे मंजरी सहित सरटी आदिकोंको चुगलाना यह वृत्ति श्रेष्ठ है और शिलवृत्तिसे उंछ अर्थात् एक एक दाना चुगके ल्याना यह वृत्ति श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः । याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥ अकृतं च कृतात्क्षेत्रादौरजाविकमेव च । हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

अर्थ—धनके नहोनेसे कुटुंबको पीडा होरही हो तब गृहस्थी ब्राह्मणोंको धान्य वस्त्र आदि कुप्यधन ग्रहण करनेके वास्ते धार्मिक क्षत्रियसे याचनाकरनी चाहिये और जो देनेकी इच्छा नहीं करता है उसको त्याग देवे अर्थात् उससे न मांगे ॥ ११३ ॥ खेतमें जो विनाबोया हुआ धान्य उत्पन्न हुआ है वह बोया हुआ खेतके धान्यसे दोषारहित है और गौ बकरी भेड़ी सुवर्ण धान्य अन्न ये सातवस्तु पहले पहले वार प्राप्त हुई दोष रहित है ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः । प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥ विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

अर्थ—दायसे आदि ले सातवस्तु धर्मसे युक्त और चारों वर्णोंके वास्ते धनके आगमन रूप कहे हैं दाय कहिये कुटुंबके हिस्सेका धान, मित्र आदिसे निधि आदि धनका लाभ २ बेचना ३ येतीनों वस्तु चारों वर्णोंको धनके आगमनके वास्ते कहे हैं और जयधन विजय करनेसे क्षत्रियका है और सूद व्याजकी आजीविका वणज ये कर्म धनवृद्धिके वास्ते वैश्यके हैं श्रेष्ठ प्रतिग्रह लेना यह धन ब्राह्मणका है ॥ ११५ ॥ वैद्यक तर्क आदि विद्या चित्राम गंध युक्ति आदि शिल्पकर्म सेवामृत्ति अर्थात् नौकरी करनी गौओंकी रक्षा करनी दुकान, खेती करनी संतोष भिक्षाका समूह ग्रहण करना व्याजकी आजीविका ये दशधर्म आपत् कालमें आजीवनके वास्ते कहे हैं ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् । कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७ ॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि । प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण और क्षत्रिय आपत् कालमें भी व्याजकरके धनका बढ़ाना न करे किंतु निकृष्ट कर्मकरके भी अपने धर्मके वास्ते कही हुई वृत्तिसे आजीवन करे ॥ ११७ ॥ खेतीके उपजे धान्य आदिक चौथा हिस्सा कर लेता हुआ भी राजा आपत् कालमें परम शक्ति करके प्रजाकी रक्षा करता हुआ सब पापसे छूट जाता है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः । शस्त्रेण वैश्यान् र-
क्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्वलिम् ॥ ११९ ॥ धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं
कार्षापणावरम् । कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा १२०

अर्थ—युद्धमें जय करना यह राजाका स्वधर्म है और राजा युद्धमें पराङ्मुख नहीं होवे अर्थात् पीठ देके भाजे नहीं और शस्त्रोंकरके चौरादिकोंसे वैश्योंकी रक्षाकरके तिनसे धर्मके अनुसार यथायोग्य अपनी कर लेलेवे ॥ ११९ ॥ राजा अपत्कालमें धान्यके समूहमें वैश्यसे आठवां भाग कर लेवे और दुकान आदिकी विक्रीकी चीजोंका बीसवां भाग कर लेवे और कामोंका करनेवाले काख शिल्पी शूद्र इनके पास काम करवा लेवे और अन्य कर नहीं लेवे ॥ १२० ॥

शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि । धनिनं वाप्युपाराध्य
वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्राना-
राधयेत्तु सः । जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

अर्थ—शूद्र जो ब्राह्मणकी सेवा वाटहैल करता हुआ अपना गुजारा नहीं कर-
सके तो क्षत्रियकी परिचर्या करे क्षत्रियके अभावमें धनी वैश्यकी सेवाकरके आ-
जीवन करे इनतीनोंके अभावमें पहले कहे शिल्पी आदि कर्मोंको करे ॥ १२१ ॥
स्वर्गलोककी प्राप्तिके वास्ते और इस लोकमें अपने गुजारेके वास्ते शूद्रब्राह्मणों-
हिंकी सेवा करे क्योंकि ब्राह्मणका सेवक है इस शब्दसे इस शूद्रकी कृतकृ-
त्यता है ॥ १२२ ॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते । यदतोऽन्यद्वि कुरुते
तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥ प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटु-
म्बाद्यथार्हतः । शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् १२४ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकी सेवा करनी यही शूद्रका परम धर्म कहा है और यह शूद्र जो

अन्य कछु कर्म करता है वह सब निष्फल हो जाता है यह वचन स्तुतिके वास्ते है ॥ १२३ ॥ तिस परिचारक शूद्रकी कर्मका उत्साह और परिचर्याकी सामर्थ्य-को देखके तथा उसके कुटुंबके खर्चको देखके और उसकी चतुराई देखके तिन ब्राह्मणोंनें अपने घरके अनुसार आजीविका कर देनी चाहिये ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च । पुलाकाश्चैव धान्या-
ना जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च
संस्कारमर्हति । नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् १२६

अर्थ—तिस सेवक शूद्रके वास्ते ब्राह्मणोंनें उच्छिष्ट भोजन पुराने वस्त्र देनें चाहिये और धान्योंके बाकी रहे किणके पुराने वस्त्रन भांडा वगैरह देनें चाहिये ॥ १२५ ॥ शूद्रके लस्सन आदि भक्षण करनेमें कछु पातक नहीं है और शूद्र उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं है और यज्ञ आदि धर्म करनेभी इसका कुछ अधिकार नहीं है और पाक यज्ञादिक धर्मोंसे इस शूद्रका निषेधभी नहीं है १२६

धर्मेऽस्य वस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः । मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति
प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥ यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्य-
नस्त्ययकः । तथातथेयं चायं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

अर्थ—जो अपने धर्मको जाननेवाले धर्मप्राप्तिकी इच्छा करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारका अनुष्ठान करनेवाले शूद्र है वे मंत्रको वर्जके नमस्कार मात्रसे पंच-यज्ञोंको करते हुए दोषको नहीं प्राप्त होते हैं किंतु उत्तम प्रशंसाको प्राप्त होते हैं ॥ १२७ ॥ शूद्र जैसे जैसे अच्छे पुरुषोंका आचरण करता है और पराये गुणोंकी निंदा नहीं करता है तैसे तैसे इस लोकमें विख्यातिको प्राप्त होता है और पर-लोकमें उत्कृष्टताको प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः । शूद्रो हि धनमासाद्य
ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥ एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्मा प्र-
कीर्तिताः । यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो ब्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

अर्थ—धन कमानेको समर्थ शूद्रनेंभी कुटुंबके निर्वाहमात्र और पंचयज्ञ आदि कर्मके योग्यसे अधिक धनका संचय नहीं करना चाहिये क्योंकि अधिक धन होनेसे धनका मदसे यह शूद्र ब्राह्मणोंकोही पीडा देता है ॥ १२९ ॥ ये चारों व-

णोंके आपत् कालके धर्म कह दिये हैं इन सबको इसी विधिसे करतेहुए जन परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

अर्थ—यह चारोंवर्णोंकी संपूर्ण धर्मकी विधि कही है अब इससे आगे प्रायश्चित्तके शुभ अनुष्ठानको कहेंगे ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः १०

इति वेरीनिवासिविबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

**सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् । गुर्वर्थं पितृमात्रार्थं
स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥ नवैतान् स्नातकान्विद्याद्ब्रह्मणा-
न्धर्मभिक्षुकान् । निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥**

अर्थ—संतान उत्पन्नकरनेकेवास्ते विवाहके प्रयोजनवाला यज्ञ आदिके प्रयोजनवाला मार्गमें चलनेवाला संपूर्ण दक्षिणसहित विसर्जित यज्ञ कियेहुए, गुरुके वास्ते मांगनेवाला वा माता पिताकेवास्ते मांगनेवाला विद्यार्थी ब्रह्मचारी रोगी ये नव ९ ब्राह्मण भिक्षा मांगनेके योग्य हैं सो धन रहित इनकेवास्ते गौ सुवर्ण आदि धनको विद्या गुणके अनुसार अवश्य देवै ॥ १ ॥ २ ॥

**एतेभ्यो हि द्विजाग्रेभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहि-
र्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥ सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपा-
दयेत् । ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥**

कथ—इन नव ९ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके अर्थ दक्षिणासहित अन्न देना चाहिये और अन्योके अर्थ वेदीसे बाहिर पकाया हुआ अन्नमात्र देना योग्य है ॥ ३ ॥ राजा वेदको जाननेवाले ब्राह्मणोंके अर्थ संपूर्ण प्रकारके मणिमोती आदि रत्नोंको यज्ञादिकोंके योग्योंको देवै और बहुतसा धन देवै ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं
तस्य द्रव्यदातुस्तु सं ततिः ॥५॥ धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रति-
पादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो विवाहा हुआ ब्राह्मण भिक्षा मांगकर दूसरा विवाह कराता है ति-
सको रमणमात्रका फल है और उसके उत्पन्न हुई संतान धन देनेवालेकी है
इसवास्ते भिक्षा मांगके दूसरा विवाह न करावे ॥ ५ ॥ जो पुरुष वेदके जानने-
वाले कुटुंबी ब्राह्मणोंके अर्थ गौ सुवर्ण आदि धनको देते है वे मरके स्वर्गलोक-
को प्राप्त होते है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये । अधिकं वापि विद्ये-
त स सोमं पातुमर्हति ॥७॥ अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिब-
ति द्विजः । स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस ब्राह्मणके तीन वर्षतक अथवा कछु अधिक दिनोंतक कुटुं-
वपोषणकेवास्ते घरमें खर्च चलनेयोग्य धन हो वह सोमयाग करनेको यो-
ग्य है ॥ ७ ॥ इसवास्ते जिसमे इस्से थोडा द्रव्य है वह जो यदि सोम करता है
तो तिसका किया हुआभी सोमयाग नित्यभी ठीक संपूर्ण नहीं होता है तिस-
को अवश्य दूसरा सोमयाग करना चाहिये ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि । मध्वापातो विषास्वा-
दः सधर्मप्रतिरूपकः ॥९॥ भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहि-
कम् । तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

अर्थ—जो बहुत धनी पुरुष अवश्य पालनेके योग्य मातापिता आदिक ज्ञाति
जनोंको दुर्गति दुःख हुये संतेभी यशकेवास्ते अन्य जनोंके अर्थ दान देता है
वह दान धर्मका प्रतिरूपकहै कछु साक्षात् धर्म नहीं, मध्वापात अर्थात् सोमयाग
करना प्रथम यशकारक है अंतमें विषके समान है इसवास्ते नरकफलका हेतु
होनेसे ऐसा न करे ॥ ९ ॥ भृत्य अर्थात् पुत्र स्त्री आदिकोंको क्लेश देके जो पर-
लोकके वास्ते दान आदिक करते हैं वह दान उस दाताको जीवता हुआको
तथा मरा हुआकोभी दुःखके फल देनेवाला होता है ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण

धार्मिके सति राजनि ॥११॥ यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसो-
मपः । कुटुम्बात्तस्य तद्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥१२॥

अर्थ—धार्मिक राजा हुयेंसते उसके राज्यमें क्षत्रिय आदिक किसी यजमानका अथवा विशेषकरिके किसी ब्राह्मणका यज्ञ एक अंगकी कमीसे रुकरहा होवे तहां कोई वैश्य पशु आदिकोंकी समृद्धिसे युक्त हो और पंचयज्ञादिकोंसे रहित हो और सोमयाजी नहीं हो तिसके घरसे उस यज्ञके अंग समाप्ति योग्य द्रव्यको चोरीसे अथवा बलसे हर लेवे ॥ ११ ॥ १२ ॥

आहरेत्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः । न हि शूद्रस्य यज्ञेषु
कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥१३॥ योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सह-
स्रयुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

अर्थ—यज्ञके दो अंग अथवा तीन अंग हीन होनेमें अपने प्रयोजनकेवास्ते दो अंगोंकी वस्तुको अथवा तीन अंगोंकी वस्तुको शूद्रके घरसे जबर्दस्ती अथवा चोरीसे हरलेवे क्योंकि शूद्रकै यज्ञका संबंध कभीभी नहीं है इसवास्ते तिसके घर-से मांगके नहीं लेवे ॥ १३ ॥ जो अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करनेवाला ब्राह्मण सौ १०० गौओंका प्रमाणके समान धनवाला हो और जो अग्निहोत्री सोम-याग आदिकोंको नहीं करनेवाला है वह हजार गौओंके समान धनवाला हो तिन दोनोंके घरसेभी निश्शंक होके धनको हर लेवे ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यशोऽस्य प्रथते ध-
र्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्रता ।

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिसकै नित्य प्रति प्रतिग्रह दानकाही धन है ऐसे ब्राह्मणको जो यदि मांगनेसे धन नहीं मिले तो विना देनेवालेके धनको जबर्दस्तीसे हरके यज्ञकेवास्ते लेवे ऐसे करनेसे इसकी विख्याति बढती है और धर्म बढता है ॥ १५ ॥ तीन दिनके उपवास व्रतमें चौथेदिन प्रातःकाल भोजनके समय दान आदि धर्मकेवास्ते धनसे रहित होवे तो एक दिनका गुजारा लायक चोरी आ-दिसे धनका हरना योग्य है ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु त-
त्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥ ब्राह्मणस्व न हर्तव्यं क्षत्रिये-

ण कदाचन । दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

अर्थ—धान्य काढनेकी जगहसे वा खेतसे तथा घरसे जो धान्यादिक लयाया गयाहो उसको यदि धनस्वामी पूछे तो कह देना चाहिये कि अमुक निमित्तके वास्ते यह चोरी की है ॥ १७ ॥ क्षत्रियको ब्राह्मणका धन कभीभी नहीं हरना चाहिये और क्षुधासे पीडित हुआ क्षत्रिय निषिद्ध आचरण और चोरीकी वृत्ति करनेवाले ऐसे ब्राह्मण क्षत्रियोंके धनको हरनेको योग्य है ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति । स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥ यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः । अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—जो पुरुष हीन कर्मोवाले दुष्ट जनोपास धनको चोरके उत्तम कर्मोवाले साधु जनोके अर्थ देता है वह अपने आत्माको नौकारूपकरके उन दोनोंको दुःखसे पार उतार देता है ॥ १९ ॥ सर्वदा यज्ञ करनेवालोंका जो धन है उसको यज्ञआदिकोंमें नियुक्त करनेसे बुद्धिमान् जन देवस्व अर्थात् देवताओंका धन कहते हैं और यज्ञ नहीं करनेवालोंका धनको राक्षससंबंधी धन कहते हैं ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्वण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः । क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥ तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः । श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥

अर्थ—तिस उक्त प्रयोजनकेवास्ते धनको हरनेवाला ब्राह्मणको धार्मिक राजा दंड नहीं देवे क्योंकि क्षत्रिय, राजाकेही मूर्खपनसे ब्राह्मण क्षुधासे पीडित होता है ॥ २१ ॥ राजा तिस ब्राह्मणके भृत्य कुटुंब आदिकोंको विचारके और उस ब्राह्मणको वेदको जाननेवाला समझके उसकी आजीविकाका बंदोबस्त करदेवे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः । राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥ न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् । यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

अर्थ—राजा इस ब्राह्मणकी आजीविकाका बंधानकरके फिर इसकी सबतर्फसे रक्षा करे क्योंकि उसकी रक्षा करनेसे उस ब्राह्मणके धर्मका छठाहिसाको राजा

प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ ब्राह्मण यज्ञकेवास्ते शूद्रसे धनको कभीभी नहीं मांगे क्योंकि शूद्रसे धन मांगके यज्ञकरनेवाला ब्राह्मण मरके चंडाल होता है ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति । स याति भासतां
विप्रः काकता वा शतं समाः ॥ २५ ॥ देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लो-
भेनोपहिनस्ति यः । स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६

अर्थ—जो ब्राह्मण यज्ञकेवास्ते धनको मांगके फिर तिस संपूर्ण धनको यज्ञमें नहीं लगाता है वह मरके गुजुनू तथा कुत्ता होता है अथवा सौ १०० वर्षतक काग होता है ॥ २५ ॥ जो पापी पुरुष देवताके द्रव्यको अथवा ब्राह्मणके द्रव्यको लोभसे हरता है वह मरके परलोकमें गीधके झूठे मांस आदिसे जीवता है अर्थात् निकृष्ट जीवकी योनिमें जाता है ॥ २६ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये । ऋषानां पशुसोमानां
निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥ २७ ॥ आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि
द्विजः । स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—वर्ष समाप्त होनेमें जो दूसरे वर्षका पर्यय अर्थात् चैत्र शुक्ल आदिमें जो विहित सोमयाग है उसके न होनेमें उसकी दोषनिवृत्तिकेवास्ते यज्ञकी जाति है वह वैश्वानरी इष्टि कहाती है तिस इष्टिकी सिद्धिके अर्थ सर्वदा उक्त रीतिसे शूद्र आदिकसे धनको ग्रहण करे ॥ २७ ॥ जो द्विज आपत्कालके विनाभी आपत्कालमें कहे हुए धर्मके अनुसार वर्त्तता है वह परलोकमें तिस धर्मके फलको प्राप्त नहीं होता है ऐसा मनुआदि ऋषियोंका विचार है अर्थात् निश्चय है ॥ २८ ॥

विश्वेश्व देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः । आपत्सु मरणाद्वी-
तैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥ प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन
वर्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

अर्थ—विश्वेदेव साध्यसंज्ञकदेवता महर्षि ब्राह्मण इन्होंने आपत्कालमें मृत्युके भयसे सोमयज्ञादिकोंकी प्रतिनिधि वैश्वानरी आदि कल्पित की है सो मुख्यविधिका संभव होनेभी कल्पित विधिको न करे ॥ २९ ॥ जो पुरुष मुख्य अनुष्ठानकर्म करनेमें समर्थ हो वह उसके आभावमें कही हुई प्रतिनिधिकर्मको न करे क्योंकि उस दुर्बुद्धिवालेको परलोकमें तिसका फल नहीं होता है ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणोऽवेदयत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् । स्ववीर्येणैव तान्
शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥ स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं
बलवत्तरम् । तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मको जाननेवाला ब्राह्मण अपराध करनेवाले पुरुषोंको राजाकेवास्ते
न कहे किंतु तिन अपमान करनेवाले जनोंको अपनेही शाप आदि बलसे दंडदे-
वे ॥ ३१ ॥ पराधीन राजसामर्थ्य है स्वाधीन अपनी सामर्थ्य अधिक बलवाली
है इसवास्ते ब्राह्मण शत्रुओंको अपनेही बलसे बशमें करे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वांगिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् । वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य
तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥ ३३ ॥ क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमा-
त्मनः । धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

अर्थ—अथर्वण वेदकी दुष्टाभिचारवाली श्रुतिके अनुसार निस्संदेह होके
वर्त्ते उसमें यही आशय है कि ब्राह्मणके वाणी शस्त्ररूप है इसवास्ते
द्विज तिस वाणीरूप शस्त्रकरके शत्रुओंका नाश करे ॥ ३३ ॥ क्षत्रिय अपनी
अपात्तिको भुजाके पराक्रमसे दूर करे और वैश्य तथा शूद्र धन देके शत्रु आदि-
को दूर करे और ब्राह्मण अभिचारात्मक जप होम आदिकोंसे आपत्तिको
दूर करे ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्म उच्यते । तस्मै नाकुशलं
ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥ न वै कन्या न युवतिर्नाल्प-
विद्यो न बालिशः । होता स्यादग्निहोत्रस्य नातो नासंस्कृतस्तथा ॥

अर्थ—विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला और पुत्र शिष्य आदिकोंको
शिक्षा देनेवाला प्रायश्चित्त आदि धर्मोंका कहनेवाला संपूर्ण प्राणियोंसे प्यार
रखनेवाला ऐसा ब्राह्मण कहाता है उसकेवास्ते खोटा वचन नहीं कहे और
धिकार आदि शुष्क वचन नहीं कहे ॥ ३५ ॥ तरुण अवस्थावाली विना विवा-
हीहुई कन्या थोड़ी विद्यावाला जन मूर्ख व्याधिसे पीडित संस्कार कर्म उपनयन
आदिसे रहित पुरुष ये सब सायंप्रातःकाल अग्निहोत्रहोम न करै ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुहन्तः स च यस्य तत् । तस्माद्वैतानकुशलो
होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यमदत्वाश्वमन्याधेयस्य

दक्षिणाम् । अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥३८॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त कन्या आदिक जन होम करते हुए नरकमें प्राप्त होते हैं और जिस किसीके बदलेमें होम करते हैं वहभी नरकमें जाता है इसवास्ते वेदके कर्ममें निपुण वेदको जाननेवाला श्रेष्ठ ब्राह्मण होता करना चाहिये ॥ ३७ ॥ धनकी संपत्ति होनेमें ब्राह्मण आधानकर्ममें अभ्याधेयकी दक्षिणा प्रजापति दैवत अश्व-को देव और जो अश्वकी दक्षिणा नहीं देता है तो वह अनाहिताग्नि होजाता है आधानके फलको प्राप्त नहीं होता है ॥ ३८ ॥

**पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः । न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञै-
र्यजन्ते ह कथंचन ॥ ३९॥ इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्ति
प्रजाः पशून् । हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥४०॥**

अर्थ—श्रद्धावान् और जितेन्द्रिय ब्राह्मण तीर्थयात्रा आदि अन्य पुण्य कर्मोंको करे परंतु कमदक्षिणावाली यज्ञोंको कभी न करे ॥ ३९ ॥ थोड़ी दक्षिणावाले यज्ञ चक्षु आदि इंद्रिय यश स्वर्ग आयु मृत हुयेकी विख्याति संतान पशु इन सबका नाश करते हैं इसवास्ते थोड़ी दक्षिणावाले यज्ञ न करे ॥ ४० ॥

**अग्निहोत्र्यपविध्यामीन् ब्राह्मणः कामकारतः । चान्द्रायणं चरेन्मा-
सं वीरहत्यासमं हि तत् ॥४१॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपा-
सते । ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥**

अर्थ—अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छासे सायंप्रातःकालमें अग्निमें हवन न करे तो एक महिनातक चान्द्रायण व्रत करे क्योंकि अग्निहोत्रीको यह पुत्रकी हत्याके समान दोष है ॥४१॥ जो शूद्रसे धनको ग्रहणकरके अग्निहोत्र कर्म करते हैं वे ब्राह्मण वे-दवादी ब्राह्मणोंमें निंदित होते हैं क्योंकि वे शूद्रोंकेही याजक हैं वह फल उन ब्राह्मणोंका नहीं ॥ ४२ ॥

**तेषां सततमज्ञानां वृषलाभ्युपसेविनाम् । पदा मस्तकमाक्रम्य
दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च
समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥**

अर्थ—शूद्राका धन लेके यज्ञकरनेवाले तिन मूर्ख ब्राह्मणोंके मस्तकपे पैर रख-के वह शूद्र तिस दानकरके परलोकमें दुःखोंसे पार हो जाता है और उन ब्रा-ह्मणोंको कुछ फल नहीं होता है ॥ ४३ ॥ विहित नित्य नैमित्तिक कर्मोंको नहीं

करता हुआ और निन्दित कर्मोंका आचरण करनेवाला और इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहनेवाला ऐसा पुरुष प्रायश्चित्त करनेको योग्य है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहु-
रेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन
शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अर्थ—विना इच्छासे अज्ञानसे कियेहुए पापमें प्रायश्चित्त है ऐसे पंडितलोग कहते हैं और कईक पंडित वेदके देखनेसे कहते हैं कि इच्छासे कियेहुए पापका भी प्रायश्चित्त है ॥ ४५ ॥ इच्छाके विना किया हुआ पाप वेदके अभ्याससे शुद्ध हो जाता है और इच्छाकरके कियाहुआ पापके अनेक प्रकारके जुदे जुदे प्रायश्चित्त है ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा । न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः
प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥ इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृ-
तैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—दैवसे अथवा प्रमादसे पूर्वजन्ममें अन्य शरीरसे कियेहुए दुष्कृतसे क्ष-
यीरोग आदिकोंसे सूचित होनेसे तिस पापका प्रायश्चित्त कियेविना उत्तम पुरु-
षोंमें याजन आदिका साथ नहीं करे ॥ ४७ ॥ इस जन्ममें कईक पुरुष निषिद्ध
आचरणोंकरके और कई पूर्व जन्मके कर्त्तव्योंसे दुष्ट स्वभाववाले होते हैं और कु-
नखी आदि विपरीत रूपोंवाले होते हैं ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् । ब्रह्महा क्षयरोगित्वं
दौश्रम्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥ पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः
पूतिवक्रताम् । धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

अर्थ—सोनाकी चोरी करनेवाला कुनखी अर्थात् बुरे नखोंवाला होता है और
मदिरा पीनेवालाके काले दांत होते हैं और ब्रह्महत्यावाला क्षयीरोगी और
गुरुकी स्त्रीकी शय्यापै शयनकरनेवाला बुरी चांमवाला होता है ॥ ४९ ॥
चुगलखोरकी नासिकामें दुर्गंधका रोग, सूचकके मुखका रोग धान्यको चोरने-
वाला अंगहीन चीजको मिलानेवाला अतिरिक्त अर्थात् सब बातोंकी कमीवाला
ऐसे ये रोग हो जाते हैं ॥ ५० ॥

अन्नहर्ता मयावित्वं मौक्यं वा^कप्रहारकः । वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं
च

पंगुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥ एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विग-
र्हिताः । जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

अर्थ—अन्नको चुरानेवाला मंदाग्निरोगी चुराके पढ़नेवाला गूंगा वस्त्रको हर-
नेवाला श्वित्रकुष्ठी अश्वको हरनेवाला पांगला ॥ ५१ ॥ ऐसे कर्मोंके अनुसार
श्रेष्ठ पुरुषोंसे निन्दित जन होते हैं तथा मूर्ख गूंगा अंधा बधिर विकृतआकृति-
वाला ऐसेभी होते हैं ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता
जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्व-
ङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिनोंने पूर्व जन्ममें अपने कियेहुए पापोंका प्रायश्चित्त आदिसे नाश
न किया है वे कुनखी आदि इन उक्त लक्षणोंवाले होते हैं इसवास्ते तिनकी वि-
शुद्धिकेवास्ते प्रायश्चित्तको नित्य करै ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या मदिराका पीना चोरी
करना गुरुकी स्त्रीके संग मैथुन करना इनको महापातकी कहते हैं और इनके
साथ रहनेवालेभी महापातकी कहते हैं ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोश्चालीकनिर्वधः
समानि ब्रह्महृत्यया ॥ ५५ ॥ ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं
सुहृद्वधः । गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

अर्थ—जातिकी उत्कर्षताकेवास्ते मैं ब्राह्मण हूं ऐसा उत्कर्ष कहना और राज-
द्वारमें चोर आदिकोंको फांसी आनेलायक कसूरको कहनेवाला गुरुको झूठा
कहनेवाला ये सब दोष ब्रह्महृत्याके समान है ॥ ५५ ॥ पढ़ेहुए वेदको अभ्यास
विना भूल जाना नास्तिक युक्तियोंसे वेदकी निंदा करना झूटी गवाही देना मि-
त्रका वध करना निन्दित लस्सन आदि वा विष्टा आदिका भक्षण करना ये छह
मदिरापानके समान है ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्ते-
यसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥ रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु
च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

अर्थ—किसीकी धरोहर जमाका हरना मनुष्य अश्व चांदी इनका हरना भू-
मि हीरामणि इनका हरना ये सब सोनाकी चोरीके समान है ॥ ५७ ॥ मा जा-

ई वहै न चंडाली सखी पुत्र वधू इनमें मैथुन व्यभिचार करना गुरुकी भार्याके संग मैथुन करनेके समान है ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः । गुरुमातृपितृत्यागः
स्वाध्यायाभ्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥ परिवित्तितानुजेऽन्वदे परि-
वेदनमेव च । तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥
कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् । तडागारामदाराणा-
मपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥ व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्या-
पनमेव च । भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥
सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् । हिंसोषधीनां रुयाजीवोऽ-
भिचारो मूलकर्म च ॥ ६३ ॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणाम-
वपातनम् । आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६४ ॥
अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया । असच्छास्त्राधिगमनं
कौशील्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्री-
निषेवणम् । स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—गौका वध करना जातिके कर्मोंसे दूषित पुरुषोंके यज्ञआदि कराना प-
रस्त्रीगमन आत्माका बेचना गुरु माता पिता इनका त्याग करना अर्थात् इन-
की सेवा न करना स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञका त्यागना श्रौत स्मार्त अग्निमे होम न कर-
ना पुत्रका त्यागना ॥ ५९ ॥ पहिले छोटे पुत्रका विवाह करनेसे बड़ेकी परिवि-
त्ति संज्ञा हो जाती है और छोटेकी परिवेत्ता संज्ञा हो जाती है उन दोनोंके अर्थ
कन्या दान देना और उन दोनोंके यज्ञआदि करानेमें ऋत्विक् होना ॥ ६० ॥
कन्याके अंग प्रक्षेप आदिसे दोष लगाना व्याजकी आजीविका करना ब्रह्म-
चर्यमें मैथुन करना, तलाव बगीचा स्त्री संतान इन्होंका बेचना ॥ ६१ ॥ व्रात्य-
ता अर्थात् यथायोग्य कालमें उपनयन संस्कार नहीं कराना पितृव्य आदि बांध-
वोंका त्याग नौकरी लेके पढ़ाना और नौकरी देके पढ़ना तिल आदि अविक्रि-
य वस्तुओंका बेचना ॥ ६२ ॥ सुवर्ण आदि संपूर्ण खानोंके स्थानका राजाकी
आज्ञासे अधिकारपना जल रोकनेकेवास्ते बड़े प्रवाहोंको बांधनेके अर्थ पुल आ-
दि बांधना औषधियोंकी जातिमात्रकी हिंसा करना अपनी स्त्रीको वेश्या बनाके

आजीवन करना मारण वा मंत्र औषधी आदिको वशीकरण करना ॥ ६३ ॥
 इंधनकेवास्ते हरे गीले वृक्षोंका तोड़ना देवता पितर आदिकोंके उद्देश विना पा-
 क करना निन्दित पुरुषोंका अन्न भक्षण करना ॥ ६४ ॥ अधिकार होनेपर अ-
 ग्निहोत्र न करना चोरी करना कर्जोंको नटना श्रुतिस्मृतियोंसे विरुद्ध शास्त्रकी
 शिक्षा मानना नृत्य गीत वाजा आदिकोंका सेवन करना ॥ ६५ ॥ धान्य तांबा
 लोहा आदि पशु इनकी चोरी करना मदिरा पीनेवाली स्त्रीके संग मैथुन करना
 स्त्री शूद्र वैश्य क्षत्रिय इनका वध करना नास्तिकपना ये सब उपपातक है ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या प्रातिरग्रेयमद्ययोः । जैहयं च मैथुनं पुंसि
 जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकव-
 धस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

अर्थ—ब्राह्मणको लाठी वगैरह हाथमें लेके पीडा देनी लस्सन विष्टा आदि
 अग्रेय वस्तुओंका संधना कुटिलता पुरुषके मुख गुदा आदिमें मैथुन करना इन
 कामोंवाले जनोंको जातिभ्रंशकर अर्थात् जातिको भ्रष्ट करनेवाले कहे हैं ॥ ६७ ॥
 गदहा घोडा ऊंट मृग हस्ती बकरी भेड़ी मच्छी सर्प भैंसा इनका प्रति एक एक-
 का वध करनाको संकरी करना कहते हैं ॥ ६८ ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञे-
 यमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥ कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुग-
 तभोजनम् । फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

अर्थ—निन्दित पुरुषोंसे धनका दान लेना वणज करना शूद्रकी सेवा करनी
 झूठ बोलना इन प्रत्येकोंको अपात्री करण ऐसा जानें ॥ ६९ ॥ कृमि छोटे जीव-
 कीट कहे बड़े कीड़े मक्खी आदि जीव इनका मारना मदिरामें मिलाहुआ भोज-
 न करना फल इंधन पुष्प इनकी चोरी करना धीरज नहीं करना इनको मलिनी
 करण मैलापन करना कहते हैं ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् । यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते
 तानि सम्यङ्बोधत ॥ ७१ ॥ ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा
 वने वसेत् । भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—ये ब्रह्महत्या आदि यथोक्त जुदे जुदे कहे हुए सब पाप जिन जिन
 व्रतोंके करनेसे नष्ट होते हैं तिन सबोंको सुनो ॥ ७१ ॥ ब्रह्महत्या करनेवाला

पुरुष अपने मस्तकमें मुरदेके शिरका चिन्ह बनाके वनमें कुटी बना तहां बारह वर्षतक वास करे और अपने पाप दूर होनेके अर्थ भिक्षा मांगके भोजन करे ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं क्षस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ
वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता
गोसवेन वा । अभिजिद्विश्वजिज्ञ्यां वा त्रिवृताग्निष्ठुतापि वा ॥ ७४ ॥

अर्थ—अथवा ब्रह्महत्यावाला पुरुष यह ब्रह्महत्याके पाप क्षयकेवास्ते ऐसा लक्षण बनारहा है ऐसे जानते हुए जनोंमें शस्त्रोंको धारणकरके मरणपर्यंत युद्धमें सन्मुख रहै अथवा जलती हुई अग्निमें नीचेको शिरकरके तीन बार अपने शरीरको पटक देवे ॥ ७३ ॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ करे वा स्वर्जित यज्ञ करे तथा गोसव यज्ञ करे अथवा अभिजित् विश्वजित् त्रिवृत अग्निष्ठुत इन यज्ञविशेषोंको करे ॥ ७४ ॥

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् । ब्रह्महत्यापनोदाय
मितभुङ्क्षियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥ सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपाद-
येत् । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—अथवा ब्रह्महत्या दूर होनेकेवास्ते थोडा भोजन करता हुआ जितेंद्रिय रहे और चारोंवेदोंमेंसे किसी एक वेदको जपता हुआ चारसौ कोशतक गमन करै ॥ ७५ ॥ अथवा ब्रह्महत्या दूर होनेकेवास्ते अपना सब धन वेदको जाननेवाले ब्राह्मणके अर्थ दे देवै तथा उस ब्राह्मणको जीवनपर्यंत भोगने लायक धन देवै अथवा धन धान्य आदि सब वस्तुओंसे युक्त हुआ घरका दान देवै ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वा नुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् । जपेद्वा नियताहारस्त्रिवै
वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥ कृतवापनोतु निवसेद्भामान्ते गोव्रजेऽपि
वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

अर्थ—पसही आदि हविष्य अन्नोंको भोजन करे और प्रतीची सरस्वती नदीके प्रति गमन करे अथवा नियमपूर्वक आहार करता हुआ तीनों वेदोंकी संहिताको पढ़ै ॥ ७७ ॥ बाल नख डाढ़ी मूँछ इनको मुंडायें हुए रहे और ग्रामके बाहिर वास करे अथवा गौओंके स्थानमें वास करे तथा पवित्र आश्रममें वा वृक्षकी जड़के नीचे वास करे और गौ ब्राह्मणोंके हितमें रत रहै ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्महत्याया
गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥ त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्व-
मवजित्य वा । विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंके वास्ते अथवा गौओंके वास्ते शीघ्रही प्राणोंको त्याग देवे
क्योंकि गौ ब्राह्मणकी रक्षा करनेवाला पुरुष ब्रह्म हत्यासे छूटजाता है ॥ ७९ ॥
ब्राह्मणका सर्वस्व धन हरनेमें तीनवार शक्तिके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त हुआ पुरुष
तिस सर्वस्व धन हरणकी ब्रह्महत्यासे छूट जाता है और तिस धन हरनेके
निमित्तमें जो ब्राह्मणका मरना हो जावे तोभी इसी विधान करनेसे तिस दोषसे
छूट जाता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारीसमाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्र-
ह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥ शिष्टा वा भूमिदेवानां नरदेवसमा-
गमे । स्वमेनोऽवभृथस्नानातो ह्यमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस उक्त प्रकारसे नित्य प्रति ब्रह्मचर्यमें सावधान रहनेवाला पुरुष बार
हवर्ष व्यतीत होनेमें ब्रह्महत्याके पापको दूर कर देता है ॥ ८१ ॥ अथवा अश्व-
मेध यागमें ऋत्विक् ब्राह्मणोंमें और क्षत्रियोंके समागमोंमें ब्रह्महत्याके पापको
कहके फिर अवभृथ स्नानकरके तिस ब्रह्महत्यासे छूट जाता है ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते । तस्मात्समागमे तेषा-
मेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥ ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि
दैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—धर्मका उपदेश करनेसे ब्राह्मण धर्मका मूल है और उसका अनुष्ठान
करनेसे राजा अग्रभाग कहाता है इसवास्ते तिनका समागममें अश्वमेध यज्ञमें पा-
पका निवेदनकरके अवभृथ स्नान करनेसे तहां शुद्ध हो जाता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण
उत्पत्ति मात्रसेही देवताओंका दैव है यहां मनुष्योंमें प्रत्यक्ष वेदहीका प्रमाण है
उस वेदको धारण करनेवाले वे ब्राह्मणही है ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम् । सा तेषां पावनाय
स्यात्यवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं
विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

अर्थ—तिन वेदको जाननेवाले ब्राह्मणोंके मध्यमें तीनों वेदोंको जाननेवाले तीन विद्वान् तिसके पापके प्रायश्चित्तको कहैं वह उनकी वाणी तिसके पवित्र करनेके वास्ते है क्योंकि विद्वानोंकी वाणी पवित्र कही है ॥ ८५ ॥ इस प्रायश्चित्त गुणविधिसे अन्य कोईसे प्रायश्चित्तको समाधान होके ब्राह्मण आदि जो करता है वहभी ब्रह्महत्याके पापको दूरकर देता है अर्थात् इन विधियोंके बीजमें एक कोईसीभी विधि करनेसे ब्रह्महत्या दूर होजाती है ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् । राजन्यवैश्यौ चेजानावा-
त्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥ उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुद्ध्य
गुरुं तथा । अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—ब्राह्मणीके विनाजानें हुए गर्भको मारके तथा क्षत्रिया वैश्या रजस्वला ब्राह्मणी इन स्त्रियोंको मारके इसी व्रतको करनेसे हत्या दूर होती है ॥ ८७ ॥ सुवर्ण भूमि आदिके विषयमें झूठी साक्षी देके और गुरुके प्रति क्रूर वचन कहके प्रतिरोधकरके किसीको धरोहर मारके स्त्री मित्र इनका वधकरके ब्रह्म-हत्याको प्राप्त होता है ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे
निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥ सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णा
सुरां पिबेत् । तथा स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

अर्थ—यह संपूर्ण ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त विशेषकरके इच्छा किये विना ब्राह्मणके वधमें कहा है और जो इच्छासे अर्थात् जानके ब्राह्मणका वध करता है उसका कुछ प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥ ८९ ॥ द्विज आज्ञानसे मदिराको पीके अग्निसे गरम जलती हुई मदिराको पीवे तिस जलती हुई मदिरासे उसका शरीर दग्ध हो जावे तब वह तिस पापसे छूटता है ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा । पयो घृतं वामरणाद्गोश-
कृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥ कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृ-
न्निशि । सुरापानापनुत्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अर्थ—अथवा गोमूत्र जल दूध घृत गोबरका रस इनमेसे एक कोइलेके अग्निसे गरमकरके मरणपर्यंत पीवे ॥ ९१ ॥ अथवा पी हुई मुख्य मदिरापानके दोष निवृत्तिकेवास्ते वर्षदिनपर्यंत जीर्ण वस्त्र रखै जटा धारण रखै और मदि-

रा पीनेका चिन्ह बना लेवे और रात्रीकी समयमें एकवार चावलोंके किणकों-
को अथवा तिलोंकी खरीको भक्षण करे ॥ ९२ ॥

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ
वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥ गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया
त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

अर्थ—सुरामदिरा अन्नोंका मल है और वह मल पापरूप कहाता है इसवास्ते ब्रा-
ह्मण क्षत्रिय वैश्य ये मदिराको न पीवें ॥ ९३ ॥ गौडी यानें गुडसे बनाईहुई पै-
ष्टी पीठीसे बनाई हुई माध्वी अर्थात् महुवा वृक्षके पुष्पोंसे बनाई हुई ऐसे तीन
प्रकारकी मदिरा होती है इनमें जैसी एक पीयी तैसे सब पीई इसवास्ते द्विजोत्त-
मोंको नहीं पीनी चाहिये ॥ ९४ ॥

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं
देवानामश्रता हविः ॥ ९५ ॥ अमेध्ये वा पतेन्मतो वैदिकं
वाप्युदाहरेत् । अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

अर्थ—मदिरा मांस मदिराका आसव ये यक्ष राक्षस पिशाच इनके अन्न है
इसवास्ते देवताओंके हविषको भोजनकरनेवाले ब्राह्मणोंको ये भक्षण नहीं करने
चाहिये ॥ ९५ ॥ मदिरापानके मदसे मूढ हुआ ब्राह्मण पतित हो जावे अथवा
अपवित्र हुआ वेदके वचनोंको उच्चारण करे अथवा ब्रह्महत्या आदि अकार्यको
कर देता है ॥ ९६ ॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् । तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं
शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥ एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य
निष्कृतिः । अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जिस ब्राह्मणके शरीरगत जीवात्मा एकवारभी मदिरासे मिल जाता
है तथा एकवारभी जो ब्राह्मण मद्य पीता है तिसका ब्राह्मणपना दूर हो जाता
है और शूद्रभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ९७ ॥ यह मदिरापानका अनेक प्रका-
रका प्रायश्चित्त कहदिया है अब इससे आगे सुवर्णकी चोरीका प्रायश्चित्त कहेंगे ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु । स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां
भवाननुशास्विति ॥ ९९ ॥ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं

स्वयम् । वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

अर्थ—सुवर्णकी चोरी करनेवाला ब्राह्मण राजाके पास जाके अपने चोरीके सब कर्मोंको कहै और राजासे यह कहै कि मुजको आप सजा दो यहां ब्राह्मण शब्दसे मनुष्यमात्रका ग्रहण है ॥ ९९ ॥ उस चोरसेही दियेहुए, मूसलको राजा ग्रहण करके एकवार तिस चोरको हनन करे वह चोर तिस वधसे शुद्ध हो-जाता है और ब्राह्मण चोर तप करनेसे शुद्ध होता है ॥ १०० ॥

तपसाऽपनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् । चीरवासा द्विजोरण्ये
चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥ एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं
द्विजः । गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ—सुवर्णकी चोरीके पापको तपकरके दूर करनेकी इच्छावाला ब्राह्मण पुरानें वस्त्र धारण कर अरण्य वनमें पूर्वोक्त ब्रह्मवध प्रायश्चित्तमें कहा व्रतका आचरण करे ॥ १०१ ॥ इन कहेहुए व्रतोंकरके सुवर्णकी चोरीके पापको द्विज दूर कर देता है और गुरुकी स्त्रीके संग गमनके पापको आगे कहेहुए इन व्रतोंकरके दूर करे ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये । सूमीं ज्वलन्तीं स्वाश्लि-
ष्येन्मृत्युना न विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥ स्वयं वा शिश्रवृषणावुत्कृ-
त्याधाय चाञ्जलौ । नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

अर्थ—गुरुकी स्त्रीसे गमनकरनेवाला तथा मातासे गमनकरनेवाला पुरुष जलते हुए लोहाके अंगारोंपर शयन करे अथवा लोहाकी स्त्रीकी मूर्तिको अग्निसे जलती हुईको पकडके मरजानेसे शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ अथवा अपने लिंगको और वृषणोंको आपही काटके अपनी अंजलीमें लेके मरणपर्यंत नैर्ऋत दिशामें चला जावे और कुटिलतासे न चले ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने । प्राजापत्यं चरेत्कृ-
च्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥ चान्द्रायणं वा त्रीन्मासान-
भ्यस्येन्नियतेन्द्रियः । हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अर्थ—खटियाके पाया आदिको धारण रखे और पुरानें वस्त्रोंको धारण करे डाढी आदिवालोंको नखोंको बढावे विजन वनमें विचरता हुआ कृच्छ्र प्राजाप-

त्य व्रतको समाधान होके वर्षपर्यंत करे ॥ १०५ ॥ गुरुकी स्त्रीके संग मैथुन दोषकी निवृत्तिकेवास्ते जितेंद्रिय होके तीन महिनोंतक चांद्रायण व्रतको करे शामक आदि हविष्यान्न वा शाक मूल फल यवागू इनका भोजन करे ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् । उपपातकिनस्त्रेवमेभिर्ना-
नाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥ उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पि-
बेत् । कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

अर्थ—इन उक्त व्रतोंकरके ब्रह्महत्या आदि महापातकीके पापको दूरकरवावे और गोवध आदि उप पातकी पुरुषके पापोंको आगे कहेहुए इन अनेक प्रकार-
के व्रतोंकरके दूर करे ॥ १०७ ॥ गौकी हिंसा करनेवाला जन एकमहीनातक जवोंका दलिया पीवे और शिखा नख मूँछ डाढी सहित क्षौरकरवाके तिस मृत गौके चामको ओढके गौओंके स्थानमें तीन महीनोंतक वास करे ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्रीयादक्षारलवणं मितम् । गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ
मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥ दिवानुगच्छेद्वास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः
पिबेत् । शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥
तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् । आसीनासु तथासीनो
नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्या-
घ्रादिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥
उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् । न कुर्वीतात्मनस्त्राणं
गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥ आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽ-
थवा खले । भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

अर्थ—और गोमूत्रसे स्नान करे जितेंद्रिय रहे कृत्रिमलवणके विना थोडासा भोजन करे एकदिन भोजनकरके दूसरे दिन सायंकाल भोजन करे ऐसा विधान दो महिनोंतक करे ॥ १०९ ॥ दिनमें प्रातःकाल तिन गौओंके पीछे पीछे अनु-
गमन करे और उनकी रजमें स्थित होके भोजन करे वा जलपान करे और तिन-
की टहैलकरके प्रणामकर फिर रात्रिमेंभीत आदिके सहारे होके स्थित रहे ॥ ११० ॥
और जववे गौ खडी होवें तब आपभी खडा हो जावें जववे चलें तबचलें जब बैठे तब बैठे ऐसे नियममें रहें मत्सरतासे रहित रहे ॥ १११ ॥ और व्याधिसे

पीडित, चौर व्याघ्र आदिकोंके भयसे आक्रांत पड़ी हुई कीचमें धसकी हुई ऐसी गौको सब उपायोंकरके शक्तिके अनुसार छुट्वा देवे ॥ ११२ ॥ और घामपड़ता हो मेघ वर्षता हो शीत पड़ती हो अत्यंत वायु चलती हो ऐसे समयमें गौकी रक्षा कियेविना अपनी रक्षा न करे अर्थात् वनसके तो अवश्य गौकी रक्षा करे ॥ ११३ ॥ अपने अथवा अन्य जनके घरमें तथा खेतमें वा धान्यमें इकट्ठाकरनेकी जगह गौको चरती हुईको तथा वच्छेको दूध पीते हुएको देखके कहै नहीं ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति । स गोहत्याकृतं पापं
त्रिभिर्मसैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुच-
रितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—इस उक्त विधिसे जो गोवध करनेवाला पुरुष गौओंका अनुचर होता है वह गो हत्याके कियेहुए पापसे तीन महिनोमें छूट जाता है ॥ ११५ ॥ दश गौ एक वृषभ ऐसे ग्यारह गौओंका दान करे और जो यदि सम्यक् प्रायश्चित्त करनेवाला वह पुरुष इनको न दे सके तो अपना सर्वस्व धन वेदको जाननेवाले ब्राह्मणोंके अर्थ दे देवे ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं
चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥ अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन
चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अर्थ—गोवध आदि उपपातकी पुरुष इन्हीं व्रतोंको करें और शुद्धिकेवास्ते आगे कहेहुए अवकीर्णोंके विना चान्द्रायण व्रतकोभी करे ॥ ११७ ॥ आगे कहा हुआ अवकीर्णी जन रात्रीमें चौराहेमें काणे गधेकरके पाक यज्ञके विधानसे नैऋति देवताका पूजन करे ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्भोमानन्ततश्च समेत्यृचा । वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जु-
हुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥ कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य
द्विजन्मनः । अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

अर्थ—पीछे तहां चतुष्पथमें विधिपूर्वक होमकरके तिसके अंतमें समासिञ्चन्तु मरुतः० इस ऋचाकरके मारुत इन्द्र बृहस्पति अग्नि इन देवताओंके अर्थ घृतकी आहुति देवे ॥ ११९ ॥ जो ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित हुआ द्विजाति इच्छासे स्त्रीकी योनिमें वीर्यको छोड़ देता है उसके व्रतके अतिक्रम होनेसे धर्मको जाननेवाले

और सब वेदोंके जाननेवाले पुरुष तिसको अवकीर्णी कहते हैं ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च । चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं
तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा ग-
र्दभाजिनम् । सप्तागाराश्वरैर्द्वैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

अर्थ—वेद विद्या पढ़नेके समय ब्रह्मचर्य व्रतसे रहनेवाला जो यदि अवकीर्णी हो जावे तो फिर उसके ब्राह्म तेजको मारुत इंद्र बृहस्पति ये चार देते हैं इसवा-
स्ते इनके अर्थ आहुति देवे ॥ १२१ ॥ यह अवकीर्ण पाप उत्पन्न हो जावे तब
पूर्वोक्त गर्दभायाग आदि करके गधाके चामको धारणकरके अपने कर्मको कहता
हुआ सात घरोंमें भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्व-
ब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥ जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यत-
ममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

अर्थ—तिनसातों घरोंसे लब्ध हुई भिक्षाको दिनमें एक समय भोजन करे और
सायंकाल प्रातःकाल मध्याह्न इन तीन कालोंमें स्नान करता हुआ एक वर्षमें
शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ ब्राह्मण इच्छासे जातिभ्रंश करनेवाले कर्मको करके
आगे कहेहुए कृच्छ्र सांतपन व्रतको करे और जो इच्छा विना किया हो तो आ-
गे कहेहुए प्राजापत्य व्रतको करे ॥ १२४ ॥

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तः
स्याद्यावकैरुयहम् ॥ १२५ ॥ तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे
स्मृतः वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त संकरी करण और अपात्री करण, उच्चाचटन आदि कृत्या इन-
के मध्यमें एक किसीको इच्छासे करनेमें महीनेतक चांद्रायण व्रतको करे और
मलिनी करणमें किसी कर्मके करनेमें गरम गरम य वागूको तीन दिनतक पीवे
॥ १२५ ॥ अच्छे नियममें रहनेवाले क्षत्रियके वध होनेमें ब्रह्महत्याका चौथा
भाग, तीन वर्षका प्रायश्चित्त है और व्रतस्थ वैश्यके वधकरनेमें आठवा भाग प्रा-
यश्चित्त है और शूद्रके वधमें सोलहवां भाग प्रायश्चित्त कहा है ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैकसहस्रा गा

दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥ त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्म-
हणो व्रतम् । वसन्दूरतरे ग्रामाद्बृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अर्थ—और इच्छा कियें बिना क्षत्रियके मारनेके प्रायश्चित्तकेवास्ते सुंदर व्रत-
का आचरण करनेवाला द्विजोत्तम, एक वृषभ सहित हजार गौओंको अपनी
शुद्धिके अर्थ ब्राह्मणोंकेवास्ते देवे ॥ १२७ ॥ जटाधारणकरके ग्रामके समीप वृ-
क्षकी मूलमें निवास करता हुआ ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तका व्रतको नियमपूर्वक
तीन वर्षतक करे ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः । प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं
दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥ एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान्
शूद्रहा चरेत् वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः १३० ॥

अर्थ—श्रेष्ठ आचारमें स्थितहुए वैश्यको इच्छा बिना मारके ब्राह्मण आदि
द्विजाति इसी व्रतको एक वर्षतक करे अथवा एक सौ एक १०१ ॥ गौओंको
ब्राह्मणोंके अर्थ देवे तब शुद्ध होता है ॥ १२९ ॥ इच्छाके बिना शूद्रको मारने-
वाला पुरुषभी इसी व्रतको छ महीनोंतक करे और एक वृषभ दश सफेद गौ-
ओंको ब्राह्मणके अर्थ दान देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चापं मण्डूकमेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च
शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥ पयः पिबेन्निरात्रं वा योजनं वाऽ-
ध्वनो व्रजेत् । उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽद्वैतं जपेत् ॥ १३२ ॥

अर्थ—विलाव नौल चातक मेंडक कुत्ता गोह उरलू काग इनके मारनेमें हत्या-
निवृत्तिके अर्थ पूर्वोक्त शूद्रहत्याके व्रतका प्रायश्चित्त करे ॥ १३१ ॥ अज्ञानसे
इन विलाव आदिकोंके मारनेमें तीन रात्रीतक दूध पीवे अथवा १ योजन कहें
चार कोशतक मार्गमें चले अथवा नदी आदि स्रोतके जलमें स्नानकर आपोहि-
ष्ठा० इत्यादिक सूक्त जपे ॥ १३२ ॥

अग्निं कार्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । पलालभारकं
षण्दे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं
तु तित्तिरौ । शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् १३४

अर्थ—सर्पकी हिंसा करनेवाला मनुष्य ब्राह्मणके अर्थ पैना अग्रभागवाला लो-

हाका दंड दान देवे और नपुंसक सर्पके मारनेमें पलाल धान्य तुषका भार देवे और एक माषक सीसा दान देवे ॥ १३३ ॥ शुवरके मारनेमें घृतसे भरा घडाका दान देवे तित्तरी पक्षीकी हिंसा करनेवाला द्रोणभर तिल दान देवे तोता पक्षीको मारनेवाला दो वर्षके वच्छेका दान देवे कौच पक्षीको मारके तीन वर्षके वच्छेको ब्राह्मणके अर्थ दान देवे ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च वकं बर्हिणमेव च वानरं श्येनभासौ च स्प-
र्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥ वासो दद्याद्वयं हत्वा पञ्च नी-
लान्वृषान्गजम् । अजमेषावनद्धाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—हंस बलाका अर्थात् वगुलाका भेद, वगुला मोर वानर सिकरा भास पक्षी इन मेसे एककोईसेकीभी मारनेकी हिंसामें ब्राह्मणकेवास्ते गौ दान देवे १३५ घोडाको मारके ब्राह्मणकेवास्ते वस्त्र दान देवे और हस्तीको मारके पांच नील वृषोंको दान देवे और वकरा मेंढा इनको मारके वैलका दान देवे गधाको मारके एक वर्षके वच्छाका दान देवे ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रव्यादान्व-
त्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥ जीनकार्मुकवस्तावीन्पृथ-
ग्दद्याद्विशुद्धये । चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः १३८

अर्थ—कच्चे मांसको भक्षण करनेवाले हिंसक मृग व्याघ्र आदिकोंको मारके दूधवाली गौका दान देवे और मांसको भक्षण नहीं करनेवाले हिरण आदिकोंको मारके जबान वछडीका दान देवे ऊंटको मारके कृष्णल प्रमाण रत्तीभर सोना देवे ॥ १३७ ॥ चारों वर्णोंकी स्त्री जारपनेसे विगडी हुई स्त्रियोंको मारके अपनी शुद्धिकेवास्ते चर्मपुट अर्थात् मृगछाला आदि धनुष वकरा मेंढा इनका दान ब्राह्मण आदि यथार्थ क्रमके अनुसार देवे ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णैकं सर्पादीनामशक्नुवन् । एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्वि-
जः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥ अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्र-
मापणे । पूर्णे चानस्यनस्थां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

अर्थ—जो यदि कोई द्विज सर्पादिक इन जीवोंकी हिंसाके प्रायश्चित्तमें कहे दानोंको करनेमें समर्थ न होवे तो एक एक पापके प्रायश्चित्तकेवास्ते कृच्छ्र प्रा-
जापत्य आदि व्रत करे ॥ १३९ ॥ किरलकांट आदि अस्थिवाले हजार प्राणि

योंके वध होनेमें शूद्रकी हत्याके व्रतको करे और अस्थि रहित प्राणियोंको गाडा भरनेके प्रमाण तुल्य मारके शूद्रहत्याके इसी व्रतको करे ॥ १४० ॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे । अनश्नां चैव हिं-
सायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४१॥ फलदानां तु वृक्षाणा छेद-
ने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥

अर्थ—अस्थिवाले सूक्ष्म जीवोंके वधमें किंचित् दान देना योग्य है और अ-
स्थि रहित जूंम आदि क्षुद्रजीवोंके वधमें प्राणायामसे शुद्ध हो जाता है ॥ १४१॥
आम्र आदि फलके वृक्षोंके काटनेमें और कुब्जक आदि गुच्छे वल्लीलता पुष्पों-
वाली वेलकोहला आदिकी वेल इनके काटनेमें गायत्री आदि ऋचाको सौ
वार जपै ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः । फलपुष्पोद्भवाना
च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥ कृष्टजानामौषधीनां जातानां
च स्वयं वने । वृथालम्भेऽनुगच्छेद्वा दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

अर्थ—अन्न आदिकोंमें उत्पन्न हुए और गुड आदिरसोंमें उत्पन्न हुए और
गूलर आदि फलोंमें उत्पन्न हुए तथा पुष्पोंमें उत्पन्न हुए संपूर्ण जीवोंके वधमें
घृत प्राशन, घीके खानेसे पापकी शुद्धि होती है ॥ १४३ ॥ खेतीमें उत्पन्न हुए
धान्य औषधी आदिकोंका अथवा आपही उत्पन्न हुए धान्य आदिकोंको वृथा
छेदन करनेवाला पुरुष एकदिन दूधका आहारकरके व्रत करे और गौओंके
पीछे चले ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् । ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृ-
णुतानाद्यभक्षणे ॥१४५॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शु-
द्ध्यति । मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

अर्थ—इन कहेहुए प्रायश्चित्तोंकरके ज्ञानसेवा अज्ञानसे कियेहुए संपूर्ण हिंसाके
पापको दूर करे अब अभक्ष्य वस्तुके भक्षणके प्रायश्चित्तको आगे कहेको सुनो
॥ १४५ ॥ आज्ञानसे अर्थात् विना जाने हुए मदिराको पीके संस्कार करनेसे
शुद्ध होता है और इच्छा पूर्वक पीके प्राणोंका अंत करनेसे शुद्ध होता है ऐसी
यह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ १४६ ॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा । पञ्चरात्रं पिबेत्पी-
त्वाशङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥१४७॥ स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिव-
त्प्रतिगृह्य च । शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारी पिबेच्चहम् १४८

अर्थ—सुराके पात्रमें स्थित तथा मदिराके भांडमें स्थित हुए जलको पीके पांच
दिनतक शंख पुष्पी औषधीमें पकेहुए दूधको पीवे तब शुद्ध होता है ॥ १४७ ॥
मदिराको स्पर्शकरके वादेके अथवा स्वस्तिवाचनपूर्वक ग्रहणकरके और शूद्रका
उच्छिष्ट जलको पीके तीन दिनतक डाभके काथ कियेहुये जलको पीवे ॥१४८॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिराय-
स्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१४९॥ अज्ञानात्प्राश्य विष्मूत्रं सुरा-
संस्पृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१५०॥

अर्थ—सोम यागको कियेहुए ब्राह्मण मदिरा पीनेवालेके मुखकी गंधिको संघके
तीन बार जलमें प्राणायाम कर घृतको प्राशन कर शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥
ब्राह्मण आदि तीनों द्विजातीवर्ण अज्ञानसे वराह आदिकोंका विष्ठा मनुष्यादि-
कोंका मूत्र मदिरासे स्पर्श हुवारस आदिक इनको भक्षण करलेवें तो फिर सं-
स्कार करानेसे शुद्ध होते हैं ॥ १५० ॥

वपनं मेखलादण्डौ भैक्षचर्या व्रतानि च । निवर्तन्ते द्विजातीना
पुनः संस्कारकर्मणि ॥१५१॥ अभोज्यानां तु भुक्त्वान्न स्त्रीशूद्रो-
च्छिष्टमेव च । जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥१५२॥

अर्थ—शिरका मुंडन करवाना मेखला दंड इनका धारण करना भिक्षा मांगना
मधुमांस वर्जन आदिव्रत ये सब द्विजातियोंके फिरसे संस्कार करानेमें निवृत्त हो
जाते हैं अर्थात् दूसरे बार उपनयन आदि संस्कारमें इनको न करे ॥ १५१ ॥
अभोज्य अर्थात् यज्ञआदि रहित अन्नको भोजनकरके वा स्त्री शूद्र इसादिकोंके
झूठे अन्नको भक्षणकरके और मांसको तथा लस्सन आदि अभक्ष्यको भक्षणकरके
सात रात्रितक जवोंका दलियाको पीवै ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यान्यपि द्विजः । तावद्भवत्यप्र-
यतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥१५३॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः
कपिकाकयोः । प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रयणं चरेत् ॥१५४॥

अर्थ—सिरका आदि शूक्तवस्तु और बहेडा आदिकषायवस्तु और अन्य अशुचि कथित वस्तुओंको द्विज भक्षणकरके तबतक अशुचि रहता है कि जबतक वह पचे नहीं ॥ १५३ ॥ ग्रामका सुवर गधा ऊंट गीदड वानर काग इनके विष्टा मूत्रको भक्षणकरके द्विज चांद्रायण व्रतको करे ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च । आज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥ क्रव्यादसूकरोष्ठाणां कुक्कुटानां च भक्षणे । नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—वायु आदिसे सूखेहुए मांस और भूमिमें उत्पन्न हुए कुकुर मुत्ताआदि शाकको और विनाजानें हुए हिंसाके मांस आदिको भक्षणकरके द्विज इसी व्रतका आचरण करे ॥ १५५ ॥ आम मांस भक्षी व्याघ्र आदिक ग्रामकासुवर ऊंट मुरगा मनुष्य काग गधा इनमें प्रत्येकके मांसको जामके भक्षणकरके आगे कहा हुआ तप्तकृच्छ्र व्रतको करे ॥ १५६ ॥

मासिकान्नं तु योऽश्रीयादसमावर्तको द्विजः । स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचारी तु योऽश्रीयान्मधुमांसं कथंचन । स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

अर्थ—जो ब्रह्मचारी ब्राह्मण सपिंडी श्राद्धसे पहले महीने महीने श्राद्धके अन्नको मासिक श्राद्धको भोजन करता है वह तीन दिनतक उपवास करे और एकदिन जलमें वास करे ॥ १५७ ॥ जो ब्रह्मचारी किसी समय मधु मांसको भक्षण करलेवे तो वह प्राजापत्य व्रतकोकरके शेष रहे अपनं ब्रह्मचर्य व्रतको समाप्त कर देवे ॥ १५८ ॥

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता । अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

विलाव काग मूसा कुत्ता नौल इनके झूठे अन्नको भक्षणकरके तथा बालकीडा आदिकोंसे युक्त अन्नको भक्षणकरके सुवर्चला अर्थात् ब्राह्मी औषधीके काढेको पीवे ॥ १५९ ॥ आत्माकी शुद्धिकी इच्छा करनेवाले पुरुषको अभोज्य अन्न भक्षण नहीं करना चाहिये और प्रमादसे भक्षण किये जावे तो वमनकर देवे वमन न होवे तो प्रायश्चित्तोंकरके शीघ्रही शुद्धि करे ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यदनस्योक्तो व्रताना विविधो विधिः । स्तेयदोषापहर्तृणा
व्रताना श्रूयतां विधिः ॥ १६१ ॥ धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा का-
माद्विजोत्तमः । स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२ ॥

अर्थ—अभक्ष्य वस्तुओंके भक्षण करनेमें जो प्रायश्चित्त है तिन्होंका यह अनेक प्रकारका विधान कहा है अब चोरीके पाप करनेवालोंके प्रायश्चित्तको सुनो १६१ ब्राह्मण ब्राह्मणके घरसे धान्य भात आदि सिद्धान्न धन इनकी चोरी इच्छासे कर लेवे तो वह प्राजापत्य व्रतको वर्षादिनतक करनेसे शुद्ध होता है ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च
शुद्धिश्रान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥ द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं
कृत्वाऽन्यवेश्मतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्ध्ये १६४

अर्थ—पुरुष स्त्री खेत इनमेसे एक कोईसेके हरनेमें अथवा वावडी कूवा इनके संपूर्ण जलके हरनेमें चांद्रायण व्रत करना यह शुद्धि मन्वादिकोंने कही है १६३ थोड़े मूल्यवाले और थोड़े प्रयोजनवाले द्रव्योंको अन्यके घरसे चोरी करके उस हराहुआ द्रव्यको मालिककेवास्ते देके फिर आगे कहा हुआ कृच्छ्र सांतपन व्रतको अपनी शुद्धिके अर्थ करे ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलाणां च प-
ञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥ तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य
गुडस्य च । चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—लड्डू खीर आदि भक्ष्यभोज्य पदार्थोंके हरनेमें सवारी शय्या आसन पुष्पमूल फल इनके हरनेमें प्रत्येकमें, पंचगव्यका पीना शुद्धिकारक है ॥ १६५ ॥ तृणकाष्ठ वृक्ष शूखे अन्न गुड वस्त्र चाम मांस इनके चुरानेमें तीन रात्रीतक भोजन नहीं करे ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च । अयः कांस्योपलानां
च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७ ॥ कार्पासकीटजोर्णानां द्विश-
फैकशफस्य च । पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः १६८

अर्थ—मणि मोती मूंगा तांबा चांदी लोहा कांसी पत्थर इनके चुरानेमें बारह दिनतक चावलोंके कणकोंको भक्षण करे यहां सब जगह द्रव्य अधिक न्यूनके

अनुसार प्रायश्चित्त है ॥ १६७ ॥ कपास रेसम ऊन बैल घोडा पक्षी गन्ध औष-
धी रज्जु इनके चुरानेमें तीन दिनतक दूधका आहार करे और पूर्वोक्तकी तरंह
इन चोरीकी वस्तुओंको मालिकको सौंप देवे ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । अगम्यागमनीयं तु व्रतैरे-
भिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥ गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्व्रितः सिक्त्वा स्वयो-
निषु । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

अर्थ—इन कहेहुए व्रतोंकरके द्विज चोरीके पापको दूर करे और अगम्या स्त्री-
केसंग मैथुन करनेके पापको आगे कहेहुए इन व्रतोंकरके दूर करे ॥ १६९ ॥ अप-
नी भौजाई वहैन मित्रकी स्त्री पुत्रवधू कुमारी चांडाली इनमें प्रत्येक विषे मैथु-
नसे वीर्य स्खलितकरके पूर्वोक्त गुरुभार्या संगमें कहेहुए प्रायश्चित्तको करे ॥ १७० ॥

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च । मातुश्च भ्रातुस्तनयां
गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥ एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु
बुद्धिमान् । ज्ञातित्वेनानुपेयास्ता पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

अर्थ—पिताकी वहैनकी और माताकी वहैनकी लडकी माताकी वहैन भाईकी
पुत्री इनकेसंग मैथुनकरके चांद्रायण व्रतकों करे ॥ १७१ ॥ इन कहीहुई ती-
नोंको बुद्धिमान् पुरुष विवाहै नहीं क्योंकि बांधवपनें होनेसे ये विवाहनेंको वा
मैथुन करनेको योग्य नहीं है इनको विवाहनेंवाला जन नरकमें गिरता है ॥ १७२ ॥

अमानुषीषु पुरुष उदकयायामयोनिषु । रेतः सिक्त्वा जले चैव
कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ १७३ ॥ मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति
वा द्विजः । गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

अर्थ—पुरुष घोड़ीआदि पशुकी योनिमें वा रजस्वला स्त्रीकी योनिमें वा स्त्री-
योनिविना अन्य कही स्त्रीके अंगमें वा जलमें वीर्यको छोडके कृच्छ्र सान्तपन
व्रतको करे ॥ १७३ ॥ पुरुषमें मैथुनकरके अथवा बैलोंकी सवारी रथवहैल आ-
दिमें तथा दिनमें स्त्रीकेसंग मैथुनकरके वस्त्रोंसहित स्नान करे ॥ १७४ ॥

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो
विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५ ॥ विप्रदुष्टं स्त्रियं भर्ता नि
रुन्ध्यादेकवेश्मनि । यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्रतम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—चांडाली नीच जातिकी स्त्री इनके संग ब्राह्मण अज्ञानसे मैथुनकरके और इनके हाथका भोजनकरके और प्रतिग्रह लेके पतित हो जाता है और जो जानके ये सब बात करता है वह इनकीही जातिमें मिल जाता है ॥ १७५ ॥ इच्छाकरके जारिणी स्त्रीको पति एक घरमें रोकके रखे और जो पुरुषको सजातीय परस्त्रीसंगमें प्रायश्चित्त कहा है वही इस्से करवावे ॥ १७६ ॥

सा चेतुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता । कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव
तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥ यत्करोत्ये करात्रेण वृषलीसेव-
नाद्विजः । तद्वैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

अर्थ—वह स्त्री जो यदि सजातीय परपुरुषसे एकवार संग कर फिर प्रायश्चित्त करें पीछे सजातीय पुरुषकेसंग फिर वशमें होके विगड जावे तो कृच्छ्र चां-द्रायण व्रत करे वह व्रत मन्वादिकोंने इसको पवित्र करनेवाला कहा है ॥ १७७॥ चांडालीकेसंग मैथुन करनेसे ब्राह्मण जो एकरात्रीमें पापको इकट्ठा करता है उस पापको भिक्षाका भोजन करताहुआ और गायत्रीआदि जप करताहुआ तीनवर्षमें दूर करता है ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः । पतितैः संप्रयुक्तना-
मिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥१७९॥ संवत्सरेण पतति पतितेन स-
हाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥१८०॥

अर्थ—यह हिंसा अभक्ष्य भक्षण चोरी अगम्यागमन इन पापोंको करनेवाले पुरुषोंका प्रायश्चित्त कहा है अब पतित पुरुषोंकेसाथ रहनेवाले पुरुषोंकी इन आगे कही हुई शुद्धियोंको सुनो ॥ १७९ ॥ पतितपुरुषोंकेसाथ सवारी आसन भोजन इत्यादिकोंको मिलके करनेवाला संग विचरनेवाला पुरुष वर्षदिनमें पति-त हो जाता है और यज्ञआदिकरानेसे वा उपनयनसंस्कारकरानेवाले एक संग भोजन करनेवाले ऐसे पुरुष तात्कालही पतित हो जाते हैं ॥ १८० ॥

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कु-
र्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥१८१॥ पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्वा-
न्धवैर्बहिः । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥१८२॥

अर्थ—जो इन पतित पुरुषोंके मध्यमें जिस पापकारी पुरुषके संग मेल करता

है वह उसीके व्रतको चौथे हिस्सेसेही न करे जैसे ब्रह्मघाती पुरुषके संग मलेकरने-
वाला पुरुष उसीके प्रायश्चित्तको द्वादशवर्षसे चतुर्थांश हीन करे तब शुद्धि हो-
ती है ॥ १८१ ॥ महापातकी पुरुषके जीवते हुएही आगे कही हुई विधिसे सपिं-
ड समानोदक भाईयोंको ग्रामसे बाहिर नवमी तिथिके दिन सायंकालमें बांधव
ऋत्तिक गुरु इनके समीप उसकी उदकक्रिया अर्थात् प्रेतक्रिया करनी योग्य
है ॥ १८२ ॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं
बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥ निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने । दा-
याद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

अर्थ—सपिंड समानोदकोंसे प्रयुक्तकी हुई दासी जलसे भरेहुए घटको प्रेत क-
लशकी तरह दक्षिणाभिमुख होके पैरसे फैंक देवे जिस्से वह पतित पुरुष निरुद-
क हो जावे और वे सपिंड तथा समानोदक भाई तिसका एकदिनका अशौच
रखे ॥ १८३ ॥ तिस पतित पुरुषकेसाथ सपिंडभाईयोंका संभाषण एक आसनपे
बैठना घरमें धनका हिस्सा निमंत्रण आदि ये सब लोकव्यवहारनिवृत्त हो
जाते हैं ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् । ज्येष्ठाशं प्राप्नुयाच्चा-
स्य यवीयान् गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥ प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्ण-
कुम्भमपां नवम् । तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये १८६

अर्थ—जो बड़ाभाई पतित हो जावे तो उसके छोटे भाई प्रत्युत्थान आदि उस-
का सत्कार न करे और बड़ाभाईका जो धनमें विशेष हिस्सा होता है उस-
को न देवे किंतु जो छोटा भाई गुणवान् होवे वह उसके हिस्सेको लेवे ॥ १८५ ॥
और जो यदि वह पतित भाई प्रायश्चित्त कर देवे तो अन्य सपिंड समानोदक
भाई तिसीके प्रायश्चित्त कियेहुए अपवित्र जलाधारमें स्नानकरके जलका भरा
हुआ नवीन घटको फैंक देवे ॥ १८६ ॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् । सर्वाणि ज्ञातिकार्या-
णि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥ एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु
पतितास्वपि । वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥
अर्थ—वह प्रायश्चित्त करनेवाला मनुष्य तिस जलके घटको जलमें फैंकके

फिर अपने घरमें प्रवेश कर देवे और पहलेकी तरह अपने सब ज्ञातिकर्मोंको करे ॥ १८७ ॥ पतित स्त्रियोंकीभी यही विधि उदकक्रिया करनी चाहिये और इनके भर्त्ता आदिक इनकेवास्ते वस्त्र अन्न पानआदिक देता रहे और घरके पास रहनें को कुटी बनवा देवे ॥ १८८ ॥

एनस्विभिरनिर्णिकैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् । कृतनिर्णेजनाश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः । शरणागतहन्तृंश्च स्त्रीहन्तृंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

अर्थ—प्रायश्चित्त कियेबिना पापकारी पुरुषोंकेसाथ दान प्रतिग्रह आदि कुछ प्रयोजन न करे और जो प्रायश्चित्त करचुके उसके पापकी कुछभी निंदा न करे किंतु पहलेकी तरह व्यवहार रखे ॥ १८९ ॥ बालकको मारनेवाला तथा कृतघ्नी अर्थात् उपकारकरनेवालाको मारनेवाला शरणागतको मारनेवाला स्त्रीको मारनेवाला ये सब प्रायश्चित्त कर दें तोभी इनकेसाथ संभाषणआदि मेल न करे ॥ १९० ॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि । तांश्चारयित्वा त्री-
नकृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति वि-
कर्मस्थास्तु ये द्विजाः । ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥

अर्थ—जिन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंका उपनयन संस्कार यथोक्त कालमें नहीं होता है तिनको तीन प्राजापस व्रत करवाके यथार्थ शास्त्रके अनुसार उपनयन करवा देवे ॥ १९१ ॥ जो उपनयन संस्कारवाले द्विज शूद्रसेवा आदि विकर्ममें स्थित हैं वे यदि प्रायश्चित्त करनेकी इच्छा करें तो ब्राह्मणोंसे सक्तहुए उनकाभी यही प्राजापस प्रायश्चित्त है ॥ १९२ ॥

यद्गृहितेनार्चयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति
जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥ जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि
समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

अर्थ—निंदित कर्म दुष्प्रतिग्रहकर्म आदिसे जो ब्राह्मण धनको संचय करते हैं तिस धनके त्यागनेसें और आगे कहेहुए जप तपकरके शुद्ध होते हैं ॥ १९३ ॥ सावधान होके तीन हजार गायत्रीका जापकरके १ महीनातक गौओंको स्थानमें दूधका आहारकरके दुष्प्रतिग्रहके दोषसे ब्राह्मण छूट जाता है ॥ १९४ ॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् । प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं

सौम्येच्छसीति किम् ॥ १९५ ॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं
गवाम् । गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

अर्थ—दूधके आहारसे कृश दुर्बल देहवाले और गौओंके स्थानसे आयेहुए तथा नम्रहुए तिससे पूछे कि हे सौम्य फिर ऐसा प्रतिग्रह न लेवेगा और हमारी साथ साम्यता चाहतेहो ॥ १९५ ॥ फिरवह प्रायश्चित्त करनेवाला ब्राह्मण ऐसे कहें कि आपका कहना सच है मैं ऐसा न करूंगा ऐसा कहता गौओंके चरनेवा-
स्ते घास देवे पीछे गौओंकरके पवित्रहुए उस देशमें ब्राह्मण तिसको अंगीकार करलेवें ॥ १९६ ॥

ब्रात्यानां याजनं कृत्वा पेषामन्त्यकर्म च । अभिचारमहीनं च
त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥ शरणागतं परित्यज्य वेदं वि-
प्लाव्य च द्विजः । संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

अर्थ—पहले कहेहुए उपनयन संस्कारके विना ब्रात्य संज्ञकहुए पुरुषोंके यज्ञ-
आदि करवाके अथवा माता पिता आदिकोंकी और्ध्वदेहिक निषिद्ध श्राद्ध आदि-
करके इयेन आदि आभिचारकरके वा अहीन यज्ञ विशेषकरके तीन कृच्छ्र व्रतों-
करके शुद्ध होता है ॥ १९७ ॥ शरणागत अर्थात् रक्षाकेवास्ते आयेहुएको त्या-
गके और नहीं पढानेके योग्य वेदको पढाके द्विज तिस पापको वर्ष पर्यंत जवोंका
आहारकरके दूर करता है ॥ १९८ ॥

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्विरेव च । नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्रा-
णायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥ षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप
एव वा । होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

अर्थ—कुत्ता गीदड गधा मनुष्य घोडा ग्राम्य सूकर क्रव्याद अर्थात् विलाव
आदि इनसे डसाहुआ फाडाहुआ मनुष्य प्राणायाम करनेसे शुद्ध हो जाता है
॥ १९९ ॥ पंक्तिरहित पतित तस्कर आदिकोंको शुद्धिके वास्ते, एक महिनेतक
तीन दिन भोजन नहींकरके चौथे दिन तीसरे पहर भोजन करना वेद संहिताका
जप करना आनेक प्रकारके होम करने यह प्रायश्चित्त कहा है ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः । स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः
प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०१ ॥ विनाद्विरप्सु वाप्यार्तः शारीरं
सन्निवेश्य च । सचैलो बहिराप्सु गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ २०२ ॥

अर्थ-इच्छाकरके ऊंटकी सवारीपर चढ़के अथवा गधेकी सवारीपर चढ़के ब्राह्मण नंगा होके स्नानकरके बहुतसे प्राणायाम करनेसे शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥ जलके विना अर्थात् जलसे शुद्धि कियेविना वा जलके मध्यमें मूत्र वा विष्ठाका त्यागकरके वस्त्रोंसहित ग्रामसे बाहिर नदीआदिमें स्नान करनेसे तथा गौको स्पर्श करनेसे शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः । स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

अर्थ-वेदविहित अग्निहोत्रीआदि नित्यकर्मोंके लोप होनेमें छूट जानेंमें तथा स्नातकव्रतके लोप हो जानेंमें एकदिनतक भोजन नहीं करना यह प्रायश्चित्त है ॥ २०३ ॥ ब्राह्मणको हूं चुपठहरो इत्यादि वचन कहके बड़े आदमीको तू इत्यादि एक वचन कहके नमस्कारके समयसे लेके बाकी रहे सबदिनमें सूर्यास्ततक स्नान करके और उनके पैर पकरके तथा उस दिन कुछ भोजन नहीं करके उनको प्रसन्न करे ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वा बध्य वाससा । विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥ अवगूर्य त्वद्दशतं सहस्रमभिहत्य च । जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

अर्थ-ब्राह्मणको तृणकरकेभी ताडना दे के अथवा उसके कंठमें वस्त्रआदि बांधके वा उसको विवादसे जीतके फिर उसको प्रणामआदिसे प्रसन्न करे २०५ ब्राह्मणको मारनेकी इच्छासे लाठी आदिके उठानेसे सौ वर्षतक नरकमें वास होता है और लाठी आदिका प्रहार करनेसे मारनेसे हजार वर्षतक नरकमें वास होता है ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले । तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥ अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

अर्थ-प्रहार कियेहुए ब्राह्मणके शरीरसे निकसाहुआ रुधिर पृथ्वीमें गिरके जितने धूलके किण्ठोंको ग्रहण करता है उतनेही हजार वर्षोंतक ब्राह्मणपर प्रहार करनेवाला नरकमें रहता है ॥ २०७ ॥ ब्राह्मणको मारनेकी इच्छासे लाठी उ-

ठाके कृच्छ्र व्रत करे और लाठीको मारके असंत कृच्छ्र आगे कहा व्रतको करे और मारके उसके शरीरमें रुधिर निकासके कृच्छ्र अत्यंत कृच्छ्र इन दोनों व्रतोंको करे ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीना तु पापानामपनुत्तये । शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥ यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति । तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

अर्थ—विना कहेहुए प्रायश्चित्तोंको पाप उतरनेकेवास्ते अपनी सामर्थ्य देखके और उस पापको देखके अनुमानमाफिक प्रायश्चित्त करे ॥ २०९ ॥ जिन उपायोंकरके मनुष्य पापोंको दूर करसक्ता है तिन उपायोंको देवता ऋषि पितर इन्होंसे सेवित कियेहुयोंको तुम्हारेआगे कहेंगे ॥ २१० ॥

अथ प्रातरुग्रहं सायं अथमद्यादयाचितम् । अथ परं च नाश्रीयत्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ २११ ॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

अर्थ—प्राजापत्यव्रत करताहुआ द्विज तीन दिनतक प्रातःकाल भोजनके समय आहार करे और पीछे तीन दिनतक सायंकाल भोजन करे फिर तीन दिनतक विना मांगाहुआ लब्ध भोजनको भोजन करे फिर तीन दिनतक भोजन नहीं करे ॥ २११ ॥ गोमूत्र गोबर दूध दही घृत कुशाका काथ इनको इकट्ठे करि एक एक दिन भोजन करे पीछे एकदिन कुछभी भोजन न करे यह कृच्छ्र सांतपन व्रत कहाता है ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्रीयत् अथहाणि त्रीणि पूर्ववत् । अथ चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ २१३ ॥ तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् । प्रतिअथ पिवेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥

अर्थ—तीनदिनतक एक ग्रास भोजन करे फिर तीनदिनतक सायंकाल एक एक ग्रास भोजन करे फिर तीनदिनतक विना मांगा हुआ लब्ध हुआ एक ग्रास भोजन करे फिर तीनदिनतक कुछभी भोजन नहीं करे यह अतिकृच्छ्र सांतपन व्रत कहाता है ॥ २१३ ॥ तप्तकृच्छ्र व्रत करता हुआ द्विजाती तीनदिनतक गरम जल पीवे तीनदिनतक गरम दूध पीवे तीनदिनतक गरम घृत पीवे तीनदिन गरम वायु पीवे ऐसे क्रमसे पीवे और एक बार स्नान करे नियम धारण रखे ॥ २१४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् । पराकोनाम कृच्छ्रोऽयं
सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥ एकैकं हासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले
च वर्धयेत् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

अर्थ—जितेंद्रिय रहे और प्रमादसे रहित रहै बारहदिनतक भोजन नहीं करै
यह पराककृच्छ्र व्रत कहाता है सब पापोंको दूर करता है ॥ २१५ ॥ तीनोंवक्त
स्नान करता हुआ पूर्णमासीको १५ ग्रास भोजन करके फिर प्रतिपदासे एक एक
ग्रास घटाता जावे और शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे एक एक ग्रास बढ़ाने लगे ऐसे
भोजन करै यह चांद्रायण व्रत कहाता है ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे । शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चा-
न्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥ अष्टावष्टौसमश्रीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने
स्थिते । नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

अर्थ—इसी संपूर्ण विधिको करता हुआ तीनों कालमें स्नान करता हुआ शुक्ल-
पक्षकी प्रतिपदाको एक ग्राससे पूर्ण मासीको १५ ग्रास कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको
चौदह ऐसे घटता हुआ भोजन करे यवमध्य चांद्रायण व्रत कहाता है ॥ २१७ ॥
शुक्लपक्षसे लेके अथवा कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे लेके आरंभ करता हुआ चांद्रायण
व्रत करनेवाला पुरुष एक महीनातक जितेंद्रिय रहे और हविष्य अन्न देवान्नको
भोजन करे मध्यान्ह समयमें एकवार दिन दिन प्रति आठ आठ ग्रास भोजन करे
यह यति चांद्रायण व्रत कहाता है ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातरश्रीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये
शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥ यथाकथञ्चिपिण्डानां तिस्रोऽ-
शीतीः समाहितः । मासेनाश्रन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥

अर्थ—इसी क्रमसे प्रातःकाल चार ग्रासोंको भक्षण करे और चार ग्रास सायं-
काल भोजन करे ऐसे महीनेतक हविष्य अन्नको भोजन करे यह शिशु चांद्रायण-
व्रत कहाता है ॥ २१९ ॥ जिस किसी प्रकारसे एक महीनातक दोसौ चालीस ग्रासों-
को २४० समाधान होके सामक आदि हविष्य अन्नको भक्षण करता हुआ पुरु-
ष चंद्रमाके लोकको प्राप्त होता है और संपूर्ण पापोंको नष्टकर देता है ॥ २२० ॥

एतद्बुद्धास्तथादित्या वसवश्चाचरन् व्रतम् । सर्वाकुशलमोक्षाय म-
रुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥ महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वय-

मन्वहम् । अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—इस चांद्रायण व्रतको रुद्र मरुत वसु ये सब देवते महर्षियोंके साथ संपूर्ण पापको दूर करनेकेवास्ते करते भये ॥२२१॥ भूर्भुवस्व इत्यादि महाव्याहृतियोंकरके दिनदिनप्रति होम करना चाहिये और हिंसा नहीं करनी सत्य बोलना क्रोध नहीं करना कोमलता रखनी ऐसा प्रचार रखना चाहिये ॥२२२॥

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् । स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥ स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः

शयीत वा । ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

अर्थ—आदि मध्य अंत ऐसे दिनमें तीन बार और रात्रमेंभी ऐसेही तीन बार वस्त्रोंसहित नदी आदिकोंके जलमें प्रवेश करे और स्त्री शूद्र पतितजन इनके साथ संभाषण कभी न करे यह नियम पिपीलिकामध्य यवमध्य इन नामोंवाले चांद्रायण व्रतमें है ॥ २२३ ॥ दिनमें तथा रात्रीमें खड़ा रहे अथवा बैठा रहे और जो खड़ा बैठा रहनेकी सामर्थ्य नहीं होवे तौ पृथ्वीमें चौतरा आदिपर सोवे खट्वापर नहीं सोवे और ब्रह्मचारी तथाव्रती रहै गुरुदेवता द्विज इनका पूजन करता रहै ॥ २२४ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः । सर्वेष्वेव व्रतेष्वेव

प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैरा-

विष्कृतैः । अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

अर्थ—गायत्रीको नित्यप्रति जपता रहे और अघमर्षण आदि पवित्र मंत्रोंको शक्तिके अनुसार जपे ये सब नियम जैसे चांद्रायण व्रतमें हैं तैसेही प्राजापत्य आदि अन्य व्रतोंमेंभी करने योग्य है ॥ २२५ ॥ इन उक्त प्रायश्चित्तोंकरके प्रकट पापोंवाले द्विजाति शोधनेके योग्य है और जिनके पाप प्रकट न हों उनको मंत्र होम आदिकोंकरके शुद्ध करें ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापात्तथा

दानेन चापदि ॥ २२७ ॥ यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानु-

भाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ—पाप करनेवाला पुरुष लोगोंमें अपने पापके कहनेसे और धिक्कार आदि-करके पछतानेसे तपकरके गायत्री आदि जपकरके और तप आदि न करसके

तो दान देनेसे उस पापसे छूट जाता है ॥ २२७ ॥ जैसे जैसे मनुष्य पापकरके आपही लोगोमें कह देता है तैसे तैसेही सर्प जैसे कांचलीको छोड़ देता है उसी तरह उस अधर्मकरके छूट जाता है ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गृह्णीति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥ कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । नैवं कुर्या पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

अर्थ—उस पाप करनेवालेका मन जैसे जैसे तिस दुष्कृत कर्मकी निंदा करता है तैसे तैसेही वह जीवात्मा उस अधर्मसे छूट जाता है ॥ २२९ ॥ मनुष्य पापको-करके फिर पछतानेसे और मैं फिर ऐसा न करूंगा ऐसे कहनेसे निवृत्तिरूप संकल्प करनेसे तिस पापसे पवित्र होजाता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् । मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥ अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

अर्थ—ऐसे शुभ अशुभ कर्मोंके फलको परलोकमें सुख दुःखको करनेवालोंको अपने मनसे विचारके नित्यप्रति मन वाणी शरीर इनकरके शुभ कर्मको करे ॥ २३१ ॥ आज्ञानसे अथवा इच्छाकरके दुष्कृत कर्मकोकरके तिससे मुक्तिकी इच्छा करनेवाला पुरुष फिर दूसरे वैसा पाप न करे क्योंकि दूसरे बार द्विगुणा प्रायश्चित्त करना कहा है ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् । तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥ तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् । तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

अर्थ—इस पापकारी मनुष्यका चित्त जिस प्रायश्चित्तके करनेसे संतोषको प्राप्त होता है उसी प्रायश्चित्तको मनकी प्रसन्नता होवे तबतक करे ॥ २३३ ॥ जो यह देवताओंको तथा मनुष्योंको सुख है उसका तपही कारण है और तिस सुखके ठहरनेमेंभी तपही कारण है और वेदके जाननेवाले पंडितोंने तिस सुखके अंतमेंभी तपही कारण कहा है ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥ ऋषयः संयतात्मानः फ-

लमूलानिलाशनाः । तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् २३६

अर्थ—ब्राह्मणके वेदांत ज्ञानका होना यह तप कहा है और क्षत्रियको प्रजाकी रक्षा करना यह तप है वैश्यको खेती वणज पशुपालन ये तप कहे हैं शूद्रको द्विजों-की सेवा करनी यह तप है ॥ २३५ ॥ ऋषिजन वाणी मन इंद्रिय इनको वशमें कियेहुए फलमूल वायु इनका भक्षणकरके स्वर्ग पाताल भूमि इस त्रिलोकीको एक जगंह बैठेहुए इसी तपकरके विशेष करिके देखते हैं ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः । तपसैव प्रसि-
द्धयन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥ यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च
दुष्करम् । सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—व्याधिको दूर करनेवाली औषध आरोग्य ब्रह्मविद्या अनेकप्रकारकी वेदविद्या ये सब तपकरकेही सिद्ध होती है क्योंकि इनका कारण तपही है ॥ २३७ ॥ जो ग्रहदोषसूचित आपत् आदिदुःखसे पार होता है जो प्राप्त होनेको दुर्लभ है जो सुमेरु आदि दुर्गम्य है और जो करनेमें दुष्कर है सो सब तपकरके सिद्ध हो जाता है क्योंकि तपही संपूर्ण दुष्करोंको करनेवाला है ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः । तपसैव सुतप्तेन मुच्य-
न्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥ कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च व-
यांसि च । स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् २४०

अर्थ—ब्रह्महत्याआदि महापातक करनेवाले और गौहत्याआदि उपपातक करनेवाले सब पुरुष सुंदर किये हुए तपकरकेही तिसपापसे छूट जाते हैं ॥ २३९ ॥ कीट अहि अर्थात् सर्प पतंग पशु पक्षी गुल्मवृक्षआदि स्थावरभूत ये सब तपके बलकरके स्वर्गमें प्राप्त होते हैं क्योंकि कपोत आदिकोंके इतिहास पुराणआदि-कोंमें है ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः । तत्सर्वं निर्दहन्त्या-
शु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य
दिवौकसः । इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

अर्थ—तपही है धन जिनके ऐसे तपस्वी जन जो कुछ मनवाणी शरीर इनसे पाप करते हैं उस सबको शीघ्रही तपकरके नष्ट कर देते हैं ॥ २४१ ॥ प्रायश्चि-

त्तरूपी तप करके क्षीण पापवाले ब्राह्मणके यज्ञमें देवता साकल्यको ग्रहण करते हैं और उसके वांछित मनोरथोंको बढ़ावते हैं ॥ २४२ ॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः । तथैव वेदानृषयस्तपसा
प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥ इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

अर्थ—संपूर्णलोकोंकी रचना प्रलय इनके करनेमें प्रभु समर्थ ब्रह्माजी इस ग्रंथको तपकरकेही करते भये और वसिष्ठआदि संपूर्ण ऋषि तपकरकेही संपूर्ण वेदोंकेजाननेमें संपन्न होते भये ॥ २४३ ॥ देवते संपूर्ण इस जगतको जो दुर्लभ जन्मआदि हैं तिसको उत्तम पुण्यको तपके कारणसे देखतेहुए ऐसा माहात्म्य कहते हैं कि यह सब जगत् तपोमूल है अर्थात् तपसेही सब बातोंकी उत्पत्ति होती है ॥ २४४ ॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा । नाशयन्त्याशु पा-
पानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥ यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं नि-
र्दहति क्षणात् । तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

अर्थ—दिनदिनप्रति वेदका पढ़ना शक्तिके अनुसार पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान करना क्षमा करनी ये सब कर्म महापातकसे उत्पन्न हुए पापोंकोभी शीघ्रही नष्ट कर देते हैं ॥ २४५ ॥ जैसे अग्नि प्राप्त हुए इंधनको अपने तेजसे क्षणमात्रमें दग्ध कर देता है तैसेही वेदको जाननेवाला द्विज ज्ञानरूपी अग्निसे संपूर्ण पापको दग्ध कर देता है ॥ २४६ ॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि । अत ऊर्ध्वं रहस्यानां
प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥ सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु
षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

अर्थ—यह सब ब्रह्महत्याआदि पापोंका प्रायश्चित्त यथाविधिसे कह दिया है अब इससे उपरांत गुप्त किये हुए पापोंके प्रायश्चित्तोंको सुनों ॥ २४७ ॥ व्याहृतियोंसहित और प्रणवसहित गायत्रीसे युक्त सो यह प्राणायाम पूरक कुंभक रेचक आदि दिनदिनप्रति करनेसे भ्रूणहत्या करनेकोभी एक महिनामें पवित्र कर देते हैं ॥ २४८ ॥

कौत्सं जघ्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् । माहित्रं शुद्धवत्यश्र

सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥ २४९ ॥ सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिव-
संकल्पमेव च । अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

अर्थ—अपनःशोशुचदयम् ० इस कौत्सऋषिकी ऋचाको वा वसिष्ठ ऋषिका सूक्त प्रतिस्तोम ० इस ऋचाको पुरुष मनुशिष्य माहित्रं महित्रीणामवोस्तु ० एतो-
न्विन्द्रंस्तवाम शुद्धम् ० इत्यादिक शुद्धवतीऋचाओंको सोलहवारभी जपके मदिरा पीनेवालाभी शुद्ध हो जाता है ये संपूर्ण ऋचा वेदमें मिलेंगी ॥ २४९ ॥ सुवर्ण-
की चोरी करनेवाला पुरुष अस्य वामस्य पलितस्य ० इन सूक्तोंको एक महिनेतक जप कर अथवा यज्जाग्रतो दूरम् ० इसादि शिवसंकल्पमस्तु ऐसी ऋचाओंका जप कर शीघ्रही उस चोरीके पापसे दूर हो निर्मल हो जाता है ॥ २५० ॥

हविष्यन्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च । जपित्वा पौरुषं सूक्तं
मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥ एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्ष-
न्नपनोदनम् । अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

अर्थ—हविष्याङ्गमजरं इन १९ ऋचाओंको तथा नतमंहोनदुरितम् ० इन ८ ऋचाओंको वा इतिमेमनसःशिवसंकल्प ० इस सूक्तको वा सहस्रशीर्षापुरुषः ० इन सोलह ऋचाओंको एक महीनातक जपके गुरुकी स्त्रीके संगके पापसे छूट जाता है ॥ २५१ ॥ महापातकोंको वा सूक्ष्म उपपातकोंको दूर करनेकी इच्छा-
वाला पुरुष अवते हेडो वरुण नमोभिः ० इस ऋचाको वा वरुण दैव्येजने इस ऋचाको वा इति मेमनः शिवसंकल्प ० इस सूक्तको वर्षदिनपर्यंत एकवार नित्य प्रति जपै ॥ २५२ ॥

प्रतिग्रह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वाचान्नं विगर्हितम् । जपंस्तरत्समन्दीयं
पूयते मानवस्यहात् ॥ २५३ ॥ सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य
शुद्ध्यति । स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च त्यूचम् ॥ २५४ ॥

अर्थ—नहीं लेनेके योग्य प्रतिग्रहदानको ग्रहण करके वा निंदित अन्न अर्थात् स्वभाव काल संसर्ग इनसे दूषित अन्नको भोजन करके तरत्समन्दीयावति ० इन चार ऋचाओंको तीन दिनतक जपके तिस पापसे छूट जाता है ॥ २५३ ॥ सोमारुद्राधारयेश्याम ० इत्यादि चार ऋचाओंको और अर्यमा ० वरुणं मित्रं ० इन दो २ ऋचाओंको नित्य प्रति जपै और नदीमें स्नान करे ऐसे एक महिनेतक करनेसे बहुतसे पापोंवालापुरुषभी शुद्ध हो जाता है ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु
मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥ मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा
घृतं द्विजः । सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इन्द्र्युचम् ॥ २५६ ॥

अर्थ—पापकरनेवाला पुरुष सातमहीनोतक इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं त्रय इत्यादि
क सात ऋचाओंको जपे और अप्रशस्त अर्थात् जिसने जलमें मूत्र विष्टाआदि
करा हो वह एक महीनोतक भिक्षाका भोजन करे ॥ २५५ ॥ देवकृतस्य इत्या-
दिक शाकल्य होमोंकरके वर्षदिनतक द्विज घृतका होम करे अथवा नमःइन्द्रश्च
इस ऋचाको वर्षतक जपे ऐसे करनेसे महापातककोभी नष्ट कर देता है ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्वाः समाहितः । अभ्यस्याब्दं पावमा-
नीर्भैक्षहारो विशुद्ध्यति ॥ २५७ ॥ अरण्ये वात्रिरभ्यस्य प्रयतो
वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

अर्थ—ब्रह्महत्याआदि महापातकी पुरुष वर्षदिनतक भिक्षाका भोजन करे
और जितेंद्रिय रहे ५ गौओंकी सेवा करता हुआ तिनके पीछे गमन करे
और पावमानी विद्या आदि ऋचाओंको नित्यप्रति जपे ऐसे करनेसे शुद्ध हो
जाता है ॥ २५७ ॥ तीन पराकसंज्ञक पहले कहे हुए व्रतोंकरके शुद्ध हुआ पुरुष
मंत्र ब्राह्मणात्मिका वेद संहिताको वनमें तीनवार पढ़े और बाह्य अभ्यंतरकी
शुद्धिमें युक्त रहे ऐसे करनेसे संपूर्णपापोंसे छूट जाता है ॥ २५८ ॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्नपः । मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिज-
पित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट्सर्वपापापनो-
दनः । तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

अर्थ—तीन रात्रीतक उपवास व्रत करता हुआ और प्रातः मध्यान्ह सायं-
काल इन तीनोंवक्त स्नान करता हुआ और नियममें रहता हुआ स्नानके
समय जलमें गोता मारता हुआ ऋतंचसत्यं० इस ऋचाको वा अघमर्षण ऋचा-
को जपता हुआ पुरुष संपूर्ण पापोंसे छूट जाता है ॥ २५९ ॥ जैसे अश्वमेध
यज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है और संपूर्ण पापोंको दूर करनेवाला है तैसेही अघमर्षण
सूक्तभी संपूर्ण पापोंको नाश करनेका हेतु है ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः । ऋग्वेदं धारयन्विप्रो
नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥ २६१ ॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा

समाहितः । साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

अर्थ—भूलोक आदि त्रिलोकीको हनन करके वा महापातकी आदिकोंके अन्नको भक्षण करके ऋग्वेदको धारण करता हुआ विप्र किंचित्मात्रभी पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ २६१ ॥ ऋग्वेदकी मंत्रब्राह्मणात्मिकाको वा यजुर्वेदकी मंत्रब्राह्मणोंकी संहिताको अथवा सामवेदकी ब्राह्मण उपनिषत् संहिताको तीनवार अभ्याससे पढ़के द्विज संपूर्ण पापोंसे छूट जाता है ॥ २६२ ॥

यथा महाहृदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति । तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥ ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च । एष ज्ञेयस्त्रिवृद्धेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥ २६४ ॥

अर्थ—जैसे महाहृद उत्तम जलाशयमें फेंका हुआ मिट्टीका डला पघल जाता है तैसेही त्रिवृति वेद अर्थात् ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंके धारण करनेमें संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २६३ ॥ ऋग्वेदके मंत्र यजुर्वेदके मंत्र बृहद्रथंतर आदि अनेक प्रकारके सामवेदके मंत्र और अन्यभी इन तीनोंके पृथक् पृथक् ब्राह्मण मंत्र यह त्रिवृत् वेद कहाता है इसको जो जानता है वही वेदवित् है ॥ २६४ ॥

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता । स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

अर्थ—संपूर्ण वेदोंका जो आद्य है अकार उकार मकार इन अक्षरोंसे त्र्यक्षर है जिसमें तीनोंवेद प्रतिष्ठित हैं वह अन्य त्रिवृत् वेद ओंकाररूप गुह्य है उसको जो जानता है वही वेदवित् है ओम् इसके विना सबमंत्र निष्फल हैं इसवास्ते यह मुख्य वेद है ॥ २६५ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे शृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः ११

इति वेरीनिवासिवुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ । कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥ स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो शृगुः । अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे पापरहित आपनें ब्राह्मणआदि चारोंवर्णोंका यह संपूर्ण धर्म कहा अब शुभाशुभरूपक कर्मोंके फलकी निवृत्तिको अर्थात् जन्मांतरमें प्राप्त होने-वालीको परमार्थरूपको हमारे आगे कहो ऐसे महर्षिजन भृगुजीसे पूछते भये ॥ १ ॥ वह प्रधान धर्मात्मा मनुजीका पुत्र भृगु तिन ऋषियोंके प्रति बोलाकि इस संपूर्ण कर्म संबंधके फल निश्चयको तुम सुनो ॥ २ ॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् । कर्मजा गतयो नृणा-
मुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥ तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य
देहिनः । दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन वाणी देह इनसे उत्पन्न हुआ शुभ तथा अशुभ कर्म है और उसक-र्मसेही उत्पन्न होनेवाली उत्तम मनुष्य आदिक वा मध्यम तथा अधम पशुआ-दिक ये सब मनुष्याकी गति है अर्थात् जन्मांतरमें प्राप्त होनेवाली है ॥ ३ ॥ तिस देहधारीके संबंधवाले कर्मकी उत्तम मध्यम अधम ये तीन गतिभी है और आगे कहे हुए दशलक्षणभी है परंतु ऐसे इस कर्मका प्रवर्तक मनकोही जानो ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च
त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि
सर्वशः । असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ—पराये धनको अन्यायसे ग्रहण करूंगा ऐसा चिंतवन वा ब्रह्मवध आ-दि निषिद्ध इच्छा परलोक नहीं है देहही आत्मा है ऐसे वितथका अभिनिवेश यह तीन प्रकारका मानस कर्म कहाता है ॥ ५ ॥ कठोर वचन कहना वा झूठ बोलना पीछेसे अन्य किसीके दोष कहनें और राजाका देशकी वा पुरकी निष्प्रयोजन बेमतलबकी बातोंका कहना ऐसे यह चार प्रकारका वाचिककर्म है ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः । परदारोपसेवा च शा-
रीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभा-
शुभम् । वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अन्यायकरके पराये द्रव्यका हरना अशास्त्रीय हिंसा परायी स्त्रीके संग मैथुन करना यह तीन प्रकारका अशुभ फल शारीरिक कर्म कहाता है ॥ ७ ॥ मनकरके जो शुभाशुभ अर्थात् सुकृत वा दुष्कृत जैसा कर्म करता है वह इस ज-

न्ममें वा अन्य जन्ममें मनकरकेही भोगा जाता है और वाणीकरके जो शुभाशुभ किया जाता है वह वाणीसे भोगा जाता है शरीरसे किया हुआ कर्म शरीरसेही भोगा जाता है ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां
मानसैरन्यजातिताम् ॥ ९ ॥ वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायद-
ण्डस्तथैव च । यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ—विशेष करिकै शरीरसे कियेहुए कर्म दोषोंकरके मनुष्य जन्मांतरमें स्था-
वरता वृक्ष आदि होता है और विशेष करिके वाणीके दोषोंकरके पक्षी मृग
आदि जातिको प्राप्त होता है और मानस अर्थात् मनके कियेहुए दोषोंकरके
चांडाल आदि जातिको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ वाणीरूप दंड है और मनका
दंड है कायाका दंड है ये तीनों दंड जिसकी बुद्धिमें स्थित है अर्थात् निषिद्ध
बोलना बुरा चिंतवन करना निषिद्ध आचरण इनको त्याग देवे वह त्रिदंडी
कहाता है ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततः
सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥ योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं
प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

अर्थ—मनुष्य इस प्रकारसे सब प्राणियोंमें इस त्रिदंडको निक्षिप्तकरके अर्थात्
वाणी मन काया इनसे निषिद्ध आचरणको त्यागके काम क्रोधको वशमें करके
फिर सिद्धिको मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ जो इस लोकमें सिद्ध होनेसे
सब कर्मोंमें शरीरात्माको प्रवर्त्त करता है अपनेको पृथक् जानता है तिसको पं-
डितजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं और जो शरीर इन सब व्यापारोंको करता है वह पंडि-
तोंकरके भूतात्मा कहा है ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं
सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥ तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ
एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो अंतरात्मा है और सब देहधारियोंका सहज अर्थात् साथ उत्पन्न
होनेवाला कहाता है और जिस्से जन्मोंमें संपूर्ण सुखदुःखोंको प्राप्त होता है वह
जीवसंज्ञक कहाता है अर्थात् महान् कहाता है ॥ १३ ॥ वे दोनों महान् और

क्षेत्रज्ञ आत्मा पृथिवी आदि पंचभूतोंके संपर्कसे मिलेहुए रहते हैं और उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट संपूर्ण प्राणियोंमें तिस वक्ष्यमाण परमात्माके आश्रय होके स्थितहो रहे है ॥ १४ ॥

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः । उच्चावचानि भूतानि
सततं चेष्टयन्ति याः ॥१५॥ पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृ-
तिनां नृणाम् । शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस परात्माकी मूर्ति शरीरोंके भेदसे अनंत कही है और जो ऊंचे तथा नीचे भूतोंमें निरंतर चेष्टा करती है वेदांतके उक्त प्रकारकरके अग्निके किणकोंकी तरह निकसती है चेष्टा करती है ऐसी असंख्यात है ॥ १५ ॥ पृथ्वी आदि पंचभूतोंसे परलोकमें दुष्कृत करनेवाले मनुष्योंका शरीर जरायुज आदि योनिमें दुःखको भोगनेका होता है ॥ १६ ॥

तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भूतमात्रासु
प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥ सोऽनुभूयासुखोदकान्दोषान्वि-
षयसंगजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

अर्थ—तिस शरीरसे निकसनेवाला जो जीव आत्मा है उसको जो इस शरीरकरके यमकी पीडा प्राप्त होती है फिर स्थूल शरीरके नाश हो जानेमें वे पंचभूतोंकी तन्मात्रा उनही अपनी मात्राओंको विभागमें लीन हो जाती है ॥ १७ ॥ भूत सूक्ष्म लिंग आदि शरीरोंसे अवच्छिन्न हुआ जीवात्मा विषयके संगसे उत्पन्न हुए दुःखोंको प्राप्त होता है फिर भोगहोजानेसे हत पापोंवाला होके महान्, परमात्मा, इन दोनोंके महातेजवालोंको आश्रय रहता है ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह । याभ्यां प्राप्नोति सं-
पृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥१९॥ यद्याचरति धर्मं स प्रायशो-
ऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावृता भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्रुते ॥ २० ॥

अर्थ—आलस्यरहित वे महत् परमात्मा तिस जीवके धर्मको और बाकी रहे पापको साथही विचारते हैं क्योंकि जिन सुखदुःखोंसे मिला हुआ जीवात्मा इस लोकमें और परलोकमें सुखदुःखोंको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ वह जीव जो यदि मनुष्य दशामें बहुतसा धर्म करता है और थोडासा पाप करता है तो तिनही पृथ्वी आदि भूतोंसे स्थूल शरीरको प्राप्त हो स्वर्ग लोकमें सुखको भोगता है ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः । तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥ यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो यदि विशेषकरिके पापोंको करता है और धर्म थोड़ा करता है तो तिनही पृथ्वी आदि भूतोंसे स्थूल शरीर धारण कर पूर्व शरीरको त्याग जन्मांतरमें दुःखोंको भोगता है ॥ २१ ॥ वह जीव यमसे कीहुई तिन पीडाओंको तिस कठिन देहसे भोगके फिर पापरहित होके तिनही पंच भूतोंके विभागको प्राप्त होता है अर्थात् मनुष्य आदि शरीरको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥ सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् । यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

अर्थ—अपने चित्तकरके धर्मसे और अधर्मसे जीवकी इन गतियोंको देखके सदा अपना मन धर्ममेंही स्थित रखे ॥ २३ ॥ सत्त्व रज तम इन तीनोंको आत्माके गुण जानै इन गुणोंकरके यह जीवात्मा स्थावरजंगम आदिरूपोंको व्याप्त होके स्थित हो रहा है ॥ २४ ॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥ सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् । एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

अर्थ—यद्यपि ये तीनों गुण रहते हैं परंतु जब जो गुण संपूर्ण प्रभावसे अधिक होता है तब वही गुण अपने अनुसार देहधारीको कर लेता है ॥ २५ ॥ यथार्थ प्रयोजनका ज्ञान होना यह सत्त्वगुणका लक्षण है तिससे विपरीत अज्ञान तमोगुणका लक्षण है प्रीति वैर ये रजोगुणके लक्षण हैं इन सत्त्वगुणआदिकोंका यह ज्ञानआदि लक्षण सब प्राणियोंके आश्रय होके ठहरता है ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् । प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥ यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः । तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

अर्थ—तिस आत्मामें जो किंचित् प्रीतियुक्त देखता है और जो कुछ क्लेश है

उसको नहीं देखता प्रशान्त शुद्धकांतिवाला देखता है वह सत्त्वगुण जानना ॥२७॥
जो दुःखसे संयुक्त है और आत्माको प्रीतिकारक नहीं जानता है वह रजोगुण है
शरीरधारियोंको विषयकी इच्छा करानेवाला कहा है ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं त-
मस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलो-
दयः । अग्नौ मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

अर्थ-जो सत् असत् विवेकसे हीन है अस्फुट है तथा विषयकारक स्वभाववा-
ला है तर्कना करनेके योग्य नहीं है कछु जाननेके योग्य नहीं है वह तमोगुण
कहाता है ॥ २९ ॥ इन सत्त्वगुणआदि तीनों गुणोंका जो उत्तम मध्यम अधम
फलको उत्पन्न करनेवाला है तिसको विशेष करिके कहेंगे ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता
च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥ आरम्भरुचिता धैर्यमसत्का-
र्यपरिग्रहः । विषयोपसेवा चाजसं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अर्थ-वेदका अभ्यास करना प्राजापयआदि तपका अनुष्ठान करना शास्त्रका
ज्ञान शौच शुद्धि इंद्रियोंका निग्रह करना दानआदिसे धर्मका अनुष्ठान करना
आत्मज्ञानको चितवन करना यह सत्त्वगुणका लक्षण है ॥३१॥ फलकेवास्ते कर्म-
का अनुष्ठान करना थोड़ेसेभी प्रयोजनमेंभी विकलता निषिद्ध कर्मका आचर-
ण विषयोंके भोगकी इच्छा यह राजस अर्थात् रजोगुणका लक्षण कहाता है ३२

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता
प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां
त्रिषु तिष्ठताम् । इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

अर्थ-लोभ करना नींदकी अधिकता धीरज नहीं रखना क्रूरपना नास्तिक
बुद्धि रखना आचारका लोप मांगनेकी इच्छा प्रमाद होना ये तमोगुणके ल-
क्षण हैं ॥ ३३ ॥ भूत भविष्यत् वर्तमान इन तीनों कालोंमें रहनेवाले इन
सत्त्वआदि तीनोंगुणोंका यह लक्षण क्रमकरके संक्षेपमात्रसे कह दिया है ॥३४॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति । तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं ता-
मसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥ येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति

पुष्कलाम् । न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जिस कर्मको करके अथवा करता हुआ वा आगेकरनेवाले कर्मको करता हुआ जो लज्जावान् होता है वह विद्वानोंमें तामस लक्षण जानना चाहिये ॥ ३५ ॥ जिस कर्मकरके इस लोकमें बहुतसी लक्ष्मीको प्राप्त होता है वा विख्यातिको प्राप्त होता है और परलोककेवास्ते तिस कर्मकी संपत्तिको नहीं शोचता है यह रजोगुणका लक्षण है ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् । येन तुष्यति चात्मा-
स्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ तमसो लक्षणं कामो रजसस्वर्थ
उच्यते । सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस कर्मको वेदके अर्थ जाननेकेवास्ते करता है और कर्मको करता हुआ लज्जा नहीं मानता है और जिस कर्मसे इसका आत्मा प्रसन्न होता है यह सत्त्वगुणका लक्षण है ॥ ३७ ॥ कामकी प्रधानता यह तमोगुणका लक्षण है द्रव्यकी प्रधानता रखनी यह रजोगुणका लक्षण है धर्मकी प्रधानता यह सत्त्वगुण का लक्षण है इनमें उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेष्ठता है जैसे कामसे द्रव्य द्रव्यसे धर्म ३८

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्ष्यामि
सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥ देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं
च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

अर्थ—इन सत्त्वआदिगुणोंके मध्यमें जिस गुणकरके जौनसी गतिको यह जीव प्राप्त होता है तिन सबोंको इस सबजगत्के क्रमसे कहेंगे ॥ ३९ ॥ जो सत्त्वगुणसे युक्त है वे देवयोनिको प्राप्त होते हैं और रजोगुणी पुरुष मनुष्य योनिको प्राप्त होते हैं तमोगुणी पुरुष पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनीमें प्राप्त होते हैं ऐसे यह तीन प्रकारकी गति है ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥ अधमा मध्यमा-
ग्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥ स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः
सर्पाः सकच्छपाः ॥ पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

अर्थ—यह गुणोंकी गति इस प्रकारसे तीन तीन प्रकारकी जाननी चाहिये और अधम मध्यम उत्तम ऐसे तीन प्रकारके संसारमें कर्मभेद इन गुणोंकेही है ॥ ४१ ॥ वृक्षआदि स्थावर कृमि कीट अर्थात् बड़े कीड़े मच्छ सर्प कछुवे

पशु मृग इन योनियोंमें प्राप्त होना यह अत्यंत तामसी गति है ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः । सिंहा व्याघ्रावरा-
हाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषा-
श्चैव दाम्भिकाः । रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—हस्ती अथ शूद्र म्लेच्छ सिंह व्याघ्र सुवर इनकी योनियोंमें प्राप्त होना यह मध्यमा तामसी गति कहाती है ॥ ४३ ॥ आचारण, नटआदिक सुवर्णपक्षि-विशेष छल करनेवाले पुरुष राक्षस पिशाच इन योनियोंकी प्राप्ति होनी यह तमोगुणकी उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः । द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघ-
न्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव
पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—झल्ल मल्ल ये व्रात्यसंज्ञक क्षत्रियसे सवर्णास्त्रीमें उत्पन्न होते हैं और नट शस्त्रकी आजीविका करनेवाले पुरुष जुवारी मदिरा पीनेवाले इनमें अत्यंत राजसी अर्थात् रजोगुणकी गति है ॥ ४५ ॥ राजा क्षत्रिय राजावोंके पुरोहित और वाद तथा युद्धमें प्रधान मनुष्य इनमें रजोगुणकी मध्यमा गति है ॥ ४६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये । तथैवाप्सरसः सर्वा
राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ तापसा यतयो विप्रा ये च वैमा-
निका गणाः । नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

अर्थ—गंधर्व गुह्यक यज्ञ देवताओंके अनुचर विद्याधरअदि अप्सरा अर्थात् दे-वताओंकी गणिका ये सब रजोगुणमें उत्तमा गति कही है ॥ ४७ ॥ वानप्रस्थ तथा भिक्षु ब्राह्मण और पुष्पकआदि विमानोंमें विचरनेवाले जन नक्षत्र दैत्य ये योनि सत्वगुणनिमित्त होनेवाली अधम गति कहाती है ॥ ४८ ॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतीर्षिवत्सराः । पितरश्चैव साध्या-
श्च द्वितीया सात्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो
महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ५०

अर्थ—यज्ञ करनेवाले यज्वा ऋषि देवता वेदाभिमानिदेवताध्रुवआदि, शरीरधा-री वत्सर जो कि इतिहासआदिकोंमें प्रसिद्ध है पितर साध्य संज्ञक देवते ये सब

सत्त्वगुणकी मध्यमा गति कहाते है ॥ ४९ ॥ चतुर्मुखी ब्रह्मा मरीचिआदि ऋषि महान् शरीरवाला धर्म और सांख्य प्रसिद्ध अव्यक्त जो तत्त्व है तिसका अधिष्ठातृदेवता ये सब पंडित जनोंने सत्त्वगुणकी उत्तमा गति कही है ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः । त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः
संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन
च । पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मन वचन शरीर इनकरके तीन भेदोंवाले कर्मका यह संपूर्ण तीनतीन प्रकारवाला संपूर्ण प्राणियोंकी गतिका भेद कह दिया है ॥ ५१ ॥ अधम पापी मनुष्य इंद्रियोंके विषयमें संग करनसे धर्मके नहीं सेवेनसे प्रायश्चित्तआदि धर्मोंके अनुष्ठान नहीं करनेसे निंदित अधम गतिको प्राप्त होते है ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा । क्रमशो याति
लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥ बहून्वर्षगणान्घोरान्नरका-
न्प्राप्य तत्क्षयात् । संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्रिमान् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह जीव जिसजिस पापरूप कर्मके जिस जिस जन्मको प्राप्त होता है तिस सबको क्रमसे सुनों ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्याआदि पापकरनेवाले पुरुष बहुतसे हजारों वर्षोंतक नरकमें प्राप्त होके फिर इन आगे कहे हुए जन्मोंको प्राप्त होते है ॥ ५४ ॥

श्वस्रकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च
ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥ कृमिकीटपतङ्गानां विडुजां चैव
पक्षिणाम् । हिंस्रानां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—ब्राह्मणको मारनेवाला पुरुष, कुत्ता सुवर गधा ऊंट गौ बकरी मृग पक्षी चंडाल पुक्कसजाति इन योनियोंमें प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ मदिराको पीनेवाला पुरुष कृमि कीट अर्थात् बड़े कीड़े, पतंग सुवर पक्षी हिंसा करनेवाले जीव पिशाच इन योनियोंको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरथानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् । हिंसाणां च पिशा-
चानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥ तृणगुल्मलतानां च ऋव्या-
दां दंष्ट्रिणामपि । क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

अर्थ—मकड़ी सर्प गिरगिट तिरछे चलनेवाले सर्पादिक जलचर जीवहिंसा करनेवाले पिशाच आदि इन योनियोंमें सुवर्णकी चोरी करनेवाला हजारवार प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ दूवआदि तृणगुच्छेआदि, गिलोयआदि लता, कच्चे मांसको भक्षण करनेवाले सिंहआदि क्रूर कर्मवाले व्याघ्रआदि इन योनियोंमें गुरुकी स्त्रीकी शय्यापर प्राप्त होनेवाले पुरुष सौवार प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

हिंसा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ॥ परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥ संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् । अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

अर्थ—जो प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले हैं वे मरके जन्मान्तरमें विलार आदि क्रव्याद बनते हैं और जो अभक्ष्य भक्षी हैं वे दूसरे जन्ममें कृमियोंकी योनिमें प्राप्त होते हैं जो चौर हैं वे आपसके मांसको भक्षण करनेवाले होते हैं और अंस जातिकी स्त्रीसे मैथुन करनेवाले प्रेत होते हैं ॥ ५९ ॥ पतित पुरुषोंके साथ संयोगकरके और पराई स्त्रीके संग मैथुनकरके तथा ब्राह्मणके धनको हरके ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥ धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः । मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—माणिक्य आदि मणि मोती मृंगा इनको लोभकरके हरनेवाला अनेक प्रकारके रत्नोंको हरनेवाला पुरुष हेमकार अर्थात् सुनार बनता है अथवा हेमकार पक्षी होता है ॥ ६१ ॥ अनाजकी चोरी करनेवाला मूसा होता है कांसाको चुरानेवाला हंस जलको चुरानेवाला मेडक शहदको हरनेवाला डांस दूधको हरनेवाला काग रसको हरनेवाला कुत्ता घृतको हरनेवाला नौला ऐसे ये सबयोनि प्राप्त होती है ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रो वर्षां महुस्तैलं तैलपकः खगः । चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥ कौशेयं तित्तिरिहृत्वा क्षौमं हत्वा तु दुर्दरः । कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—मांसको हरनेवाला गिद्ध होता है चरबीको हरनेवाला महुनामक जलचर जीव होता है तेलको हरनेवाला तेलपायिक पक्षी होता है निमकको हर-

नेवाला भंभीरी कीट होता है दहीको हरनेवाला बुगला होता है ॥ ६३ ॥ फा-
टके वस्त्रको हरके तित्तर होता है रेसमी वस्त्रको हरनेवाला मींडक होता है क-
पासको हरनेवाला कौंच पक्षी होता है गौको हरनेवाला गोह होता है गुडको
चोरनेवाला वाग्गुदपक्षी होता है ॥ ६४ ॥

छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान्पत्रशाकं तु वर्हिणः । श्वावित्कृतान्नं
विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥ बको भवति हृत्वाग्निं गृह-
कारी ह्युपस्करम् । रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥६६॥

अर्थ—कस्तूरीआदि सुगंधी द्रव्योंको हरनेवाला छलंदर होता है वधुवा
आदिपत्रशाकको हरनेवाला मोर होता है अनेक प्रकारके पके हुए अन्नको हरनेवा-
ला श्वाविध पक्षी होता है चावल, जवआदि कच्चे अन्नको हरनेवाला श्याहीहोता
है ॥ ६५ ॥ अग्निको चुराके बुगला पक्षी होता है और घरकी चीज ऊपल मूसल
वरतन इत्यादिकोंको हरनेवालाभीतआदिकोंमें रहनेवाला पंखोंवाला गृहकारी
कीट होता है कसुंभे वस्त्रोंको हरके चकोर पक्षी होता है ॥ ६६ ॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः । स्त्रीमृक्षः स्तोकको
वारी यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य ब-
लान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥

अर्थ—हस्तीको चुरानेवाला भेडियावनता है और घोडाको हरने वाला
चीता वनता है फल मूलको चुराके वानर स्त्रीको चुराके रीछ पीनेकेवास्ते जल-
को हरके पपीहापक्षी सवारीको चुराके ऊंट पशुओंको चुराके बकरा होता है
॥ ६७ ॥ जो मनुष्य यत्किंचित् असार द्रव्यकोभी बलसे हरता है वह मरके अ-
वश्य पशुयोनिमें प्राप्त होता है तथा पुरोडाशआदि विना होमे हुए हविको भक्ष-
ण करकेभी पशु होता है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां
भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥६९॥ स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता
वर्णा ह्यनापदि । पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ७०

अर्थ—स्त्रियांभी इसी प्रकारसे इच्छा करके पराये द्रव्यको हरके दोषको प्राप्त
होती है और इन ही कहे हुए जीवोंकी स्त्री बनती है ॥ ६९ ॥ ब्राह्मणआदि
चारोंवर्ण आपत्कालके विना अपने कर्म पंचयज्ञादिकोंसे जो भ्रष्ट हो जाते है

वे मरके दूसरे जन्ममें आगे कही हुई निन्दित योनियोंमें प्राप्त होके शत्रुवोंके दास टहैलवे होते हैं ॥ ७० ॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्युतः । अमेध्यकुणपा
शीच क्षत्रियः कटपूतनः ॥७१॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भ-
वति पूयभुक् । चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्युतः ॥७२॥

अर्थ—अपने कर्मसे भ्रष्ट होनेवाला ब्राह्मण वमनको भोजन करनेवाला ज्वा-
लामुख प्रेत होता है और अपने धर्मसे भ्रष्ट हुआ क्षत्रिय विष्ठा मुरदा आदिकों-
को भोजन करनेवाला कटपूतन संज्ञक प्रेत होता है ॥ ७१ ॥ अपने कर्मसे भ्रष्ट
हुआ वैश्य जन्मान्तरमें पीबको भक्षण करनेवाला और मैत्राक्षज्योतिक अर्थात्
जिसकी गुदामें नेत्र हों ऐसा प्रेत होता है और अपने कर्मसे विगडनेवाला शूद्र
चैलाशक अर्थात् वस्त्रोंकी जूमोंको भक्षण करनेवाला प्रेत होता है ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलता
तेषां तेषूपजायते ॥७३॥ तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबु-
द्धयः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

अर्थ—जैसे जैसे विषयी पुरुष विषयोंको सेवते हैं तैसे तैसे ही तिन विषयी
पुरुषोंके उन विषयोंमें अधिक प्रीति हो जाती है ॥ ७३ ॥ वे अल्पबुद्धिवाले
विषयी तिन पापरूप कर्मोंके अधिक अभ्यास हो जानेंसे जैसे जैसे अधिक पाप
हो जाते हैं तैसी तैसी निन्दित अत्यन्त निन्दित योनियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् । असिपत्रवनादीनि
बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥ विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च
भक्षणम् । करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—और वे विषयी पुरुष तामिस्रआदि घोरनरकोंमें प्राप्त होते हैं तथा
असिपत्र वनआदिकोंमें बन्धन तथा छेदन करनेवाले नरकोंमें प्राप्त होते हैं ॥७५॥
अनेकप्रकारकी पीडाको प्राप्त होते हैं तथा कागडेउलूकआदिकोंसे भक्षण किये जाते
हैं और करम्भ वालुका ताप कुम्भीपाक इत्यादि दारुण नरकोंमें प्राप्त होते हैं ॥७६॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिघातांश्च
विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ असकृद्भवासेषु वासं जन्म च

दारुणम् । बन्धाननि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अर्थ—नित्य दुःख प्राप्तिवाली तिर्यक् पशुआदि योनियोंमें जन्मको प्राप्त होते हैं और शीत घाँम चोटआदि अभिघात ऐसे अनेकप्रकारके भयोंको प्राप्त होते हैं ॥ ७७ ॥ वारंवार गर्भस्थानमें वास होवे और दारुण दुःखसहित जन्म होवे और बेड़ीआदिकोंसे बंधन होवे तथा परपुरुषका दास टहैलवा होवे ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः । द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥ जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभि-
श्रोपपीडनम् । क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

अर्थ—प्रियबंधु जनोके साथ वियोग होवे और दुर्जनोंके साथ मेल होने धनके इकट्ठे करनेमें परिश्रम होवे और फिर धनका नाश हो जावे और मित्रतो कष्टसे होवे शत्रु अचानक उत्पन्न हो जावे ॥ ७९ ॥ जरा अर्थात् जिसका कुछ इलाज न हो सके ऐसी बुढ़ापाकी पीडा व्याधियोंकी पीडा जिसका इलाज न हो सके ऐसी दुर्जयमृत्यु इनको प्राप्त होते हैं ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते । तादृशेन शरीरेण तत्त-
त्फलमुपाश्रुते ॥ ८१ ॥ एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोद-
यः । नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

अर्थ—जैसे स्वभाव करके सत्वगुणस्वभावसे बार जो गुणी स्वभावसे तथा त-
मोगुणी स्वभावसे जिस जिस कर्मका सेवन करता है तैसेही शरीरसे तिसी तिसी
स्नानआदि फलोंको भोगता है ॥ ८१ ॥ निषिद्ध कर्मोंको करनेवालोंका यह
संपूर्ण फलोदय अर्थात् प्राप्त होनेवाला फल तुम्हारेवास्ते कह दिया है अब ब्रा-
ह्मणोंके हित कर्मके अनुष्ठानको सुनों ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा च
निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह
कर्मणाम् । किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

अर्थ—वेदका अभ्यास कृच्छ्रआदि तप शास्त्रका ज्ञान इंद्रियोंका रोकना हिंसा
नहीं करनी गुरुकी सेवा करनी ये सब परम कल्याणके साधक हैं ॥ ८३ ॥
वेदाभ्यासआदि इन सब शुभकर्मोंके बीज किंचित्मात्र कर्म अत्यंत करके पुरुष-
के मोक्षका साधक कहा है ॥ ८४ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्व्ययं सर्वविद्यानां
प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥ षण्णामेषा तु सर्वेषां कर्मणा प्रेत्य चेह
च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—वेदाभ्यासआदि इन सब कर्मोंमें उपनिषदोंमें कहा हुआ आत्मज्ञान
परम श्रेष्ठ है क्योंकि वह ज्ञान सब विद्याओंमें प्रधान है कि जिससे मोक्ष प्राप्त
होती है ॥ ८५ ॥ वेदाभ्यासआदि इन पूर्वोक्त छह कर्मोंके मध्यमें इस लोकमें
तथा परलोकमें सदा कल्याणकरनेवाला वैदिककर्म अर्थात् आत्मज्ञान कहा है ८६

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः । अन्तर्भवन्ति क्रमशस्त-
स्मिस्तस्मिन् क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेय-
सिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—परमात्माकी उपासनारूप वैदिक कर्ममें संपूर्ण कर्म क्रम करके तिसी
आत्मामें संभव होते हैं अर्थात् ये सब वेदोक्तकर्म तिसी आत्माका विचार करते
हैं ॥ ८७ ॥ स्वर्गआदिके सुखोंकी प्राप्ति करनेवाला तथा मोक्षको प्राप्त करनेवा-
ला ऐसा प्रवृत्तिकारक और निवृत्तिकारक दो प्रकारका अग्निष्टोमयज्ञआदि वैदि-
ककर्म कहा है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु
निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति सा-
म्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

अर्थ—इस संसारमें वर्षाआदिकी इच्छासे वा स्वर्गआदिकी प्राप्तिकेवास्ते जो
वैदिककर्मकिया जाता है वह संसार प्रवृत्त कर्म कहाता है और जो ज्ञानपूर्वक
निष्काम कर्म किया जाता है वह निष्काम कर्म कहाता है ॥ ८९ ॥ प्रवृत्त वैदि-
क कर्मको अभ्याससे सेवन करे तो देवताओंके समान हो जाता है और निवृत्त
कर्मको अभ्याससे सेवन करता हुआ पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मया-
जी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहा-
य द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ९२

अर्थ—जो पुरुष अग्निष्टोमआदि यज्ञ करता हुआ, स्थावर जंगमआदि सब भू-

तोंमें आत्मारूपसे मैंही स्थित हूं तथा आत्मारूपसे सब मेरे मैंही स्थितहैं ऐसे समान देखता हुआ आत्मयाजी पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥ अग्निहोत्र आदि यथोक्त शास्त्रकर्मको त्यागकेभी द्विजोत्तम ब्रह्मध्यान इंद्रियनिरोध ओंकार आदि उपनिषदोंका ध्यान इनके अभ्यासमें यतन करे ॥ ९२ ॥

एतद्वि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुःसनातनम् । अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

अर्थ—यह आत्मज्ञानआदि धर्म जन्मको सफल करनेवाला कहा है और ब्राह्मणको विशेष करिकै श्रेष्ठ कहा है द्विज इस आत्मज्ञानको प्राप्त होके कृतकृत्य है अन्यथा नहीं ९३ ॥ पितर देवता मनुष्य इनके हव्यकव्यके दानमें वेदही सनातन चक्षु है और अशक्य अर्थात् कर्त्ता ईश्वरके विना अन्य नहीं और इसका प्रमाण नहीं हो सक्ता ऐसी स्थिति है ॥ ९४ ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥ उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् । तान्यर्वाकालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

अर्थ—जो स्मृति वेदसे बाह्य है अर्थात् वेदके मतसे विरुद्ध है और तर्कमूलवाली है वे सब मन्वादिकोंने निष्फल कही हैं क्योंकि वे परलोकमें नरकके फलवाली कही हैं ॥ ९५ ॥ जो वेदमूलसे विरुद्ध कोई शास्त्र पुरुषार्थसे उत्पन्न होते हैं वे सब शीघ्रही नष्ट होजाते हैं क्योंकि वे अवके नवीन होनेसे निष्फल हैं और असत्य रूप हैं ॥ ९६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च पञ्चमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोऽस्यमुख मासीत्०इत्यादिक वेदसेही चारोंवर्ण और तीनोंवेद और अलग अलग चारों आश्रम ये सब वेदसेही सिद्ध होते हैं अर्थात् मालूम होते हैं और व्यतीत हुआ वर्त्तमान भविष्य यह हालभी वेदसीही मालूम होता है ॥ ९७ ॥ इस लोकमें वा परलोकमें जो शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये विषय उत्प-

न होते हैं सो सब गुण कर्मके योग होनेसे वेदसेही सिद्ध होते हैं क्योंकि सत्त्व आदि गुण कर्म इनकी उत्पत्ति वेदही है ॥ ९८ ॥

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये
यजन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्व-
मेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥

अर्थ—वेदशास्त्र सदा संपूर्ण भूतोंको धारण करता है इसवास्ते इस वेदशास्त्रको परम श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि इससे सब प्राणियोंका प्रयोजन सिद्ध होता है ॥९९॥ सेनाका अधिपति राज्य दंडको देनेवाला संपूर्ण लोकोंका अधिपति मालिक इन उक्त प्रयोजनोंके वास्ते वेदशास्त्रको जाननेवालाही योग्य है ॥ १०० ॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् । तथा दहति वेदज्ञः क-
र्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥ वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वस-
न् । इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

अर्थ—जैसे अत्यंत तेजमें बढाहुआ अग्नि गीलेभी वृक्षोंको जला देता है तैसेही वेदको जाननेवाला द्विज कर्मसे उत्पन्न हुए आत्माके दोषोंको दग्ध कर देता है ॥ १०१ ॥ जो पुरुष तत्त्वसे वेदको और वेदके अर्थको यानें उसके कर्मको जानता है वह जिसकिसी आश्रममें वास करता हुआ इसी लोकमें स्थित हुआ ब्रह्म-रूपताको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः । धारिभ्यो ज्ञानि-
नः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥१०३॥ तपो विद्या च विप्रस्य
निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

अर्थ—थोड़े पढ़ेहुए अज्ञ पुरुषोंसे अधिक श्रेष्ठ ग्रंथोंके पढ़नेवाले हैं और ग्रंथों-वालोंसे तिन ग्रंथोंकी धारणावाले श्रेष्ठ हैं तिनसे श्रेष्ठ अर्थ ज्ञानको जाननेवाले हैं उनमेंभी अत्यंत निश्चय करनेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥ द्विज तपकरके पापको दूर करता है और ब्रह्म विद्याकरके मोक्षको प्राप्त होता है इसवास्ते ब्राह्मणको तप विद्या ये दोनों परम कल्याणको करनेवाले कहे हैं ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं का-
र्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽवि-
रोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

अर्थ—धर्मके तत्वके अवबोधकी इच्छा करनेवाले पुरुषमें प्रत्यक्ष प्रमाण यथार्थ शास्त्र शास्त्र २ वेद मूल अनेक प्रकारका स्मृति आदि शास्त्र ३ ये तीन प्रमाण सुंदर प्रकारसे निश्चय करने चाहिये ॥ १०५ ॥ ऋषियोंसे कहा हुआ आर्षवेद धर्मका उपदेश इनको जो पुरुष वेद मूल और वेदकी अविरोधिनी स्मृतिसे जो न्याय आदि तर्कसे विचारता है वह धर्मको जाननेवाला है अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः । मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥ अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

अर्थ—यह कल्याण मोक्षको साधनेवाला कर्म यथार्थ प्रकारसे संपूर्ण कह दिया है अब इस मनु शास्त्रके रहस्य अर्थात् गूढ़ अभिप्रायको कहते हैं ॥ १०७ ॥ जिनका कुछ नियम नहीं कहा हो ऐसे बहुतसे धर्महों तिनमें कौनसा धर्म करे ऐसा संदेह होजावे तो जिस धर्मको आगे कहे हुए ये शिष्ट ब्राह्मण कहें उसको निस्संदेह होके करै ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः । ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥ दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् । त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—जिन ब्राह्मणोंने ब्रह्मचर्य आदि धर्ममें युक्त होके न्यायमीमांसा धर्मशास्त्र पुराण इत्यादिकोंसे परि वृंहित वेद पढा है वे स्तुतिके प्रत्यक्ष करनेमें हेतु है जो उस श्रुतिको पढके उसके अर्थका उपदेश देते हैं वे शिष्ट ब्राह्मण कहाते हैं ॥ १०९ ॥ प्रयोजनके वास्ते स्थित हुई दशावरा नामवाली वा त्र्यवरा नामवाली परिषत् जिस धर्मका निर्णय कर देवे उस धर्म हरावे नहीं उनको कहते हैं ॥ ११० ॥

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ ऋग्वेदविद्यञ्जुर्विच्च सामवेदविदेव च । त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

अर्थ—तीनों वेद संबंधी तीनों शाखाओंके पढे हुए श्रुति स्मृतिसे अविरुद्ध न्याय शास्त्रके पढे हुए मीमांसात्मक तर्कको जाननेवाला मनु आदि धर्म शास्त्रको

जाननेवाला ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ ये सब गुणोंवाले ब्राह्मण जहां होवें वह दशावरा परिषत् कहाती है ॥ १११ ॥ ऋक् यजुष् साम इन वेदोंको; पढ़नेवाले और तीन ब्राह्मण इन तीनों वेदोंके अर्थको जाननेवाले जहां होवे वहां धर्मके संदेह दूर करनेके वास्ते त्र्यवरा परिषत् कहाती है ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

अर्थ—वेदके अर्थको जाननेवाला एकभी द्विजोत्तम जिस धर्मका निर्णय कर देवे वह परम उत्तम धर्म जानना और मूर्ख जन दश हजारभी जो एक धर्मका निर्णय करै वह उत्तम नहीं ॥ ११३ ॥ गायत्री ब्रह्मचर्य आदि व्रतसे रहित मंत्र वेदाध्ययनसे रहित ब्राह्मणकी जाति मात्रको धारण करनेवाले ऐसे ब्राह्मण हजारोंभी इकट्ठे होवे तो उनको परिषत्त्व नहीं है अर्थात् उनसे किसी धर्मको निर्णय कराना योग्य नहीं ॥ ११४ ॥

यं वदन्ति तमो भूता मूर्खा धर्ममतद्विदः । तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥ ११५ ॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् । अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—तमोगुणी स्वभाववाले बहुतसे मूर्खजन बिना जानें हुए जिस धर्मको किसीको उपदेश देते हैं उस उपदेश ग्रहण करनेवालेका पाप सौ गुना होके उन मूर्ख बहुतसे ब्राह्मणोंके उपदेश देनेवालोंके लग जाता हैं ॥ ११५ ॥ यह परम कल्याणका साधक संपूर्ण धर्म तुम्हारेवास्ते कहा है इससे अलग नहीं होनेवाला ब्राह्मण स्वर्गआदि परम उत्तमगतिको प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया । धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥ सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

अर्थ—वह ऐश्वर्यवान् मनु देवलोकोंके हितकी इच्छा करके इस प्रकारसे इस सब परम गुह्य धर्मको मेरेवास्ते कहता भया यह भृगुजीका वचन ऋषियोंकेप्रति है ॥ ११७ ॥ ब्राह्मण इस प्रकारसे सत्त्वस्तुको और असत्त्वस्तुको देखता हुआ सावधान हुआ ब्रह्मस्वरूप आत्मामें संपूर्ण वस्तुको देखै क्योंकि

आत्मामें संपूर्णको देखता हुआ ब्राह्मण अधर्ममें मन नहीं करता है ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । आत्मा हि जनयत्येषा
कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥ खं संनिवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्पर्शने-
ऽनिलम् । पक्तिदृष्टयोः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२० ॥

अर्थ—इंद्रआदि सब देवते आत्माही है और सब कुछही आत्मामें स्थित है और परमात्माही इन क्षेत्रज्ञआदि शरीरधारियोंके कर्मके संबंधको उत्पन्न करनेवाला है ॥ ११९ ॥ बाह्यके आकाशको उदरआदिके आकाशमें एकत्व ली-
यताकरके धारण करे और प्राणआदि अंतर्गतवायुमें बाह्यकी वायुको धारण करे और अग्नि सूर्यके परम तेजको अपने नेत्रआदि तेजमें धारण करे जलको अपने त्वेहमें धारण करे पृथ्वीको अपने शरीरमें धारण करे ॥ १२० ॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम् । वाच्यग्निं मित्रमु-
त्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांस-
मणोरपि । रुक्माभं स्वप्रधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—और मनमें चंद्रमा दिशाओंको कानोंमें पैरोंमें विष्णुको, बलमें शिवजीको वाणीमें अग्निको गुदा इंद्रियमें मित्र देवताको और लिंग इंद्रियमें प्रजापति ब्रह्माको धारण करे ऐसे इन देवताओंको एकत्वकरके भावना करे ॥ १२१ ॥ जो ब्रह्मासे आदि ले स्तंभपर्यंत सबको शिक्षा देता है अर्थात् जिसकी सत्तापाके सब अपने अपने कार्योंमें प्रवृत्त है और जो सूक्ष्मसेभी अति सूक्ष्म है शुद्ध सुवर्णके समान जिसके रूपकी उपासना कीजाती है और जो स्वप्नकी बुद्धिकी तरह आपही बुद्धिको प्राप्त होता है उसको परम पुरुष परमात्मा जानें ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे
ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्ति
भिः । जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

अर्थ—इस परमात्माको यज्ञकरनेवाले जन अग्निरूपकरके मानते हैं और अ-
ग्निरूपकाही उपदेश देते हैं और अन्य कई ऋषि प्रजाकी रचना करनेवाला हो-
नेसे प्रजापतिरूपसे कहते हैं अन्य कई इंद्ररूपसे कहते हैं और अन्य कई प्राणरूपही परमात्माको मानते हैं क्योंकि प्राणोंसेही यह संसार वर्चता है और अन्य कई प्रपंचरहित आनंदस्वरूप ब्रह्म मानते हैं सर्वगत होनेसे ब्रह्ममें ये सब उपासना

वन सक्ती है ॥ १२३ ॥ यह परमात्मा पृथ्वीआदि पंचभूतोंसे संपूर्ण जीवोंके संयुक्त कराके सबमें व्याप्त है और जन्म वृद्धि नाश इन करके इस संसारकी चक्रकी तरह वर्त्तता है ॥ १२४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः । भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्भूतिम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो पुरुष सब भूतोंमें अपने आत्माकरके आत्माकोही देखे है वह सबमें समताको प्राप्त होके परमपद ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥ भृगुजीसे कहा हुआ इस मनुशास्त्रको पढ़ता हुआ द्विज नित्य विहित अनुष्ठानको उचरन करनेवाला हो जाता है और मनोवांछित स्वर्ग मोक्षआदि गतिको प्राप्त होता है ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहिताया
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तैषा मनुसंहिता ॥

इति द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तैषा मनुसंहिता ॥

रसगुणांकभूम्यब्दे श्रावणेसितपक्षके ।

मनुस्मृतेरियं टीका रविदत्तेन निर्मिता ॥ १ ॥

सुमेहपुरनिवास्यावसथियाज्युपाह्वश्रीपण्डितहरिवंशशर्मणा संशोधिता च ।

समाप्त.